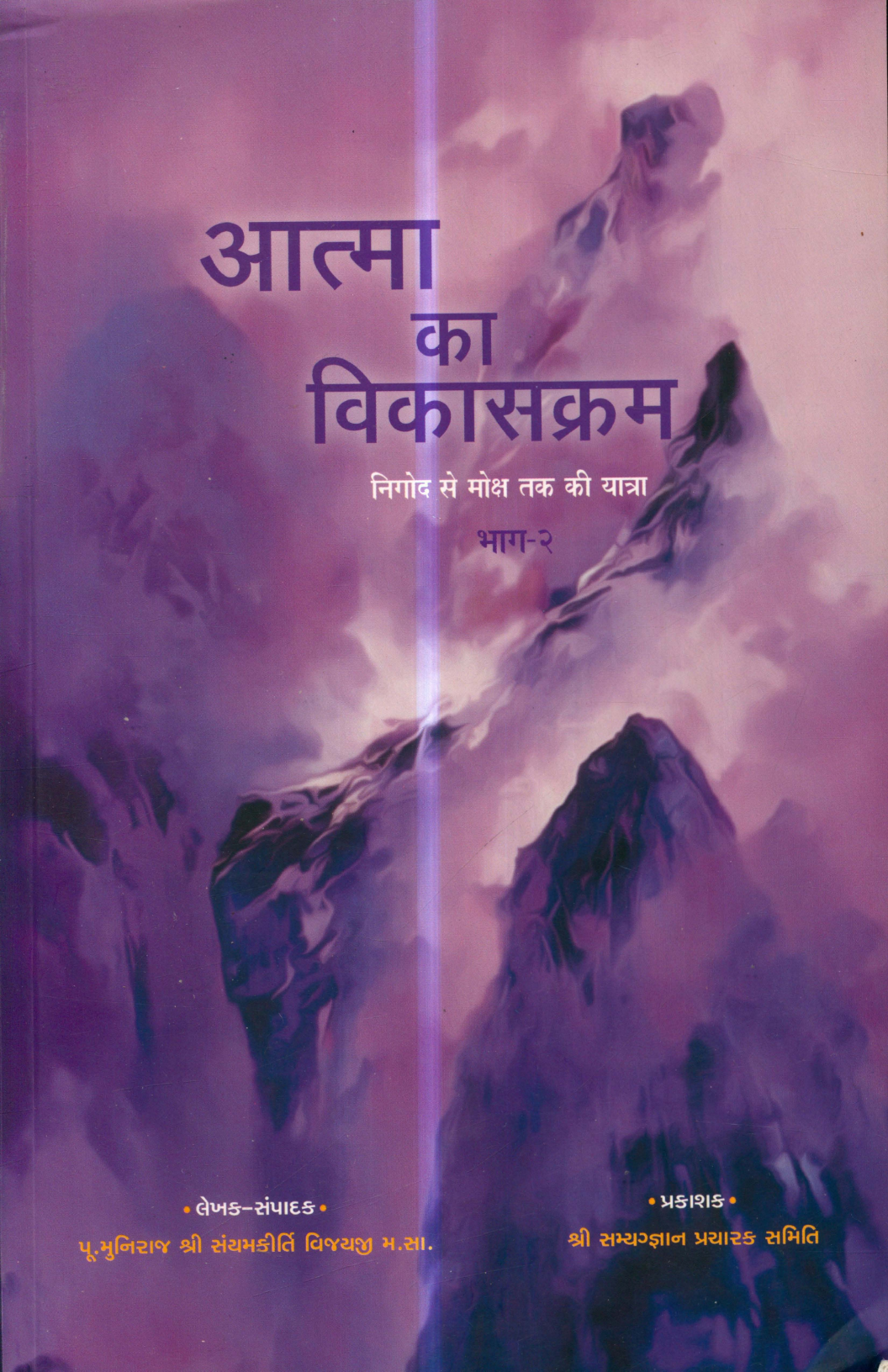




आत्मा का विकासक्रम

निगोद से मोक्ष तक की यात्रा

भाग-२

• लेखक-संपादक •

पू. भुनिराज श्री संयमकीर्ति विजयशु भ.सा.

• प्रकाशक •

श्री सभ्यज्ञान प्रचारक समिति

आत्मा का विकासक्रम

निगोद से मोक्ष तक की यात्रा

भाग-२

(५३)

-: दिव्यकृपा :-

शासन सिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेवेश

श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा

-: शुभ आशीर्वाद :-

सुविशाल गच्छाधिपति पू. आ. भ.

श्री.वि. पुण्यपालसूरीश्वरजी महाराजा

-: लेखक - संपादक :-

शासन सिरताज तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय

रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा के शिष्यरत्न समतानिधि पू. मुनिप्रवर

श्री दर्शनभूषणविजयजी म. सा. के शिष्यरत्न पू. पंन्यासप्रवर

श्री दिव्यकीर्तिविजयजी गणिवर्य के शिष्यरत्न पू. पंन्यासप्रवर

श्री पुण्यकीर्तिविजयजी गणिवर्य के शिष्यरत्न

पू. मुनिराज श्री संयमकीर्तिविजयजी म. सा.

-: प्रकाशक :-

श्रीसम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति

अहमदाबाद

पुस्तक का नाम	: आत्मा का विकासक्रम, भाग-२ (निगोद से मोक्ष तक की यात्रा)
लेखक-संपादक	: पू.मु.श्री संयमकिर्ति विजयजी म.सा.
हिन्दी अनुवाद	: विनीतभाई दुबे
प्रकाशक	: श्रीसम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति
अक्षरांकन	: सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद
आवृत्ति	: प्रथम,
पृष्ठ	: १२ + ३२८ = ३४०
प्रकाशन	: वि.सं. २०७४, मूल्य : सदुपयोग

: प्राप्तिस्थान :-

- श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति
बीजल गांधी
४०१, ओप्सन्ज, नेस्ट होटल के पास,
सरदार पटेल नगर रोड, नवरंगपूरा,
अमदाबाद-९
- नृपेनभाई आर.शाह
४, सरगम फ्लेट, वी.आर.शाह स्कुल
के पास, विकासगृह रोड, पालडी,
अमदाबाद-७.
- श्रीविजय रामचन्द्रसूरि आराधना भवन
चंदावरकर लेन, बोरीवल्ली (वेस्ट)
मुंबई - ४०००९२ (महाराष्ट्र), फो.न.-
(०२२) २८९५२४९२
- विजयरामचन्द्र सूरि आराधना भवन
सुभाष चोक, गोपीपुरा, सुरत.
- नरेशभाई नवसारीवाला
डी.एन.आर., BC, 3022, Bharat
Dimond, Bursh, BKC, Bandra-
Mumbai-51, Phone-236993702.
- Shree Suparshwanath Jain
Temple 43, Chell Pillar Koli Street
Near Amir Mahel, Pycrofts Road,
Roya Pettah, **Chennai** - 14, Keyur
Kapadia, Mo - 09043466702
- श्रीतपगच्छ अमर जैनशाला
टेकरी, आर.डी. श्रोफ मार्ग, खंभात, जी.
आणंद, फोन : २२००९९
- दीक्षित एन शाह
३०१, सुन्दरम् एपा.सरगम शोपींग सेन्टर
के पीछे, पार्ले पोईन्ट सुरत - ३९५००७
- सेवंतीलाल वी. जैन अजयभाई
डी-५२, सर्वोदयनगर, ग्राउन्ड फ्लोर, पहेली
पांजरापोल गली, मुंबई - ४, फोन :
२२४०४७१७
- राजेन्द्रभाई डी.शाह
६०४, मेघमल्हार, को.हा.सो., मुरार रोड,
मुलुंड(वेस्ट), मुंबई - ८० मो.
९८२१४३९९०६
- डॉ. कमलेशभाई डी.शाह
बी-४, धनलक्ष्मी बिल्डींग, गोडीबार रोड,
घाटकोपर (वेस्ट), मुंबई-८६, मो.
९३२४१४८१४०, ९०२९३१९५३०
- विजयरामचंद्रसूरि आराधना भवन
हार्डटेन्शन रोड, सुभानपुरा वडोदरा-२३,
फोन : २२८०४७७ हसमुखभाई, मो.
९९२५२३१४३
- मयुरभाई दवे
महाराष्ट्र भुवन जैन धर्मशाणा-तलेटी रोड,
पालीताणा-३६४२७ मो. ९४२९५०६३०३

श्रुतभक्ति-अनुमोदना

इस पुस्तकश्रेणी के

प्रथम भाग का

संपूर्ण लाभ...

धनश्यामभाई मधुभाई पटेल, परिवार

सुरत - वराछा''

ने प्राप्त किया है ।

इस पुस्तकश्रेणी के

द्वितीय भाग का

संपूर्ण लाभ..

“श्रुतप्रेमी आराधक वर्ग”

ने प्राप्त किया है ।

- आपकी श्रुतभक्ति की हार्दिक अनुमोदना और

आगे भी आप ऐसे श्रुतभक्ति करते रहो,

ऐसी मनोकामना सह...

लि. श्री सम्यग्ज्ञान प्रचारक समिति

संक्षिप्त विषयानुक्रम

भाग १	विषय	पृ.नं.
→ प्रकरण -१ :	सच्चा सुख कहाँ है?	- १
→ प्रकरण -२ :	निगोद से निष्क्रमण	- २४
→ प्रकरण -३ :	आत्मा के विकास में पांच कारणों की भूमिका	- २७
→ प्रकरण -४ :	अचरमावर्तकाल - चरमावर्तकाल	- ३६
→ प्रकरण -५ :	अपुनर्बन्धक अवस्था - प्रथम गुणस्थानक	- ५६
→ प्रकरण -६ :	अपुनर्बन्धक आत्मा का योगदृष्टि में प्रवेश	- १०८
→ प्रकरण -६/१:	प्रथम योगदृष्टि : मित्रादृष्टि	- १२०
→ प्रकरण -६/२:	द्वितीय तारादृष्टि	- १५२
→ प्रकरण -६/३:	तृतीय बलादृष्टि	- १६५
→ प्रकरण -६/४:	चौथी दीप्रादृष्टि	- १७३
→ प्रकरण -७ :	अपुनर्बन्धक अवस्था में ३२ आदि कर्मों के सेवन	- १९५
→ प्रकरण -८ :	सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया	- २०४
→ प्रकरण -९ :	ज्ञान-क्रिया से मोक्ष	- २६७

	भाग - २	
→ प्रकरण -१० :	व्यवहार - निश्चय से योगमार्ग	- २९०
→ प्रकरण -११ :	द्वितीय सास्वादन गुणस्थानक	- ३५७
→ प्रकरण -१२ :	तृतीय मिश्र गुणस्थानक	- ३५८
→ प्रकरण -१३ :	चतुर्थ (सम्यग्दर्शन) गुणस्थानक	- ३५९
→ प्रकरण -१४ :	सद्दृष्टियों में प्रवेश पांचवी स्थिरादृष्टि	- ३९५
→ प्रकरण -१४/१:	छठवी कांतादृष्टि	- ४२१

भाग १	विषय	पृ.नं.
→ प्रकरण -१५ :	पांचवां (देशविरति) गुणस्थानक	- ४३६
→ प्रकरण -१६ :	छठवां (सर्वविरति) गुणस्थानक	५०१
→ प्रकरण -१७ :	सातवां (अप्रमत्त) गुणस्थानक	- ५४३
→ प्रकरण -१७/१:	आठवीं परादृष्टि	- ५५७
→ प्रकरण -१८ :	गुणस्थानक आठ से बारह:क्षपकश्रेणी- उपशमश्रेणी	- ५६५
→ प्रकरण -१९ :	तेरहवां (सयोगी केवली) गुणस्थानक	- ५७४
→ प्रकरण -२० :	चौदहवां (अयोगी केवली) गुणस्थानक	- ५८१
→ परिशिष्ट -१ :	गुणस्थानक व कर्मों के उदयादि	- ५८७
→ परिशिष्ट -२ :	बीजादि क्रम से विकासक्रम	- ६०४
→ परिशिष्ट -३ :	शुद्ध अनुष्ठान के तीन प्रकार	- ६०७
→ परिशिष्ट -४ :	योग मार्ग के अधिकारी कौन ?	- ६११

विस्तृत विषयानुक्रम : भाग - २

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
भाग - २		
प्रकरण-१० : व्यवहार-निश्चय से योग मार्ग २९०		
→	व्यवहार-निश्चय का स्वरूप	- २९०
→	विविध प्रकार का योग मार्ग	- २५२
→	व्यवहार-निश्चय से योग संभव	- २९३
→	अध्यात्मादि पांच योग का स्वरूप-	२९५
	- अध्यात्म योग का स्वरूप	- २९५
	- अध्यात्म योग का फल	- २९९
	- भावना योग का स्वरूप	- ३०२
	- भावना योग का फल	- ३०२
	- ध्यान योग का स्वरूप	- ३०६
	- ध्यान योग का फल	- ३१२
	- समता योग का स्वरूप	- ३१४
	- समता योग का फल	- ३१५
	- वृत्तिसंक्षय योग का स्वरूप व फल	- ३१७
→	अन्य प्रकार से योग के भेद	- ३१८
→	तात्त्विक-अतात्त्विक योग	- ३१९
→	सानुबंध-निरनुबंध योग	- ३१९
→	साश्रव-निराश्रव योग	- ३२०
→	इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्ययोग	- ३२०
	- इच्छायोग का स्वरूप	- ३२१
	- शास्त्रयोग का स्वरूप	- ३२३
	- सामर्थ्ययोग का स्वरूप	- ३२४
→	योग का सामान्य-विशेष स्वरूप :	- ३२५
	- प्रणिधानादि पांच आशय	- ३२६
→	प्रणिधान आशय	- ३२६
→	प्रवृत्ति आशय	- ३२८
→	विघ्नजय आशय	- ३३१
→	सिद्धि आशय	- ३३४
→	विनियोग आशय	- ३३६
→	प्रणिधानादि से सानुबंध धर्मप्राप्ति	- ३३६
→	प्रणिधानादि की तात्त्विक दृष्टि से संभावना	- ३३७
→	प्रणिधानादि भावरूप है	- ३४०
→	सानुबंध प्रणिधानादिभाव से मोक्ष	- ३४०
→	प्रणिधानादि भाव शून्य धर्म से प्रत्यपाय	- ३४१
→	स्थानादि पांच योग : स्थान-ऊर्ण- अर्थ- आलंबन एवं निरालंबन योग का स्वरूप-	३४२
→	स्थानादि योग के उपभेद	- ३४५
	- इच्छायोग	- ३४५
	- प्रवृत्तियोग	- ३४६
	- स्थैर्ययोग	- ३४६
	- सिद्धियोग	- ३४६
→	स्थानादि योग के प्रति उपभेद	- ३४७
	- प्रीति अनुष्ठान	- ३४७
	- भक्ति अनुष्ठान	- ३४८
	- वचन अनुष्ठान	- ३४९
	- असंग अनुष्ठान	- ३४९
→	महत्त्वपूर्ण स्पष्टता	- ३५१
→	संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात योग	- ३५१
→	योगावंचक आदि तीन योग	- ३५२
→	योग की आठ दृष्टियां	- ३५३
→	अनुष्ठान के विषय - शुद्धादि तीन प्रकार	- ३५४
	- योग मार्ग का अधिकारी	- ३५४
प्रकरण-११ : द्वितीय सास्वादन गुणस्थानक - ३५७		
प्रकरण-१२ : तृतीय मिश्र गुणस्थानक - ३५८		
प्रकरण-१३ : चतुर्थ (सम्यग्दर्शन)		
	गुणस्थानक	- ३५९
→	सम्यग्दर्शन को पहचाननेवाले लिंग	- ३६०
	- प्रथम लिंग : शुश्रूषा	- ३६०
	- द्वितीय लिंग : धर्मराग	- ३६२
	- तृतीय लिंग : गुरुदेवादि की	- ३६३
	- वैयावच्च	- ३६३

→ सम्यक्त्व के पांच लक्षण	- ३६४
- प्रथम लक्षण : प्रशम	- ३६४
- द्वितीय लक्षण : संवेग	- ३६५
- तृतीय लक्षण : निर्वेद	- ३६५
- चतुर्थ लक्षण : अनुकंपा	- ३६६
- पंचम लक्षण : आस्तिक्य	- ३६६
→ सम्यक्त्व भावधर्म है	- ३६८
→ भावाज्ञा का प्रारंभ	- ३६९
→ सम्यग्दर्शन से मनःशुद्धि	- ३७१
→ सम्यक्त्व की स्थिरता कब होती है ?	- ३७१
→ सम्यग्दृष्टि का सुख	- ३७२
→ सम्यग्दृष्टि का दुःख	- ३७५
→ सम्यग्दृष्टि आत्मा की मनःस्थिति	- ३७६
→ अल्प ज्ञान में भी पूर्णता	- ३७८
→ सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी पूर्ण क्यों कहलाता है ?	- ३७९
→ सम्यग्दृष्टि में औचित्य की प्रधानता-	३८०
→ शुद्ध अनुष्ठान की प्राप्ति	- ३८३
→ निरुपाधिकता का प्रारंभ	- ३८३
→ उदासीनभाव का प्रगटीकरण	- ३८४
→ सम्यक्त्व के आठ आचार	- ३८५
→ सम्यग्दृष्टि की विचारशैली	- ३८८
→ स्याद्वाद सम्यक्त्व का प्राण है	- ३८९
→ स्याद्वाद	- ३९०
→ सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के कर्तव्य	- ३९१
→ योग दृष्टि में विकास	- ३९२
प्रकरण-१४ : सदृष्टियों में प्रवेश	
- पांचवी स्थिरा दृष्टि	- ३९५
→ स्थिरा दृष्टि का बोध	- ३९६
→ पांचवां योगांग प्रत्याहार	- ४००
→ भ्रान्ति दोष का नाश	- ४०२
→ 'सूक्ष्म बोध' गुण की प्राप्ति	- ४०४
→ स्थिरा दृष्टि के साधक का तात्त्विक जगद्दर्शन	- ४०४

→ बाह्य भावों को कैसे देखते हैं ?	- ४०६
→ पारमार्थिक परम तत्त्व का दर्शन	- ४०८
→ परमार्थ दर्शन के बाद की प्रवृत्ति	- ४०९
→ स्थिरा दृष्टि के साधक की विचारशैली	- ४१०
→ स्थिरा दृष्टि के साधक को भोग कैसे लगते हैं ?	- ४१३
→ व्यवहार-निश्चय नय की मान्यता	- ४१४
→ स्थिरा दृष्टि में प्राप्त होनेवाला गुण वैभव	- ४१४
प्रकरण-१४/१ : छठवीं कांता दृष्टि	- ४२१
- तारे की कांति जैसा बोध	- ४२१
- धारणा नामक योगांग की प्राप्ति-	४२३
- 'अन्यमुद्' दोष का नाश	- ४२५
- 'तत्त्व मीमांसा' गुण की प्राप्ति	- ४२६
→ कांता दृष्टि की विशिष्ट सिद्धि	- ४२८
→ भोग संबंधी पारमार्थिक दर्शन	- ४३०
- चतुर्थ गुण का उपसंहार	- ४३३
- पांच धमयोजि	- ४३३
- पुरुषार्थ की दिशा	- ४३४
प्रकरण - १५ पांचवां (देशविरति)	
गुणस्थानक	- ४३६
- व्रत संरक्षण के सात उपाय	- ४३७
→ भाव श्रावक का गुण-वैभव	- ४३८
→ देशविरति के लिंग	- ४३९
- मार्गानुसारी	- ४३९
- श्रद्धा	- ४३९
- प्रज्ञापनीय	- ४४०
- क्रिया में तत्पर	- ४४०
- गुणरागी	- ४४१
- शक्यारंभी	- ४४१
→ भाव श्रावक के अन्य लिंग	- ४४२
→ श्रावक सर्वविरति धर्म का तीव्रकांक्षी	- ४४३
→ तीन प्रकार के देशविरतिधर श्रावक-	४४३

- जघन्य देशविरति श्रावक - ४४३
- मध्यम देशविरति श्रावक - ४४४
- - श्रावक के अक्षुद्रतादि २१ गुण- ४४४
- अक्षुद्रतादि गुणों का स्वरूप - ४४५
- मार्गानुसारिता के ३५ गुण - ४५६
- श्रावक के षट्कर्म - ४६८
- देवपूजा-गुरुभक्ति-स्वाध्याय - संयम-तप-दान - ४६९
- बारह व्रतों का स्वीकार - ४६९
- पांच अणुव्रत का स्वरूप - ४६९
- तीन गुणव्रत का स्वरूप - ४७३
- चार शिक्षाव्रत का स्वरूप - ४७५
- उत्कृष्ट देशविरति श्रावक - ४७८
- श्रावक कहां रहता है ? - ४७८
- श्रावक की दिनचर्या - ४७९
- निद्रा से जागने पर श्रावक के विचार - ४८०
- भाव श्रावक के क्रियागत ६ लक्षण- ४८०
- भाव श्रावक के भावगत १७ लक्षण- ४८२
- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं - ४८७
- श्रावक के सवा 'वसा' के दयादि- ४८९
- श्रावक की तीन प्रकार की अनुमोदना - ४९१
- देशविरति गुण स्थानक में ध्यान संभव - ४९२
- पाप अकरण नियम का प्रारंभ - ४९३
- व्रतग्रहण करने के बाद श्रावक के कर्तव्य - ४९४
- उपसंहार-पुरुषार्थ की दिशा - ४९७
- प्रकरण - १६ : छठवां (सर्वविरति) गुणस्थानक - ५०१**
- साधु धर्म को प्राप्त करने की योग्यता- ५०२
- सर्वविरति (सर्व चारित्र्य के) लिंग - ५०२
- भाव साधु के लिंग - ५०४
- भाव भिक्षु का स्वरूप - ५०९
- पांच महाव्रतों का पालन - ५११
- पांच महाव्रतों का स्वरूप - ५११
- चरण सित्तरी-करण सित्तरी का पालन - ५१२
- दस प्रकार का यतिधर्म - ५१३
- क्षमा आदि दस यतिधर्मों का स्वरूप - ५१४
- बारह प्रकार की अविरति का त्याग- ५१८
- अष्ट प्रवचनमाता का सान्निध्य - ५१८
- पांच समिति - ५१९
- तीन गुप्ति - ५१९
- साधु में धर्म की पूर्णता - ५२१
- ज्ञान से ज्ञानीभाव - ५२१
- ज्ञान के तीन प्रकार - ५२१
- भिक्षु से भिक्षुभाव - ५२२
- भिक्षा के तीन प्रकार - ५२३
- वैराग्य से विरक्तता - ५२४
- वैराग्य के तीन प्रकार - ५२४
- दीक्षा से संग वासना का नाश - ५२५
- छठवें गुण स्थानक में कौन-सा ध्यान- ५२६
- प्रमत्त मुनियों का कर्तव्य - ५२७
- प्रमत्त गुणस्थानक में निरालंबन ध्यान का निषेध - ५२७
- बारह प्रकार की साधुप्रतिमा - ५२९
- विशेष स्पष्टता - ५३०
- योगदृष्टि में विकास - ५३१
- प्रकरण - १६/१ : सातवीं प्रभा दृष्टि - ५३४**
- प्रभा दृष्टि का बोध - ५३४
- सप्तम योगांग ध्यान - ५३६
- 'तत्त्व प्रतिपत्ति' गुण की प्राप्ति - ५३९
- रूग् 'रोग' दोष का नाश - ५३९
- प्रभा दृष्टि सत् प्रवृत्तिपद को वहन करनेवाली होती है - ५४०
- प्रकरण-१७ : सातवां (अप्रमत्त) गुणस्थानक - ५४३**
- साधक अप्रमत्त गुण स्थानक में क्या करता है? - ५४४

→ निरालंबन ध्यान	
- निरालंबन ध्यान में प्रवेश करनेवाले तीन प्रकार के योगी-	५४५
→ अप्रमत्त गुण स्थानक में कौन-सा ध्यान	५४६
→ धर्मध्यान	५४६
→ मैत्री आदि चार भेदों से धर्मध्यान	५४६
→ आज्ञाविचयादि भेदों से धर्मध्यान	५४७
→ पिंडस्थ्यादि भेद से धर्मध्यान	५४७
→ स्वाभाविक आत्म शुद्धि	
- आवश्यक क्रियाओं का अभाव	५४९
→ विशुद्धि-कर्मबंध-यथाप्रवृत्तिकरण	५५०
→ नैश्चयिक सम्यक्त्व	५५०
→ आंशिक शुक्लध्यान	५५१
→ शुक्लध्यान का स्वरूप	५५२
- प्रथम शुक्लध्यान	५५२
- द्वितीय शुक्लध्यान	५५३
- तृतीय शुक्लध्यान	५५४
- चतुर्थ शुक्लध्यान	५५५
→ असंग अनुष्ठान	५५५
→ विशेष	५५५
→ योग दृष्टि में विकास	५५६
प्रकरण - १७/१ आठवीं परा दृष्टि	५५७
- चंद्र की प्रभा सरीखा बोध	५५७
- 'समाधि' योगांग की प्राप्ति	५५९
- 'तत्त्व प्रवृत्ति' गुण की प्राप्ति	५५९
- 'आसंग' दोष का नाश	५६०
→ 'निराचार' पद की प्राप्ति	५६०
→ परा दृष्टिवाले योगियों की कृत कृत्यता	५६३
→ द्वितीय अपूर्वकरण में मुख्य धर्म संन्यास	५६३
प्रकरण - १८ : गुणस्थानक आठ से बारह :	
क्षपक श्रेणी-उपशम श्रेणी	५६५
→ अष्टम गुणस्थानक : अपूर्वकरण	५६५

- सामर्थ्य योग की प्राप्ति	५६५
- प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति	५६६
- धर्म संन्यास योग	५६७
- कर्मों की स्थिति	५६७
- शुक्लध्यान का प्रथम स्तंभ	५६८
- विशेष	५६८
→ नवम गुणस्थानक : अनिवृत्तिकरण	५६८
→ दशम गुणस्थानक : सूक्ष्म संपराय	५६९
→ ग्यारहवां गुणस्थानक	५७०
- पतन के दो कारण	५७०
- भवक्षय-अद्धाक्षय	५७०
→ बारहवां गुणस्थानक	५७१
- शुक्लध्यान का द्वितीय स्तंभ	५७१
- विशेषार्थ	५७१
प्रकरण - २० तेरहवां (सयोगी केवली)	
गुणस्थानक	५७४
- भाव-सम्यक्त्व-चारित्र	५७५
- आयोजिकाकरण	५७५
- केवली समुद्घात	५७६
- योग निरोध	५७६
- तृतीय शुक्लध्यान का स्तंभ	५७७
- ध्यान कौन-सा होता है ?	५७७
- विशेषार्थ	५७८
प्रकरण - २० चौदहवां (अयोगी केवली)	
गुणस्थानक	५८१
- चार भावों की प्राप्ति	५८२
- कर्म रहित आत्मा की उर्ध्व गति-	५८२
- सिद्ध परमात्माओं का सुख	५८३
→ मोक्ष का स्वरूप	५८३
परिशिष्ट-१ गुणस्थानक व कर्मों के उदयादि	५८७
- आठ कर्मों की मूल प्रकृति के नाम	५८७
- आठ कर्मों की १५८ उत्तर प्रकृति के नाम	५८७

- बंध-उदय-उदीरणा-सत्ता की
परिभाषा - ५९०
- बंध (किस गुणस्थानक में कितनी
प्रकृतियां बंध में होती हैं?) - ५९१
- उदय (किस गुणस्थानक में कितनी
प्रकृतियां उदय में होती हैं?) - ५९७
- उदीरणा (किस गुण स्थानक में
कितनी प्रकृतियां उदीरणा में होती हैं?) - ६००
- सत्ता (किस गुण स्थानक में कितनी
प्रकृतियां सत्ता में होती हैं ?) - ६०१

- परिशिष्ट-२
 - बीजादि क्रम से विकासक्रम - ६०४
 - गुणस्थानकों का काल - ६०६
 - गुणस्थानकों का विशेषार्थ - ६०६
- परिशिष्ट-३ (शुद्ध अनुष्ठान के तीन प्रकार)
 - विषय शुद्ध अनुष्ठान - ६०७
 - स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान - ६०७
 - अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान - ६०७
 - शास्त्र परतंत्रता अनिवार्य - ६१०
- परिशिष्ट-४ योगमार्ग के अधिकारी
कौन ? ६११

योग की आठ दृष्टि

योगदृष्टि का नाम	बोध	दोषनाश	गुणप्राप्ति	योगांग	गुणस्थानक
मित्रा	तिनके की चिनगारी समान	खेद	तत्त्व-अद्वेष	यम	प्रथम-मंद मिथ्यात्व अवस्था में
तारा	गोमय की अग्नि चिनगारी समान	उद्वेग	तत्त्व जिज्ञासा	नियम	"
बला	काष्ठाग्नि के चिनगारी समान	क्षेप	तत्त्व-शुश्रूषा	आसन	"
दीप्रा	दीपक की प्रभा समान	उत्थान	तत्त्व श्रवण	प्राणायाम	"
स्थिरा	रत्न की प्रभा समान	भ्रान्ति	सूक्ष्मबोध	प्रत्याहार	४-५-६
कान्ता	तारा की प्रभा समान	अन्यमुद्	तत्त्वमीमांसा	धारणा	४-५-६
प्रभा	सूर्य की प्रभा समान	रुग्-रोग	तत्त्व-प्रतिपत्ति	ध्यान	६-७
परा	चन्द्र की	आसंग	तत्त्वप्रवृत्ति	समाधि	७-८ से १२

दृष्टि	पेज नं.	दृष्टि	पेज नं.
१) मित्रा	१२०-१५१	५) स्थिरा	३९५
२) तारा	१५२-१६४	६) कान्ता	४२१
३) बला	१६५-१७२	७) प्रभा	५३४
४) दीप्रा	१७३-१९४	८) परा	५५७
नॉथ : पूर्वनिर्दिष्ट पृष्ठांक से मित्रादि दृष्टियां का वर्णन मिलेगा			

संदर्भ ग्रंथ की यादी

१. अध्यात्ममत परीक्षा
२. अध्यात्मसार
३. अमृतवेलनी सज्जाय
४. अष्टकप्रकरण
५. आचारांग सूत्र
६. आवश्यकसूत्र
७. उपदेश रहस्य
८. उपदेशपद प्रकरण
९. उपदेशमाला
१०. उपमितिभवप्रपंचा कथा
११. ओघनिर्युक्ति भाष्य
१२. कर्मग्रंथ - १-२
१३. कल्पसूत्र
१४. गुणस्थानक क्रमारोह
१५. गुरुतत्त्व विनिश्चय
१६. जैनतर्कभाषा
१७. ज्ञानसार प्रकरण
१८. तत्त्वार्थभाष्य -
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र
१९. दोढसो गाथानुं स्तवन
२०. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
२१. धर्मपरीक्षा
२२. धर्मबिन्दु प्रकरण
२३. धर्मरत्न प्रकरण
२४. धर्मसंग्रह, भाग १-२
२५. नवतत्त्वप्रकरण
२६. निगोद षट्त्रिंशिका
२७. पंचवस्तुक ग्रंथ, भाग १-२
२८. पंचसंग्रह
२९. पंचसूत्र

३०. पंचाशक प्रकरण
३१. प्रवचन सारोद्धार
३२. प्रशमरति
३३. ब्रह्म समुच्चय प्रकरण
३४. योगदृष्टि समुच्चय
३५. योगदृष्टि समुच्चय
३६. योगपूर्वसेवा बत्रीसी
३७. योगबिंदु
३८. योगविंशिका
३९. योगशतक
४०. योगशास्त्र
४१. योगसार
४२. रत्नसंचय प्रकरण
४३. ललितविस्तरा
४४. विंशति विंशिका
४५. विचारसार प्रकरण
४७. शतकबृहद्चूर्णि
४८. शास्त्रवार्ता समुच्चय
४९. श्रीप्रज्ञापना सूत्र
५०. षड्दर्शन समुच्चय
५१. षोडशक प्रकरण
५२. समकितना सडसठबोलकी सज्जाय
५३. समवाय कारणनुं स्तवन
५४. सम्बोध प्रकरण
५५. सम्बोध सत्तरी
५६. सम्मतितर्क
५७. सम्यक्त्व सप्ततिका
५८. सम्यक्त्व सप्ततिका
५९. सवासो गाथाका स्तवन
६०. साडा त्रणसो गाथाका स्तवन

प्रकरण - १० : व्यवहार-निश्चय से योगमार्ग

■ व्यवहार-निश्चय :

श्री जिनवचन स्याद्वादमय है। स्याद्वाद सकल नयों का समूह रूप है। विभिन्न अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु को अनेक धर्मात्मक मानना वह स्याद्वाद है। इन्हीं में से एक दृष्टिकोण नय है। नय अनेक हैं। यहां दो प्रमुख नयों को आगे रखकर योगमार्ग के प्रारम्भ, विकास और पूर्णता को समझने का प्रयास करेंगे।

■ व्यवहार-निश्चय का स्वरूप :

व्यवहार नय का दृष्टिकोण अलग है और निश्चय नय का दृष्टिकोण अलग है। व्यवहार साधन है, तो निश्चय साध्य है। निश्चय साधक व्यवहार ही तात्त्विक साधन (हेतु-कारण) बन सकता है। व्यवहार की दृष्टि स्थूल है। निश्चय की दृष्टि सूक्ष्म है। व्यवहार नय उपचार प्रधान नय है। यह कारण का कार्य में और कार्य का कारण में उपचार करके वस्तु को कार्य रूप में अथवा कारण रूप में स्वीकार करता है। निश्चयनय अनुपचरित है। वह संपूर्ण सुनिश्चित कार्य दशा को ही कार्य के रूप में स्वीकार करता है। निश्चयनय उपचार को स्वीकार नहीं करता है।¹

निश्चयनय जो अविलंब (विलंब बिना) अथवा निश्चय-नियम से नियमानुसार फल देता है, उसे 'योग' के रूप में स्वीकार करता है। जबकि व्यवहार नय सामान्यतः फल के प्रति योग्यता का आश्रय लेकर 'योग' के रूप में स्वीकार करता है।² जैसे कि, निश्चयनय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन व सम्यग्चारित्र के संमिलन को योग के रूप में स्वीकार करता है अर्थात् तीनों का एक साथ सम्बंध जुड़ा हो तो ही उसे योग कहता है। जबकि व्यवहारनय सम्यग्ज्ञानादि के कारण विनयादि को भी 'योग' के रूप में स्वीकार कर लेता है। यहां वह कारण

में कार्य का उपचार करता है। कार्य को प्रकट करने की योग्यता का आश्रय लेकर गुरु विनयादि कारण को योग के रूप में दर्शाता है। (जो मोक्ष से जोड़े उसे योग कहा जाता है।)

यद्यपि व्यवहार नय 'प्रवृत्ति' को देखता है - चाहता है। निश्चय नय परिणाम को देखता है - चाहता है। जैसे कि, व्यवहार नय भोजन के त्याग को तप के रूप में मानता है और निश्चय नय भोजन के-पुद्गल के रस को कम करने और इच्छा निरोध करने को तप मानता है।

यद्यपि निश्चयनय तात्त्विक अर्थ स्वीकार करता है। जबकि व्यवहार नय जो लोगों में प्रसिद्ध है, उसे स्वीकार करता है।³ जैसे कि, भ्रमर में पाँचों वर्ण (रंग) होने के बावजूद व्यवहारनय भ्रमर को श्याम मानता है। क्योंकि, लोगों में (सामान्य प्रजा में) यही प्रसिद्ध है। जबकि निश्चयनय तात्त्विक अर्थ को ही स्वीकार करता होने के कारण वह भ्रमर को पंचरंगी ही मानता है। इसलिये व्यवहारनय लोगों में जो व्यवहार चलता हो उसे आगे करके उस वस्तु का प्रतिपादन करता है। जबकि निश्चयनय तत्त्वदृष्टि से वह वस्तु जैसी हो वैसी ही स्वीकार करने का आग्रह रखता है।

दूसरे ढंग से देखें तो एक नय के अभिमत अर्थ को जो ग्रहण करता है, वह व्यवहारनय है और समस्त नयों द्वारा अभिमत अर्थ को जो स्वीकार करता है, वह निश्चयनय है।⁴ ('नय' के सात प्रकार हैं। इन सातों प्रकार के नयों का विस्तृत स्वरूप नयोपदेश, नयप्रदीप, नयरहस्य, विशेषावश्यक भाष्य, तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रंथों में दर्शाया गया है। इसकी आवश्यक चर्चा 'जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत' नामक पुस्तक में 'नयवाद' प्रकरण में की गई है।)

व्यवहारनय की अपेक्षा से धार्मिकप्रवृत्ति से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ और विकास होता है और निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञानमय परिणाम से मोक्ष मार्ग चलता है। व्यवहारनय योग की प्रवृत्ति को योग के रूप में दर्शाता है।

निश्चयनय योग की परिणति को योग के रूप में दर्शाता है। व्यवहारनय से पहले सम्यग्दर्शन है और इसके बाद सम्यग्ज्ञान है। जबकि निश्चयनय के मतानुसार पहले सम्यग्ज्ञान है और इसके बाद सम्यग्दर्शन है। निश्चय नय की मान्यता है कि सच्चे ज्ञान के वगैर तात्त्विक श्रद्धा प्राप्त नहीं होती है। जबकि व्यवहारनय से चारित्र बाह्य क्रिया स्वरूप है। जबकि निश्चयनय से आंतरिक रत्नत्रयी का परिणाम ही चारित्र है। इस प्रकार व्यवहारनय-निश्चयनय की यहां आंशिक चर्चा की है।

■ विविध प्रकार का योगमार्ग :-

अब विविध योगग्रंथों-अध्यात्म ग्रंथों में विभिन्न शैली से योगमार्ग का जो वर्णन किया गया है, उसकी आंशिक रूपरेखा पर नजर डालकर व्यवहार-निश्चय से यह योग किस गुणस्थानक में प्राप्त होते हैं, इस पर चर्चा करेंगे।

→ षोडशक व योगविंशिका ग्रंथ में योग को मोक्ष के कारण के रूप में दर्शाकर परिशुद्ध धर्मव्यापार का 'योग' के रूप में वर्णन किया गया है। इसमें प्रणिधानादि आशय से युक्त धर्मव्यापार परिशुद्ध कहा गया है। प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि तथा विनियोग ये पांच आशय (भाव) से युक्त धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) योग बनता है और वह आत्मा को आत्मा के शुद्ध स्वरूप से जोड़ती है।

→ योगशतक ग्रंथ में रत्नत्रयी के सम्बंध को योग के रूप में दर्शाया गया है।

→ योगबिंदु तथा बत्नीसी ग्रंथ में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति संक्षय, यह पांच योग के प्रकार बताये गये हैं।

→ षोडशक-योग विंशिका ग्रंथ में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन तथा निरालंबन, इस प्रकार योग के पांच प्रकार बताये गये हैं।

→ योगविंशिका-ज्ञानसार-विंशतिविंशिका आदि ग्रंथों में इच्छा योग, प्रवृत्ति योग, स्थैर्य योग व सिद्धि योग, इस प्रकार योग के चार भेद दर्शाये गये हैं।

→ योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में इच्छा योग, शास्त्र योग व सामर्थ्य योग, ये तीन प्रकार दर्शाये गये हैं।

→ इसके अलावा द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका ग्रंथ में विभिन्न शैली में दो-दो प्रकार के योग बताये गये हैं। (१) तात्त्विक योग-अतात्त्विक योग, (२) सानुबंध योग-निरनुबंध योग, (३) साश्रव योग-निराश्रव योग, (४) सापाय योग-निरपाय योग, (५) सोपक्रम योग-निरूपक्रम योग, (६) सबीज योग-निर्बीज योग, (७) सालंबन योग-निरालंबन योग, (८) द्रव्य योग-भाव योग, (९) नैश्चयिक योग-व्यवहारिक योग तथा (१०) संप्रज्ञात योग-असंप्रज्ञात योग - इस प्रकार विविध ग्रंथों में योग एक, दो, तीन, चार और पांच प्रकार से दर्शाये गये हैं।

→ योगदृष्टि ग्रंथ में आठ दृष्टि के माध्यम से योगमार्ग का वर्णन किया गया है।

⇒ व्यवहार-निश्चय से 'योग' संभव :-

→ व्यवहार नय से प्रणिधानादि आशय अपुनर्बन्धक अवस्था में प्राप्त होते हैं और निश्चय नय से यह आशय सम्यग्दर्शन गुणस्थानक में प्राप्त होते हैं।

→ व्यवहार नय से अपुनर्बन्धक अवस्था और सम्यग्दर्शन गुणस्थानक में 'योग' प्राप्त होता है। निश्चय से देशविरति-सर्वविरति (पांचवें-छठवें) गुण स्थानक में प्राप्त होता है। इसलिये व्यवहार से योगमार्ग की शुरुआत प्रथम गुण स्थानक से होती है तथा चतुर्थ गुणस्थानक में वह विकसित होता है और निश्चयनय से योगमार्ग की शुरुआत देशविरति (पांचवें) गुणस्थानक से होती है तथा आगे के गुण स्थानकों में वह विकसित होता है।

सामान्य विचार करें तो मुक्ति-अद्वेष गुण से मोक्ष साधना की शुरुआत होती है। मुक्ति के राग से मोक्ष साधना दैदीप्यमान और वेगवान बनती है।

मोक्ष व संसार के प्रति समदृष्टि (अत्यंत उदासीन भाव) आती है तब वह मोक्ष साधना चरमसीमा पर पहुंचती है और मोक्ष प्राप्त होने पर साधना पूर्ण होती है।

→ व्यवहार से अध्यात्म तथा भावनायोग की प्राप्ति प्रथम-चतुर्थ गुण - स्थानक में होती है और निश्चय से पांचवें गुणस्थानक में प्राप्ति होती है। (आगे गुणस्थानक में उसका विकास होता है, ऐसा सभी योगों में समझना चाहिये।) आध्यान (ध्यान) तथा समता योग निश्चय से सातवें गुणस्थानक से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थानक तक होते हैं। वृत्तिसंक्षय योग तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानक में होता है।

→ प्रथम गुणस्थानक में स्थित अपुनर्बन्धक तथा चौथे गुणस्थानकवालों के स्थानादि को व्यवहारनय योग स्वरूप मानता है और निश्चयनय पांचवें-छठवें गुणस्थानकवाले साधक के स्थानादि को योग के रूप में स्वीकार करता है।

→ अनालम्बन योग सातवें से बारहवें गुणस्थानक तक होता है।

→ इच्छा योग प्रथम गुणस्थानक से छठवें गुणस्थानक तक होता है। शास्त्रयोग उपचार से छठवें गुणस्थानक के निर्मल अध्यवसाय स्थानों में और मुख्यतः सातवें गुणस्थानक में होता है। सामर्थ्ययोग के दो भेद हैं। धर्मसंन्यास रूपी सामर्थ्ययोग आठवें गुणस्थानक में और योगसंन्यास रूपी सामर्थ्ययोग चौदहवें गुणस्थानक में होता है।

→ योगावंचक योग प्रथम गुणस्थानक में प्राप्त होता है। क्रियावंचक योग मुख्यतः पांचवें गुणस्थानक में प्राप्त होता है और फलावंचक योग मुख्यतः सातवें गुण स्थानक में प्राप्त होता है। उपचार से तीनों योग प्रथम व चतुर्थ गुण स्थानक में प्राप्त हो सकते हैं।

→ योग की प्रथम चार दृष्टि प्रथम गुणस्थानक में प्राप्त होती हैं। चौथे,

‘अध्यात्म’ कहते हैं।

यहां तत्त्वचिंतन को अध्यात्म कहा गया है। वह भी हर किसी के तत्त्व चिंतन को नहीं। बल्कि अणुव्रत-महाव्रतधारी श्रावक-साधु के तत्त्वचिंतन को ही अध्यात्म कहा गया है। वह भी उचित प्रवृत्तिवाले व्रतधारी के तत्त्वचिंतन को ही अध्यात्म कहा गया है। यह तत्त्वचिंतन श्री जिनवचनानुसारी होना चाहिये और मैत्र्यादि भावना से परिप्लावित-सहित होना चाहिये।

श्री जिनेश्वर परमात्मा ने जिन हेय-उपादेय पदार्थों (तत्त्वों) को जिस प्रकार से बताया है, उन पदार्थों के उसी स्वरूप में होनेवाले चिंतन को अध्यात्म कहा जाता है। यह तत्त्वचिंतन अणुव्रतधारी या महाव्रतधारी करे तो अध्यात्म कहलाता है। क्योंकि, अध्यात्म अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुसरणवाला कार्य करना। जब तक मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय का प्रगाढ़ उदय प्रवर्तमान है, तब तक आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुसरणवाला कोई कार्य नहीं होता है। जब मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होता है, तब ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुसरण करनेवाला कार्य प्रारम्भ होता है। पांचवें गुणस्थानक में मिथ्यात्व मोहनीय का अधिकांश क्षयोपशम होता है और चारित्र मोहनीय का आंशिक क्षयोपशम होता है। इससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुकूल कार्य (पाप निवृत्ति एवं धार्मिक प्रवृत्ति) होते हैं। छठवें गुण स्थानक में चारित्र मोहनीय के विशिष्ट क्षयोपशम से सर्वविरति का परिणाम प्राप्त होता है और इसलिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अनुकूल कार्य (तत्त्वचिंतन) ओर देदीप्यमान होता है।

यद्यपि व्रतधारी के औचित्यपूर्ण तत्त्व चिंतन को ही अध्यात्म कहा जाता है। जिस प्रवृत्ति से निज-भूमिका का संवहन होता है, उत्तर-भूमिका के बीज का आधान होता है और दूसरों को पीड़ा या दुःख नहीं होता है उसे उचित प्रवृत्ति कहा जाता है। जो प्रवृत्ति निज-पर दोनों के लिये उपकारी सिद्ध हो ऐसे गंभीर

से मन दूषित होता है। दूषित मन में तत्त्व का चिंतन प्रकट नहीं होता है और यदि प्रकट हो भी जाए तो भी वह अध्यात्म नहीं बनता है। दंभयुक्त मन भी मलीन होता है। उसमें भी अध्यात्म प्रकट नहीं होता है। कितनी भी श्रेष्ठ आराधनाएं की जाएं किन्तु मन में दंभ (उत्कट माया) रमण करता हो, तो अध्यात्म प्रकट नहीं होता है।

इसके अलावा तत्त्वचिंतन शास्त्रानुसारी होना चाहिये। हेय-उपादेय पदार्थों का (तत्त्वों का) निर्णय शास्त्रों से ही किया हो और उसी के अनुसार तत्त्वचिंतन करके तत्त्वों को अभ्यस्त बनाने का प्रयास चालु होना चाहिये। व्रतों का पालन किया हो, परन्तु पाप निवृत्ति और धार्मिक प्रवृत्ति का परिणाम प्राप्त न हुआ हो, तो भी निश्चय नय से अध्यात्म की प्राप्ति नहीं होती है। संक्षेप में, हेय-उपादेय पदार्थों का यथार्थ संवेदन हो, यथाशक्ति हेय की निवृत्ति और प्रवृत्ति का जीवन में आचरण किया हो, वृत्ति-परिणति-प्रवृत्ति निर्मल हो, मोक्ष का उद्देश्य निरंतर जीवित हो और मोक्ष के उपायों में (विशुद्ध सामाचारी-सदाचारों में) औचित्यपूर्वक प्रवर्तन हो, मैत्री आदि भावनाओं से मन पवित्र हो, लोकोत्तर दृष्टिपूर्वक आज्ञापालन का परिणाम हृदय में रमण करता हो और आत्म स्वरूप के अनुकूल भावों का मन में स्फुरण हो, तब शास्त्रानुसारी तत्त्व चिंतन प्रकट होता है, जिसे अध्यात्म कहा जाता है। तत्त्व चिंतन परभाव से दूर करके आत्मा के (आत्म स्वभाव के) निकट ले जाता है, इसलिये इसे अध्यात्म कहा जाता है।

जो तत्त्व चिंतन आत्मस्वभाव के निकट नहीं ले जाता है अथवा आत्म स्वभाव के अभिमुख भी नहीं बनाता है उसे अध्यात्म नहीं कहा जाता है। ऐसा तत्त्व चिंतन मात्र मानसिक शुभ संकल्प बनता है। उससे आत्मोत्थान नहीं होता है। यद्यपि शास्त्रविरोधी तत्त्वचिंतन बुद्धि के विपर्यास को बढ़ानेवाला और मिथ्यात्व को प्रगाढ़ बनानेवाला होने के कारण वह भी अध्यात्म नहीं बन पाता है।

प्राप्त करने में अवरोधक) बननेवाले ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय, दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय क्लिष्ट कर्मों का क्षय होता है। इससे उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्वों का अवगाहन तथा जीवन में अनुसरण करने का सामर्थ्य प्रकट होता है। अध्यात्म (तत्त्व चिंतन) से अनादि परभावों की रमणता का हास होता है। इससे मन के रागादि मलों का भी हास (क्रमिक नाश) होता है। इससे आत्मा की चिकनाई घटती है और कर्ममल आत्म प्रदेशों से दूर होता जाता है, आत्म स्वरूप प्रकट होता जाता है, आत्म स्वरूप के प्रकाशित होने से निरुपाधिक आत्मीय गुण प्रकट होते हैं। इससे उत्तरोत्तर भाव रत्नत्रयी की वृद्धि होती है और गुणस्थानक में प्रगति होती है।

(२) आत्म वीर्य का उत्कर्ष :-

अध्यात्म योग से शुभ स्थल पर आत्मवीर्य का प्रवर्तन होने से वीर्यान्तराय कर्मों का क्षयोपशम होता है। इससे विशुद्ध आत्मवीर्य का उत्कर्ष प्राप्त होता है। इससे साधक महाधैर्यपूर्वक योग की साधना करके मोह का नाश करने के लिये समर्थ बनता है। विशुद्ध योगों में स्थिरता महाधैर्य से आती है और महाधैर्य की प्राप्ति विशुद्ध आत्मवीर्य के उत्कर्ष से होती है। हमारी आत्मा ने अनादि काल से अप्रशस्त योगों में रमण करके इन्द्रियों व मन को अत्यंत चंचल बना लिया है। इससे विषयों की उपस्थिति में मन-इन्द्रिय अत्यंत विचलित हो गई है। ऐसी अवस्था में शुभ योगों में धैर्यपूर्वक प्रवर्तन नहीं हो सकता है और शुभ योगों में धैर्यपूर्वक प्रवर्तन के बिना अनादि की परभावों की रमणता भंग नहीं हो सकती है। तत्त्व चिंतन (अध्यात्म) से शुभ योगों में स्थिरता प्राप्त होती है। पूर्वोक्त विधि के अनुरूप तत्त्व चिंतन से इन्द्रिय-मन पर विजय प्राप्त होता है। इन्द्रिय-मन का परिभ्रमण भंग हो जाता है। उस पर विजय प्राप्त होता है और धैर्य विकसित होता है। धैर्यपूर्वक किये हुए शुभ योगों में प्रवर्तन परभाव की रमणता को भंग कर देता है। इससे सत्त्व भाव की सविशेष वृद्धि होती है।

(३) मन की समाधि :-

अध्यात्म योग के सेवन से मन इन्द्रियों के विषयों से विमुख होता है, वैषयिक संकल्प-विकल्प मंद होते हैं। इससे मन स्वाभाविक ढंग से निराकुल रूप से आत्मभाव में रह सकता है। इससे आंतरिक सुख का अनुभव होता है और इससे मन का सम्बंध विषयों से टूट जाने के कारण वह समाधिमय बन जाता है। यद्यपि तत्त्व चिंतन से कर्म के विपाको में (शुभ-अशुभ विपाको के उदय में) मन आत्मीय भावों में स्थिर रहता है। शुभ विपाक के उदय में विषय-आसक्ति-कषायाधीनता उत्पन्न नहीं होती हैं और अशुभ विपाक के उदय में दीनता आदि से मन संक्लिष्ट नहीं बनता है। तत्त्व चिंतन से प्राप्त परिपक्व बोध-श्रद्धा और विवेक से साधक संयोगों से ऊपर उठकर आत्मीय भावों में स्थिर हो सकता है। इससे मन समाधिमय रहता है। मन को प्रतिकूलता प्राप्त न हो और अनुकूलता ही प्राप्त हो, इससे जो समाधान प्राप्त होता है, वह मन की समाधि नहीं होती है। बल्कि अनुकूलता-प्रतिकूलता से ऊपर उठकर आत्मीय भावों में (ज्ञानादि गुणों के अभ्यास में) स्थिर रहना मन की समाधि है। बाह्य संयोग मन में दोष उत्पन्न न करें, इस स्तर की आत्मीय भावों में स्थिरता प्राप्त होना अध्यात्म का फल है।

(४) अप्रतिपाति ज्ञान :-

अध्यात्म योग से अप्रतिपाति ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् जो मोह के समक्ष पीछेहट न करे, ऐसा मोह से प्रतिघात न पानेवाला ज्ञान प्राप्त होता है। सामान्य जीवात्मा का ज्ञान मोह के निमित्तों में नष्ट हो जानेवाला होता है। इस अध्यात्म योग से पूर्वोक्त ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अप्रतिघातवाला होता है। मोह के निमित्तों में भी जो मोह का नाश करे, यह ऐसा ज्ञान होता है। परन्तु यह मोह से स्वयं नष्ट नहीं होता है। पूर्वोक्त कथनानुसार तत्त्व चिंतन से परिपक्व कोटि के बोध-श्रद्धा और विवेक प्राप्त होते हैं। इससे संप्राप्त ज्ञान मोह के प्रतिनिधियों को परास्त करने में समर्थ होता है। अब द्वितीय भावना योग का स्वरूप देखते हैं।

(२) भावना योग :-

इस योग का स्वरूप निम्नानुसार है -

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।

मनःसमाधिसंयुक्तं, पौनःपुन्येन भावना ॥३६०॥ (योगबिंदुः)

- अध्यात्म का ही प्रतिदिन और बार-बार वृद्धियुक्त (उत्कर्ष का अनुभव करते हुए) तथा मन की समाधि से युक्त जो अभ्यास किया जाता है, उसे भावना योग कहा जाता है अर्थात् पूर्वोक्त अध्यात्म का अभ्यास प्रतिदिन उत्कर्ष प्राप्त करे और उत्तरोत्तर आत्मभाव की अभिमुखता एवं आत्मभाव में निवेश प्रगाढ़ हो, अध्यात्म के ऐसे अभ्यास को **भावना योग** कहा जाता है। संक्षेप में, अध्यात्म योग में जो तत्त्व चिंतन प्रवर्तमान था, वह तत्त्व चिंतन उत्कर्षता प्राप्त करे और प्रगाढ़ बने तब विभावों की विमुखता उत्तरोत्तर बढ़ती जाए, ऐसा जो अभ्यास है, उसे ही **भावना योग** कहा जाता है। **कहने का अर्थ यह है कि**, अध्यात्म योग के साधक परभावों से विमुख होकर आत्मभाव के अभिमुख होकर साधना करते हुए मोहनीयादि कर्मों का सविशेष क्षयोपशम करते हैं, तब उनका तत्त्व चिंतन प्रगाढ़ बनता है और इससे परभाव से वे सर्वथा विमुख हो जाते हैं और आत्मभाव में उनका निवेश प्रगाढ़ बनता है। यद्यपि इस अभ्यास में सातत्यता भी अच्छी होती है। क्योंकि साधक को साधना में बहुत आनंद आता है। **परभाव** के (रागादि दोषों के) संक्लेश दूर हो गये हैं और **आत्मभाव (ज्ञानादि गुण)** की रमणता से निरुपाधिक आनंद मिलता है। स्वाधीन-निरुपाधिक आनंद साध्यसाधक साधन में उसे ओतप्रोत रखता है। इससे उसके क्लिष्ट कर्म नष्ट होते हैं, कुसंस्कारों का उन्मूलन होता है और अनादि के गलत अभ्यास टूटते हैं। भावना योग के इस फल को नीचे दर्शाया गया है।

► भावना योग का फल :-

निवृत्तरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।

तथा सुचित्तवृद्धिश्च, भावनायाः फलं मतम् ॥३६१॥ (योगबिंदुः)

- भावना योग का फल इस प्रकार है - (१) अशुभ अभ्यास की निवृत्ति, (२) शुभ अभ्यास का अनुकूल भाव तथा (३) शुद्ध मन की वृद्धि (समुत्कर्ष)।

→ अशुभ अभ्यास की निवृत्ति :-

इस प्रकार के निमित्तों से काम-क्रोधादि में खिंचने का अशुभ अभ्यास अनादिकाल से आत्मसात् हुआ। भावनायोग से बार-बार और प्रतिदिन तत्त्व चिंतन का अभ्यास हो जाने से और विभावों से दूर रहने के कारण अनादि के अशुभ अभ्यास की निवृत्ति हो जाती है। निरंतर आत्मस्पर्शी तत्त्वचिंतन नामक शुभ आलंबन के कारण भावमन में पड़े कुसंस्कारों को उत्तेजित होने का अवसर नहीं मिलता। इससे कुसंस्कारों की नींव पर चलनेवाले अशुभ अभ्यास टूट जाते हैं और अशुभ अभ्यासों के कारण कुसंस्कारों को मिलनेवाला पोषण रुक जाता है। इससे कुसंस्कार भी कमजोर पड़ जाते हैं।

→ शुभ अभ्यास का अनुकूल भाव :-

भावनायोग से अशुभ अभ्यास की निवृत्ति की भांति शुभ अभ्यास का अर्थात् ज्ञानादि की शुभ साधना करने के अभ्यास का अनुकूल भाव पैदा होता है। आत्मा में अशुभ तत्त्वों का सामर्थ्य घटता है और शुभ तत्त्वों का बल बढ़ता है, तब ही ज्ञानादि की साधना करने का उल्लास प्रकट होता है। पूर्वोक्त कथनानुसार कुसंस्कारों को पोषण नहीं मिलने से वे सामर्थ्यहीन हो जाते हैं और तत्त्व चिंतन के कारण 'बाह्य-अभ्यंतर व्यक्तित्व की शुभता के कारण आत्मा में सुसंस्कारों का सिंचन होता है तथा इससे ज्ञानादि साधना के शुभ अभ्यास का अनुकूल भाव पैदा होता है।

→ शुद्ध मन की वृद्धि :-

अध्यात्मयोग के बार-बार तथा प्रतिदिन के अभ्यास से मन की शुद्धि बढ़ती है। क्योंकि, इस अभ्यास से मन परभावों से उत्तरोत्तर विमुक्त होता है। इससे राग-द्वेषादि द्वंद्व पैदा नहीं होते हैं। इससे मन अत्यंत शुद्ध रहता है। परपदार्थों की

विभिन्न प्रकार की रमणता (पुद्गल के अच्छे-बुरे का चिंतन, स्मरण, उसकी विविधता का वार्तालाप और उसका भोग, इन सब की रमणता) परभावों में खींच ले जाती है और परभाव की रमणता (मन के रागादि मलों में रमणता) मन को अत्यंत मलीन कर देती है। निरंतर आत्मस्पर्शी तत्त्वचिंतन से मन परभाव से उत्तरोत्तर विमुख होता है। इससे मन में रागादि मल पैदा नहीं होते हैं। इसलिये मन अत्यंत शुद्ध रहता है। हालांकि, तत्त्वचिंतन में परपदार्थों का चिंतन होता रहे, ऐसा संभव है। परन्तु इससे परभावों में मन नहीं चला जाता है। क्योंकि, यह चिंतन पदार्थों के तात्त्विक स्वरूप के सम्बंध में होता है। स्वयं के मोहाधीन होकर किये गये अनुभवों का स्मरणादि इसमें नहीं होता है। यह तात्त्विक चिंतन तो संवेग-निर्वेद के परिणामों को तीव्र बनाता है। इससे परभावों की विमुखता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

→ यहां उल्लेखनीय है कि, भावनायोग को प्राप्त करनेवाले योगी स्वयं को संप्राप्त भावनायोग को बढ़ाने के लिये दृढ़ संस्कार की कारण बननेवाली पांच भावनाओं का परिभावन करते हैं। पांच भावनाओं को दर्शाते हुए 'योगभेद द्वात्रिंशिका' में कहा गया है कि,

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवैराग्यभेदतः ।

इष्यते पञ्चधा चेयं दृढ़संस्कारकारणम् ॥

- ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप और वैराग्य, इन पांच भेद से दृढ़ संस्कार की कारण भूत भावना की पांच प्रकार से इच्छा की जाती है।

ज्ञान भावना आदि पांच प्रकार की भावना आवश्यक सूत्र के भाष्य आदि ग्रंथों में दर्शाई गई है। इससे काम-क्रोधादि के संस्कारों का उन्मूलन होता है और ज्ञानादि के संस्कार दृढ़ होते हैं।

→ ज्ञान भावना :- ज्ञेय का ज्ञान करना आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। यह स्वभाव उजागर हो, इसलिये सूक्ष्मबुद्धि से ज्ञान के स्वरूप का चिंतन करके

ज्ञानभावना से आत्मा को भावित किया जाता है, तब आत्मा में निर्मल कोटि के ज्ञान के संस्कार पड़ते हैं और इनके द्वारा सहजता से साधक ज्ञानभाव में प्रवेश करता है तथा मोहादि से सहजता से विमुक्त हो सकता है।

→ दर्शन भावना :- वस्तु तत्त्व जैसा हो, उसे वैसा ही देखना आत्मा का मूलभूत स्वरूप है। सूक्ष्मबुद्धि से वस्तुतत्त्व को वस्तुतत्त्व के रूप में देखने का प्रयत्न करने से जीवात्मा में प्रवर्तमान सम्यग्दर्शन अभ्यस्त हो जाता है और इस प्रकार दर्शन भावना से आत्मा को भावित करने से आत्मा में दर्शन के संस्कार पड़ते हैं तथा साधक सहजता से दर्शन भाव में प्रवेश करता है और मिथ्यात्व से सहजता से विमुक्त रह सकता है।

→ चारित्र भावना :- आत्मा में (आत्मा के ज्ञानादि गुणों में) चरना आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। इस स्वभाव को प्रकट करने के लिये चरण सित्तरी-करण सित्तरी के रूप में आचरण दर्शाए गये हैं और ये आचरण आत्म गुण की रमणता को प्रकट करने, स्थिर करने और बढ़ाने के प्रबल कारण हैं। इसलिये आत्म रमणता के ध्येय के प्रति संकल्पबद्ध बनकर चारित्र भावना में रत हो जाने से चारित्र के दृढ़ संस्कार पड़ते हैं और इनके द्वारा साधक सहजता से आत्म रमणता में जा सकता है और सहज रूप से पुद्गल-पुद्गल भाव से विमुख हो सकता है।

→ **तप भावना :-** तप आत्मा का मूलभूत स्वरूप है। इच्छारहित अवस्था आत्मा का सहज स्वरूप है। इच्छानिरोध तप का स्वरूप है। मोहोदय जनि तप इच्छाओं का निरोध करने के लिये तप भावना में रत होने से आत्मा में तप के संस्कार पड़ते हैं। तप आत्मा के उपर रहे हुए कर्मों को तपाकर उन्हें आत्मा से अलग करता है। बारह प्रकार के तप में प्रवृत्त रहने से तप भावना प्रकट होती है और इससे आत्मा के स्वरूप में स्थिर होने के अनुकूल संस्कार पड़ते हैं तथा बहिर्मुखी बनानेवाले निमित्तों से मुक्ति प्राप्त होती है।

→ **वैराग्य भावना :-** बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में भी उनसे विरक्त रहना आत्मा का स्वरूप है। आत्मा के इस मूलभूत स्वरूप को प्रकट करनेवाले संस्कारों का वैराग्य भावना से आधान होता है। सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक संसार के सुख, सुखों के साधन तथा सम्पत्ति-वैभव के कुलक्षणों का चिंतन करने से वैराग्य भावना प्राप्त होती है। वैराग्य भावना से मन संसार के सुखादि बाह्य पदार्थों से विमुख होता है और आत्मा में वैराग्य के संस्कार आते हैं।

इन पांच भावनाओं के प्रभाव से भावना योगी को सविशिष्ट भावना योग प्राप्त होता है। इसके परिणामस्वरूप उत्तर में प्राप्त होनेवाले ध्यान योग की भूमिका का सर्जन होता है अर्थात् ध्यान योग के लिये अनुकूल वातावरण तैयार होता है।

(३) ध्यान योग :-

इसका स्वरूप निम्नानुसार है -

शुभैकालम्बनं चित्तं, ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।

स्थिरप्रदीपसदृशं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥३६२॥ (योगबिंदुः)

- एक शुभ वस्तु के आलंबनवाला, स्थिर दीपक के समान तथा सूक्ष्म उपयोग से युक्त मन को बुद्धिशालियों ने ध्यान कहा है।

→ शुभ एक वस्तु का आलंबन :-

अध्यात्म तथा भावना योग में चिंतन होता है। चिंतन अनेक वस्तुओं का होता है। ध्यान में एक ही शुभ वस्तु का आलंबन होता है। यह आलंबन भी शुभ वस्तु का ही होता है, अशुभ वस्तु का नहीं होता है। विषयों अथवा स्त्री का आलंबन नहीं होता है, बल्कि श्री जिनेश्वर परमात्मा अथवा उनके गुणों का ही ध्यान में आलंबन होता है।

→ ध्यान :

किसी एक विषय की सुनिश्चित एकाग्रता को **ध्यान** कहा जाता है। यह ध्यान एक शुभ वस्तु के आलंबनवाला होता है, पवनरहित स्थान में स्थित दीपक की भांति एक विषय में अत्यंत स्थिर होता है और सूक्ष्म उपयोग से युक्त होता है। अब ध्यान के तीन विशेषणों का विशेष ज्ञान प्राप्त करेंगे।

अनिष्ट संयोग अथवा वियोग के सद्भाव में भी उदासीन भाव स्थिर रहे और उसके बल से मन प्रसन्न रहे, तो यह प्रसन्नता अध्यात्म की सूचक होती है। अध्यात्म के बार-बार के अभ्यास से भावना योग प्रकट होता है और पूर्वोक्त पांच भावनापूर्वक भावना योग का पुनः पुनः सेवन करने से साधक की मनोस्थिति बाह्य पदार्थों से सर्वथा अलिप्त हो जाती है। बाह्य पदार्थ सामने होने के बावजूद उसमें मन-इन्द्रियों का सम्बंध नहीं होता है अर्थात् विषयों के संपर्क में आने के बाद भी मन-इन्द्रियों में कोई विकार भाव नहीं आता है ऐसी स्थिति भावना योग के सुदृढ़ सेवन से प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में साधक एक शुभ आलंबन को पकड़कर उसमें एकाग्र हो जाता है और आसपास के संपूर्ण जगत् को हर प्रकार से भूल जाता है, तब ध्यानयोग प्रकट होता है। अध्यात्म योग में प्रकट हुआ प्रशम भाव भावनायोग में बढ़ता है और ध्यानयोग में अत्यंत सुदृढ़ बन जाता है। इससे ध्यानयोग का साधक एक आलंबन में अत्यंत स्थिर हो जाता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, वर्तमान में बौद्धदर्शन के आधार पर प्रचलित विपश्यनायान अर्थात् विपश्यनाध्यान अर्थात् विपश्यनासाधना शुभ आलंबन वाली नहीं है। उसमें शुभ वस्तु का आलंबन नहीं है। उसमें मन को निर्विषयक बनाने की प्रक्रिया होती है अथवा उसमें भूतकाल को भूलने और भविष्य की चिंता से मुक्त होने की एक प्रक्रिया होती है अथवा इन्द्रियों के विषयों से दूर होकर अन्य स्थल पर मन को लगाकर विकार शांति की प्रक्रिया होती है। वास्तव में यह सच्चा मार्ग नहीं है। **मन को निर्विषयक बनाना साधना नहीं है,**

बल्कि मन को निर्विकल्पक बनाना साधना है। (मन को शून्य बनाना निर्विषयक अवस्था है और विषयों की उपस्थिति में भी उनका संकल्प-विकल्प न होने की अत्यंत अंतर्मुखी अवस्था निर्विकल्पक अवस्था है तथा मन को निर्विकल्प दशा में ले जाने के लिये यम (व्रतों का पालन), नियम (शौच-संतोषादि नियम), आसन (प्रशस्त क्रियाओं की विविध मुद्राएं), भाव-प्राणायाम (रागादि बहिर्भावों का रेचन-ज्ञानादि आंतरिक भावों का और उनका स्थिरीकरण), प्रत्याहार (इन्द्रियों का निरोध) तथा धारणा (वस्तु के एक देश में मन की एकाग्रता), इन छह की आराधना करने के बाद ध्यानयोग प्रकट होता है। इसलिये 'विपश्यनाध्यान' वास्तव में ध्यान नहीं हैं। बल्कि देहाध्यास को पुष्ट करनेवाले और मन को हलका करके सांसारिक रुचि को पोषण देनेवाले हैं। साथ ही उन्मार्ग रूप हैं। इसलिये उनके सेवन से तथा प्रोत्साहन से मिथ्यात्व लगता है-बढ़ता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, मन को निर्विषयक (शून्य) बनाना अथवा अन्य संवादों को सुनते हुए किसी जगह-किसी विषय में स्थिर करना ध्यान दशा नहीं होती है। भूतकाल को भूलने और भविष्य की चिंता से मुक्त होने के लिये जो संवाद सुने जाते हैं, उससे मन की आकुलता-व्याकुलता दूर हो जाती है, इससे मन को राहत मिलती है। परन्तु यह राहत की अवस्था ध्यान दशा नहीं होती है। व्यक्ति उस वातावरण से बाहर निकलता है, तब पुनः भूत-भविष्य की जंजाल शुरू हो जाती है और फिर से वही आकुलता-व्याकुलता पैदा हो जाती है। ध्यान दशा में पहुंचने के बाद तो साधक का द्रव्य-क्षेत्र-काल तथा भाव संबंधी प्रतिबंध पूर्णतः नष्ट हो जाता है। द्रव्यादि का प्रतिबंध उसे कहीं अड़चन नहीं बनता है अर्थात् कोई द्रव्य, कोई क्षेत्र, कोई काल (की घटना-प्रतिघटना) और कोई भाव, उसके मन में राग-द्वेष के द्वंद्व पैदा नहीं कर सकते हैं।

इसके अलावा, विषयों के तीव्र विराग के बिना इन्द्रियों के विषयों से दूर होकर अन्य स्थल पर मन को स्थिर करने से जो विकार शांति होती है, वह

अस्थायी होती है। विषयों की बुराई के ज्ञानपूर्वक उनके प्रति वैराग्य भाव से विषयों से विमुख हुआ जाए उसी में तात्त्विक विकार शांति होती है। निज-पर, निजी-परायों के शुद्ध और तीव्र बोधपूर्वक निज में बसने के लिये जो क्रिया होती है वही अध्यात्म है और उसमें निरंतर एकाग्रता लाना ही ध्यान है।

बोधपूर्वक विषयों से विराम पाना और अन्य आलंबन लेकर थोड़े समय के लिये विषयों से विराम पाना, इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। विपश्यनाध्यान में अन्य प्रकार से विषय से विराम पाने की प्रक्रिया होती है, जो अधूरी होती है। उससे स्थाई विकार शांति नहीं होती है और जो विकार शांति होती है वह भी आभासीय होती है। बाह्य रमणता टूटे और आत्मीय रमणता प्राप्त हो, यह विकार शांति का ध्येय है।

अहिंसा, संयम और तप का दीर्घकाल तक अध्ययन करने से (अर्थात् यम-नियम आदि के दीर्घकालीन सेवन से) ध्यान की जो भूमिका निर्मित होती है, वह तात्त्विक होती है। वातावरण बदलकर अथवा विषय (आलंबन) बदलकर ध्यान की जो भूमिका निर्मित होती है, वह अतात्त्विक होती है। यद्यपि अन्य सांसारिक कार्यों में तथा विषयों की प्रवृत्तियों में लंबे समय तक रचे-पचे रहने से मन में जो संक्लेश-द्वंद्व उत्पन्न हुए हों, उनका विषयांतर होने से विराम होता है, इतने मात्र से यह नहीं मान लेना चाहिये कि ध्यान की प्राप्ति हो गई। यह तो एक प्रकार की राहत है, अध्यात्म या ध्यान नहीं।

इसके अलावा तात्त्विक कोटि के ध्यानकर्ता का विषयों की प्रवृत्तियों में जाने का मन भी नहीं होता है, वह तो जगत से बिल्कुल अलिप्त रहता है। जगत में ही रहने के बावजूद जगत की किसी भी गतिविधि में उसकी रुचि नहीं होती है। ऐसी वस्तुस्थिति में मात्र १०-१५ दिन शिबिर में जाकर पुनः विषयों में तथा सांसारिक कार्यों में व्यस्त हो जानेवाले कैसे ध्यानी कहला सकते हैं ? योगदर्शन के प्रणेता श्री पतंजलि ऋषि भी कहते हैं कि, यम (व्रत), नियम का पालन तथा इन्द्रिय निरोध किये बिना ध्यान की भूमिका निर्मित नहीं होती है।

यहां उल्लेखनीय है कि, आज जैनशासन में विपश्यनाध्यान व प्रेक्षाध्यान आदि के विकल्प के तौर पर नवकार मंत्र आदि का जो ध्यान शुरू हुआ है, वह भी अनुचित है। नवकार मंत्र का ध्यान आत्मबल बढ़ाकर अहिंसा, संयम और तप की साधना के लिये आत्मवीर्य उल्लसित करने हेतु प्रयोजित है। इसके बजाय बाह्य शांति, विघ्न नाश, रोग नाश या अभ्युदय (भौतिक संपत्ति) प्राप्त करने के लिये उपयोग किया जाए तो यह दुरुपयोग है। यह ध्यान मार्ग नहीं है। बल्कि उन्मार्ग है, यह सविशेष ध्यान रखना चाहिये। यह तो कुंए से निकालकर खाई में धकेलने जैसा है। जैसे विपश्यनाध्यान आदि से मिथ्यात्व का पोषण होता है, वैसे ही सांसारिक उद्देश्य से नवकारादि का ध्यान किया जाए तो इससे भी मिथ्यात्व का ही पोषण होता है। पहला लौकिक है, दूसरा लोकोत्तर है। लौकिक से लोकोत्तर अधिक भयंकर है।

दूसरी एक बात भी खास याद रखनी चाहिये कि, मन हलका हो जाए तो उसे अनेक लोग अध्यात्म मान बैठते हैं। परन्तु वास्तव में यह अध्यात्म नहीं होता है, यह तो एक प्रकार का आर्त्तध्यान होता है। क्योंकि, इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के कारण जो राहत प्राप्त होती है, उस राहत के पीछे सूक्ष्म रूप से इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग की चिंता व्याप्त होती है। इष्ट के संयोग अथवा वियोग के सद्भाव में तथा संसार को सारहीन माने बिना संसार के दुःखों में समाधान प्रदान करनेवाला तत्त्व चिंतन भी अध्यात्म नहीं होता है। संसार का शुद्ध बोध हो, संसार के प्रति उद्वेग भाव (अर्थात् निर्वेद) हो और मोक्षाभिलाषा हो, यथाशक्ति व्रतों को स्वीकार किया हो, मैत्री आदि भावनाओं से मन पवित्र हो तब संसार से विमुख होकर तथा मोक्ष के सन्मुख होकर जो तत्त्वचिंतन किया जाता है वह अध्यात्म योग होता है और उसका बार-बार अभ्यास करना भावना योग होता है। भावना योग के दृढ़ अभ्यास से (पूर्वोक्त पांच ज्ञानादि भावनाओं से) ही ध्यान योग की भूमिका का निर्माण होता है।

→ **स्थिर प्रदीप समान :-**

निर्वात (हवारहित) स्थल पर रखे दीप की भांति मन अत्यंत स्थिर होता है अर्थात् दीपक की भांति मन ध्यान के विषय में (ध्येय में) अत्यंत स्थिर होता है।

→ **सूक्ष्म उपयोग से युक्त :-**

मन वस्तु के उत्पाद, व्यय, ध्रुवता आदि विषयों में सूक्ष्म उपयोगवाला होता है।

‘योगभेद बत्तीसी’ में ध्यान का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि, “स्थिरप्रदीप समान धारालग्न ज्ञान रूप उपयोग में (उपयोग का विच्छेद करनेवाला) विजातीय प्रत्यय के अव्यवधानवाला सूक्ष्म आलोचन से युक्त,

निर्वात (हवारहित) स्थल पर रखे दीप की भांति मन अत्यंत स्थिर होता है।
 र्पात दीपक की भांति मन ध्यान के विषय में (ध्येय में) अत्यंत स्थिर होता है।

मन वस्तु के उत्पाद, व्यय, ध्रुवता आदि विषयों में सूक्ष्म उपयोगवाला होता है।

‘योगभेद बत्तीसी’ में ध्यान का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि, “स्थिरप्रदीप समान धारालग्न ज्ञान रूप उपयोग में (उपयोग का विच्छेद करनेवाला) विजातीय प्रत्यय के अव्यवधानवाला सूक्ष्म आलोचन से युक्त,

प्रशस्त एक अर्थ का बोध ध्यानयोग कहलाता है।⁵ और यह ध्यानयोग मन के खेदादि आठ दोषों के त्याग से (नाश से) उत्तरोत्तर बढ़ता है।” (मन के खेदादि आठ दोषों का वर्णन योग की आठ दृष्टि में किया गया है। इसमें प्रत्येक दृष्टि के वर्णन में एक-एक दोष का निरूपण किया गया है और वहां उनके नाश में बोध की भूमिका तथा दोष नाश के लाभ भी दर्शाए गये हैं। इन्हें वहां से देखने का अनुरोध है।)

➡ ध्यान योग का फल :-

निम्नानुसार है।

वशिता चैव सर्वत्र, भावस्तैमित्यमेव च ।

अनुबन्धव्यवच्छेद उदकोऽस्येति तद्विदः ॥३६३॥

→ ध्यान योग का फल इस प्रकार है - (१) वशिता :- सभी कार्यों में स्वाधीनता, (२) भावस्तैमित्य :- अंतःकरण का स्थिर भाव (स्थिर परिणाम) तथा (३) अनुबन्ध व्यवच्छेद :- अशुभ कर्मों की परम्परा का नाश - भव परंपरा बढ़ानेवाले अशुभ कर्मों की परम्परा का नाश।

→ आत्मस्वाधीनता :-

ध्यानरत योगी के लिये स्वाधीनता सहज बन जाती है। अभी तक आत्मा पर कर्म का प्रभुत्व था, वह ध्यान के प्रभाव से टूट जाता है। क्योंकि, ध्यान के बल से आत्मा में अनेक प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं, बहिर्भावों का संपूर्ण संवर होता है और आंतरिक भाव अत्यंत स्थिर बनते हैं। इसलिये कर्म को सफल होने का कोई अवसर नहीं मिलता है। इसके अलावा पूर्व में अध्यात्म की साधना अनेक शुभ आलंबनों के सहारे होती थी, इसलिये आलंबनों की अधीनता रहती है। जबकि ध्यान में आत्मबल से प्रवर्तमान होने के कारण किसी आलंबन की अधीनता नहीं रहती है। इसलिये साधक स्वाधीन हो जाता है। वह स्थल-समय

के बंधन रहित कभी भी और कहीं भी ध्यान में लीन हो सकता है। यद्यपि ध्यान में लीन हुए साधक के लिये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबंध भी नहीं रहता है, इसलिये भी स्वाधीनता आत्मस्थ हो जाती है।

→ भावस्तैमित्य :

(ध्यान के प्रभाव से) बहिर्भावों के संपूर्ण संवर तथा आंतरिक भावों की अत्यंत स्थिरता के कारण मन में अशुभ भाव आने का कोई अवकाश नहीं रहता है। इसलिये मन अत्यंत स्थिर रहता है। अशुभ भाव मन को अशुभ स्थल-विषय में खींच ले जाते हैं और इसी से मन अस्थिर हो जाता है। स्वयं चंचल और अपवित्र स्थल-विषय मन को चंचल बनाते हैं। यद्यपि चंचल-अपवित्र आलंबन अपना बंधन आलंबन लेने वाले के सिर थोपते हैं। जबकि स्थिर-पवित्र आलंबन आलंबनकर्ता को बंधनग्रस्त नहीं बनाते हैं। इसलिये साधक अंततः स्थिर आलंबनों को भी छोड़ सकता है और शुभ आलंबन को छोड़कर संपूर्ण विकल्प रहित भी बन सकता है। ध्यान में एक प्रशस्त आलंबन में अत्यंत स्थिर होने से (रागादि) बहिर्भावों का संपूर्ण संवर (रोकथाम) तथा आंतरिक भावों की अत्यंत स्थिरता-दृढ़ता होती है। इससे मन में एक भी अशुभ भाव नहीं आ सकता है, जिससे मन अत्यंत स्थिर रहता है।

→ अनुबंध व्यवच्छेद :-

ध्यान में सुदृढ़ प्रयत्नवाले योगी के मोहनीय आदि कर्म अनुबंध रहित हो जाते हैं। क्योंकि, ध्यान के प्रभाव से मोहनीयादि कर्मों के अनुबंध अत्यंत क्षीण हो जाते हैं। इसलिये वे अब कर्मों की परंपरा और भव की परम्परा चलाने में समर्थ नहीं होते हैं। पूर्व में मोहनीय कर्म के अनुबंध मिथ्यात्व-अविरति-कषाय- (मोह) की परम्परा और ज्ञानावरणीय कर्म के अनुबंध अज्ञान की परम्परा और अंतराय कर्म के अनुबंध अप्रशस्त योगों की परम्परा चलाते थे। अब उन कर्मों के अनुबंध ध्यान के प्रभाव से अत्यंत क्षीण हो जाने के कारण मोहादि की

परम्परा और मोहादि जनित कर्मों की परम्परा तथा कर्मों से जनित भव परम्परा चलाने में समर्थ नहीं बनते हैं।

(४) समता योग :-

समता योग का स्वरूप निम्नानुसार है -

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।

संज्ञानात् तद्व्युदासेन, समता समतोच्यते ॥३६४॥ (योगबिंदुः)

- अविद्या से अतिशय कल्पित इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में विवेक से इष्ट-अनिष्ट भाव का त्याग करकर, मन की समानता ही समता योग है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, अविद्या से अतिशय कल्पित अर्थात् अनादि की विपरीत वासनावश उत्पन्न हुए “यह वस्तु इष्ट है और वह वस्तु अनिष्ट है” इस प्रकार के विकल्पों से कल्पित इष्ट-अनिष्ट भावना का “निश्चय से कोई वस्तु अनिष्ट नहीं और कोई वस्तु इष्ट नहीं” ऐसे विवेकके बल से त्याग किये जाने से सभी पदार्थों के विषय में समानता प्रकट होती है, उसे ‘समता योग’ कहा जाता है।

परमार्थ से कोई वस्तु इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं है। अनादि की विपरीत मोह वासना के कारण जो वस्तु जब अनुकूल लगती है तब वह इष्ट दिखाई देती है और जो वस्तु जब प्रतिकूल लगती है, तब वह वस्तु अनिष्ट दिखाई देती है। यह इष्ट-अनिष्ट भाव स्थाई नहीं होता है। क्योंकि हर पदार्थ में इष्टत्व और अनिष्टत्व होता ही नहीं है। वह तो मोह वासना से उत्पन्न विकल्पों में होता है। जिस व्यक्ति की सूरत देखना भी स्वीकार न हो, कालांतर में उसी व्यक्ति के बिना एक पल भी न चले ऐसी स्थिति भी उत्पन्न होती है और जिस व्यक्ति के बिना चलता ही न हो, कालांतर में उसी व्यक्ति की सूरत देखना भी स्वीकार न हो, ऐसा भी होता है। यह सब मन की मोह वासना से जन्मे विकल्प हैं। पदार्थों का ऐसा स्वरूप

है ही नहीं। जब यह विवेक प्रकट होता है, तब वस्तु सम्बंधी इष्टत्व-अनिष्टत्व की कल्पना विलीन हो जाती है और सभी पदार्थों के प्रति समानता का भाव प्रकट होता है। इसी से आत्मा में (मन में) समता का संचार होता है।

योग भेद बत्रीसी में कहा गया है कि, वस्तु सम्बंधी इष्टत्व-अनिष्टत्व की कल्पना एकांत व्यवहार नय की कुदृष्टि की देन है। निश्चय नय से निरपेक्ष एकांत व्यवहार नय की कुदृष्टि से वस्तु में इष्टत्व-अनिष्टत्व की कल्पना उत्पन्न होती है। परन्तु जब निश्चय नय के आलोचनरूपी विवेक से सभी पदार्थों में इष्टत्व-अनिष्टत्व के परिहार से उपेक्षा स्वरूप समानता प्रकट होती है, उसे **समता योग** कहते हैं।

► **समता योग का फल :** निम्नानुसार है -

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।

अपेक्षातन्तुविच्छेदः, फलमस्याः प्रचक्षते ॥३६५॥ (योगबिंदुः)

- समता योग का फल इस प्रकार है - **(१) ऋद्धि अप्रवर्तन :-** समता योगी साधना से प्राप्त आमर्षोषधि आदि ऋद्धियों का अपने कार्य के लिये कभी प्रवर्तन नहीं करता है। **(२) सूक्ष्म कर्म का क्षय :-** केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र आदि की प्राप्ति में अवरोधक बननेवाले सूक्ष्म (मोहनीयादि) कर्मों का क्षय होता है। **(३) अपेक्षातंतु का विच्छेद :-** बंधन के कारणभूत अपेक्षा का तंतु नष्ट होता है। (जैसे तंतु बांधता है, वैसे ही अपेक्षा भी कहीं न कहीं बांधती है। इसलिये अपेक्षा को तंतु की उपमा दी गई है।)

समता योगी आत्मभाव में अत्यंत स्थिर रहता है, क्षायिक भाव के ज्ञानादि गुणों का इच्छुक होता है। फिर भी उसकी प्रकट रूप से कोई अपेक्षा नहीं होती है और मोह के किसी प्रतिनिधि को चित्त प्रदेश में नहीं फरकने देता है। इसलिये वह प्राप्त ऋद्धियों का कभी भी अपने निहित स्वार्थ के लिये उपयोग नहीं करता है। हृदय में समता प्रकट न हुई हो तो संप्राप्त शक्ति-ऋद्धि जीवात्मा को मोह का

परिणाम प्रकट करके उन लब्धियों का स्वयं के लिये उपयोग करने हेतु प्रेरित करती है। हृदय में समताभाव स्थिर हुआ हो तो ध्येयनिष्ठा बिल्कुल भी विचलित नहीं होती है। इससे संप्राप्त ऋद्धियों का उपयोग करने का परिणाम भी प्रकट नहीं होता है।

समता योगी को क्षायिक भाव के गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती है। **आत्मगुणों से अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की अपेक्षा हो, तो वह बंधन का कारण बनती है।** समता योगी आत्मभाव में अत्यंत स्थिर होने के कारण तथा ज्ञानादि गुण स्वयं की आत्मा में ही दिखने के कारण उनके प्रति प्रकटरूप से अपेक्षा नहीं रखते हैं। किसी भी वस्तु-अवस्था का ध्येय होना और उसकी अपेक्षा होने में बहुत अंतर होता है। जहां अपेक्षा है, वहां उत्सुकता होती है और जहां ध्येय-निष्ठा-प्रतिबद्धता होती है, वहां उत्सुकता नहीं होती है। समता योगी की ध्येय के प्रति जबरदस्त प्रतिबद्धता होती है। परन्तु ध्येय प्राप्ति की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिये उनका ध्येय की ओर प्रयाण सहज ही होता है। अपेक्षाकृत ध्येय की ओर प्रस्थान में मन चंचल होता है और अपेक्षारहित समतापूर्ण ध्येय की ओर प्रयाण में मन अत्यंत स्थिर होता है।

यहां उल्लेखनीय है कि, योगभेद बत्तीसी में कहा गया है कि, समता के बिना ध्यान नहीं और ध्यान के बिना समता नहीं। इसलिये ध्यान व समता परस्पर एक-दूसरे की पूरक होने के कारण अविरत (व्याघात रहित, निरंतर) प्रवाहवाले होते हैं। सामान्यतः ध्यान से समता की वृद्धि होती है और समता से ध्यान की वृद्धि होती है।⁷ परन्तु इन दोनों के बीच निश्चित व्याप्ति नहीं है, यह याद रखना चाहिये।

➡ वृत्तिसंक्षय योग :-

इस योग का स्वरूप निम्नानुसार है -

अन्यसंयोगवृत्तीनां, यो निरोधस्तथा तथा ।

अपुनर्भाविरूपेण, स तु तत्संक्षयो मतः ॥३६६॥ (योगबिंदुः)

- अन्य के संयोग के कारण होनेवाली वृत्तियां पुनः न हों, इस प्रकार तिस तिस काल में क्षय होने को **वृत्तिसंक्षय योग** कहा जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, आत्मा स्वभाव से ही तरंगरहित महासमुद्र की भांति अत्यंत स्थिर होती है। आत्मा की विकल्प रूपी सभी वृत्तियां और परिस्पंद रूपी समस्त वृत्तियां अन्य के संयोग से होती हैं। विकल्प रूपी (विचार स्वरूप) वृत्तियां ऐसे प्रकार के मनोद्रव्य के संयोग से होती हैं और परिस्पंद रूपी (शरीर के हलन-चलन रूपी) वृत्तियां शरीर से होती हैं। विकल्प रूपी वृत्तियों का केवलज्ञान की प्राप्ति के दौरान क्षय होता है और परिस्पंद रूपी वृत्तियों का अयोगी केवली बनता है तब क्षय होता है।

→ वृत्तिसंक्षय योग का फल :

निम्नानुसार है -

अतोऽपि केवलज्ञानं, शैलेशीसम्परिग्रहः ।

मोक्षप्राप्तिरनाबाधा, सदानन्दविधायिनी ॥३६७॥ (योगबिंदुः)

- वृत्तिसंक्षय योग से केवलज्ञान, शैलेशी स्वीकार, व्याबाधा से रहित व आनन्ददायक मोक्ष की प्राप्ति होती है। वृत्ति संक्षय से केवलज्ञान की प्राप्ति, शैलेशी अवस्था की प्राप्ति और अंततः मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तीन प्रकार की मनोगुप्ति में अध्यात्मादि पांच योग समाविष्ट होते हैं :- प्रथम अभ्यास रूप प्रवृत्ति और स्थिरता, (उत्कर्ष की चरमसीमा) द्वारा प्राप्त दो प्रकार की मनो गुप्ति में अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता ये चार योग समाविष्ट होते हैं। और तीसरी मनो गुप्ति में वृत्ति संक्षय योग का समावेश होता है।⁸ (तीन प्रकार की मनोगुप्ति का वर्णन छठवें गुणस्थानक के निरूपण में देखें।)

➡ 'योग' के अन्य प्रकार से भेद :-

योगशास्त्रकारों ने अन्य प्रकार से भी योग के भेद दर्शाये हैं, जो इस प्रकार हैं।

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं, सानुबन्धस्तथापरः ।

साश्रवोऽनाश्रवश्चेति, संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥३२॥ (योगबिंदुः)

- योग शास्त्रकारों ने नामभेद से तात्त्विक और अतात्त्विक तथा सानुबंध और निरनुबंध, साश्रव और निराश्रव। इस प्रकार दो-दो प्रकार के योग बताये हैं।

तात्त्विक अर्थात् परमार्थ से होनेवाला और उससे भिन्न **अतात्त्विक**। अनुबंध से सहित **सानुबंध** और अनुबंध से रहित **निरनुबंध**। **साश्रव** अर्थात् दीर्घ संसार रूपी फल देनेवाला कर्म बंधन से युक्त। उससे विपरीत **निराश्रव** ।

➡ अध्यात्मादि योग में तात्त्विकता-अतात्त्विकता^९ :-

अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टि जीवात्मा में अध्यात्म तथा भावना यह दो योग व्यवहार नय से तात्त्विक होते हैं और चारित्री जीवात्मा में (देशचारित्री व सर्वचारित्री में) यह दो योग निश्चय नय से तात्त्विक होते हैं अर्थात् प्रथम व चतुर्थ गुणस्थानक में अध्यात्म तथा भावना योग व्यवहार से तात्त्विक होते हैं और पांचवें-छठवें गुणस्थानक में यह दोनों योग निश्चय से तात्त्विक होते हैं। व्यवहार से कारण में कार्य के उपचार से कारण भी कथंचित् कार्य स्वरूप होने से उपचार से भी वस्तु तात्त्विक मानी जाती है। निश्चय नय उपचार को नहीं मानता है। वह अनुपचरित योग चारित्री को मानता है। गुणसम्पन्न गुणस्थानक से जो बाहर होते हैं, ऐसे सकृद्बन्धक तथा द्विकृद्बन्धक में व्यवहार और निश्चय दोनों से अतात्त्विक योग ही होता है। क्योंकि, उन्होंने अभी तक शुद्ध परिणाम प्राप्त नहीं किया होता है। इस कारण उनका योग प्रायः अनर्थकारी फल देनेवाला ही होता है और उनका मात्र वेष और भाषा ही योगी जैसे होते हैं। परन्तु वे अंतःकरण से श्रद्धा शून्य ही होते हैं। इसलिये मात्र बाह्य वेष ही योगी का होता

है, परन्तु उनके अंतःकरण में मार्ग के प्रति अंशमात्र भी श्रद्धा नहीं होती है।

चारित्र्य के ध्यान, समता और वृत्ति संक्षय इन तीनों योगों को उत्तरोत्तर शुद्धि की अपेक्षा से तात्त्विक ही मानना चाहिये, चारित्र्य के अतिरिक्त अन्य जीवात्माओं के योगों को नहीं। जैसे-जैसे चारित्र्य की शुद्धि प्राप्त होती है, वैसे-वैसे ध्यान आदि योग की प्राप्ति होती है। ध्यान व समतायोग परमउपेक्षासंयमवाले चारित्र्य में ही होते हैं और वृत्तिसंक्षययोग सयोगी व अयोगी केवली में होता है।

→ तात्त्विक-अतात्त्विकादि भेदों का स्वरूप¹⁰ :-

पूर्व में अध्यात्मादि पांच योगों में तात्त्विकता-अतात्त्विकता की चर्चा की। यहां योगबिंदु ग्रंथ में अन्य प्रकार से तात्त्विक-अतात्त्विक, सानुबंध-निरनुबंध, साश्रव-निराश्रव योगों का जो स्वरूप बताया गया है, उसके विषय में अब देखेंगे।

→ तात्त्विक-अतात्त्विक योग :-

मोक्ष की ही इच्छा से किया जानेवाला योग सद्भूत है, वही तात्त्विक है अर्थात् जो योग एकमात्र मोक्ष की अभिलाषा से किया जाता है, वह तात्त्विक होता है। उससे भिन्न योग लोकचित्त की आराधना रूप होने से अर्थात् लोगों के मन को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये किया जाता है, इसलिये वह अतात्त्विक कहलाता है।

→ सानुबंध-निरनुबंध योग :-

जो योग मुक्तिपर्यंत अखंडित रहता है, वह सानुबंध होता है और जिस योग की परम्परा टूट जाती है, वह निरनुबंध होता है। अलग शैली में इन दोनों योगों को दर्शाते हुए योगविवेक बत्तीसी में कहा गया है कि, अपाय रहित योग को सानुबंध कहा जाता है और अपाय के सद्भाववाले योग को निरनुबंध

कहा जाता है। योग में बाधक बननेवाले निरूपक्रम कर्म को ही **अपाय** कहा जाता है। इसलिये निरूपक्रम कर्मवाले साधक का योग मुक्ति पर्यन्त अखंडित नहीं रहता है। इसलिये वह **निरनुबंध** होता है और निरूपक्रम कर्मरहित साधक का योग मुक्ति पर्यन्त अखंडित रहता है, इसलिये वह **सानुबंध** होता है।

→ साश्रव-निराश्रव योग :-

जिस योग में दीर्घ संसार है, वह **साश्रव** है और जिस योग में संसार अल्प है, वह **निराश्रव** है अथवा अपायवालों के लिये बहुजन्मों का कारक योग **साश्रव** है और निश्चयप्रापक व्यवहारनय से एक जन्मवाला **अनाश्रव योग** कहलाता है। (योगविवेक बत्तीसी)।

इच्छायोग-शास्त्रयोग-सामर्थ्ययोग

योगदृष्टिसमुच्चय तथा योगविवेक बत्तीसी में योग के निम्नानुसार तीन प्रकार बताये गये हैं -

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।

गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते ॥१॥

- इच्छा, शास्त्र और आत्म सामर्थ्य का आश्रय लेकर जो तीन प्रकार का योग निर्व्याज (दंभरहित) किया जाता है, उसे योग शास्त्रकार (क्रमशः) इच्छायोग, शास्त्रयोग व सामर्थ्ययोग कहते हैं। **सव्याज (दंभ-कपट सहित) योग**, योग नहीं बल्कि योगाभास होता है। उसकी योग में गणना नहीं होती है।

मुझे योग का सेवन करके संसार का अंत करना है और मोक्ष प्राप्त करना है, इस प्रकार का आशय हो, वह निर्व्याज (दंभ रहित) आशय है और ऐसे आशय पूर्वक इच्छा, शास्त्र और आत्मसामर्थ्य का आश्रय लेकर जो किया जाता है, वही योग कहलाता है।

जिस योग का सेवन निर्व्याज नहीं है, वह मात्र योगाभास होता है। योग का सेवन करके संसार से तरने का आशय नहीं है, बल्कि संसार की पुष्टि करने, लोकरंजन अथवा कीर्ति-स्पृहा की अपेक्षा है, तो वह योग नहीं होता है, बल्कि योगाभास होता है। वह मात्र बाह्य आचरण ही होता है। उसमें अंतर्तत्त्व का उद्भासन नहीं होने से वह योगाभास होता है। उसकी गणना योग में नहीं होती है। अब योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ के आधार पर क्रमशः तीनों योगों का स्वरूप देखते हैं।

→ **इच्छायोग :-** इसका स्वरूप निम्नानुसार है -

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य, ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।

विकलो धर्मयोगो यः, स इच्छायोग उच्यते ॥३॥

- जिसने आगम के अर्थ सुने हैं और उनके अनुसार दंभ रहित अनुष्ठान करने की इच्छावाले ज्ञानी को भी प्रमाद से जो विकल (अपूर्ण) धर्मयोग होता है, वह **इच्छायोग** कहलाता है।

→ धर्मानुष्ठान करने की भगवान की क्या आज्ञा है ? जिसे इसका ज्ञान है तथा उसी प्रकार का उसे क्षयोपशम प्राप्त होने से उसमें निर्व्याज (कपट रहित) धर्मानुष्ठान करने की इच्छा भी है। फिर भी विकथा आदि प्रमाद के कारण जो कालादि की विकलतावाला (अपूर्ण) धर्मानुष्ठान होता है, उसे **इच्छा योग** कहा जाता है।

→ शास्त्रानुसार धर्मानुष्ठान करने की इच्छा हो, परन्तु प्रमाद के कारण शास्त्रानुसार न होता हो, वह इच्छा योग कहलाता है। मोक्ष की इच्छा प्रकट होने के बाद मोक्ष के उपाय जानने और यथाशक्ति उन उपायों का सेवन करने की इच्छा जागृत हुई हो तथा दम्भ रहित अनुष्ठान करने का प्रयत्न भी हो रहा हो, फिर भी विकथा आदि प्रमाद के कारण जिस काल में जिस विधि से अनुष्ठान करना हो, उस काल में वैसी विधि से प्रमाद के कारण अनुष्ठान न होता हो, तो

वह धर्मानुष्ठान **इच्छा योग** कहलाता है।

→ प्रमाद खटकता हो, उसे त्यागने की पूरी तैयारी हो, फिर भी कर्मोदय से प्रमाद होता हो, उसका धर्मानुष्ठान इच्छा योग की भूमिका में आ जाता है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद भी यदि कोई आगे बढ़ने से रोकता हो तो वह प्रमाद ही है। इस प्रमाद का त्याग किये बिना शास्त्र योग प्राप्त नहीं होता है और उसके बिना सामर्थ्य योग प्रकट नहीं होता है तथा उसके बिना घाती कर्मों का संपूर्ण नाश नहीं होता है।

→ जिसके हृदय में संसार सुख, सुख के साधन तथा धनसंपत्ति, इन सभी को प्राप्त करने की इच्छाएं मंद होती जाएं और मोक्ष सुख को प्राप्त करने, मोक्ष सुख के उपाय जानने और वे उपाय करने की इच्छाएं तीव्र होती जाएं, उसे इच्छा योग प्राप्त हो जाता है।

→ अनादिकाल की गलत आदतों को छोड़ने के लिये इच्छायोग को प्रथम बताया गया है। इच्छाएं और प्रवृत्तियां बदलने से संस्कार बदलते हैं और संस्कार बदलने से बुरी आदतें छूटती हैं और अच्छी आदतें पड़ती हैं। औदयिक-भाव में रमनेवाली आत्मा का क्षयोपशम भाव में रमण कराने के लिये पहले इच्छा योग बताया गया है। औदयिकभाव में रमनेवाली आत्मा में अप्रशस्त इच्छाएं जागृत होती हैं। अप्रशस्त इच्छाएं अप्रशस्त कार्यों में जोड़ती है। इससे आत्मा में पाप कर्मों का बंध- उपार्जन होता है और उसमें खराब संस्कारों का सिंचन भी होता है। खराब संस्कारों के उदय में पुनः अप्रशस्त इच्छाएं और प्रवृत्तियां होती हैं। पुनः पुनः खराब संस्कार, असद् इच्छाएं और असद् प्रवृत्तियों का क्रम चलता रहता है। इस क्रम को तोड़कर आत्मा को मोक्षमार्ग पर इच्छायोग ही ले जाता है। इच्छायोग से आत्मा में अच्छे संस्कारों का सिंचन होता है और अनादि की खराब आदतें छूटती हैं। इससे पूर्वोक्त विषयचक्र शिथिल होता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, अपनी इच्छानुसार धर्म करना वह इच्छायोग नहीं है, बल्कि भगवान की आज्ञानुसार करने की इच्छा होने के बावजूद प्रमाद के कारण पूर्ण न हो, परन्तु अंशतः भी ऐसा करने के लिये प्रयत्नशील होना इच्छायोग कहलाता है।

इच्छायोग के सेवन से जैसे-जैसे क्षयोपशम भाव बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रमाद के प्रति अरुचि तीव्र बनती है और इससे प्रमाद का परिहार संभव बनता है। जिस प्रमाण में प्रमाद का परिहार होता है, उसी प्रमाण में अनुष्ठान से विकलता दूर होती है और अविकल अनुष्ठान के सन्मुख पहुंचता है। शास्त्रानुसार अनुष्ठान करने की ही भावना फलीभूत होने के संयोग उत्पन्न होते हैं।

इच्छायोग का सेवन करते-करते मोहनीय आदि कर्मों का क्षयोपशम भाव तीव्र होता है, तब श्रद्धा-संवेग भी तीव्र होते हैं और इससे प्रमाद का परिहार होता है तथा साधक को शास्त्रयोग की प्राप्ति होती है। इच्छायोग गुणस्थानक एक से छह तक होता है। अब शास्त्रयोग का स्वरूप देखेंगे।

➡ **शास्त्रयोग :-** इस योग का स्वरूप निम्नानुसार है।

शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो, यथाशक्त्यप्रमादिनः ।

श्राद्धस्य तीव्रबोधेन, वचसाऽविकलस्तथा ॥४॥

- चारित्र मोहनीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से संप्रत्ययात्मिकसत् प्रतीतिपूर्वक की श्रद्धावाली और प्रमादरहित (- अप्रमत्त) चारित्रवाली आत्मा का सूक्ष्म बोधपूर्वक का आगमानुसारी कालादि से अविकल (संपूर्ण) धर्मानुष्ठान **शास्त्र योग** कहलाता है।

योगविवेक बत्तीसी में शास्त्रयोग का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि, “तीव्र श्रद्धा और तीव्र बोध से शास्त्र के अर्थ की अखंड आराधना होने से शक्ति का उल्लंघन रहित अप्रमादी का अनुष्ठान **शास्त्रयोग** कहलाता है।¹¹”

इच्छायोग का अनुष्ठान भावपूर्वक बार-बार करने से घाती कर्मों का क्षयोपशम

उत्तरोत्तर बढ़ता है और एक समय क्षयोपशम भाव इतना तीव्र हो जाता है कि, साधक के श्रद्धा और बोध अत्यंत तीव्र हो जाते हैं। इससे संवेग-निर्वेद के परिणाम भी उत्तरोत्तर तीव्र होते हैं, इससे सभी प्रमादों का जीवन से परिहार हो जाता है और अप्रमत्त भाव उजागर होता है। इस अप्रमत्त भाव की विद्यमानता में कालादि तथा आशयादि की निर्मलता की संपूर्णता अनुष्ठान में जुड़ती है, तब वह शास्त्र योग कहलाता है। तीव्र श्रद्धा-तीव्र बोध के कारण हेय-उपादेय तत्त्वों का संवेदन यथार्थ हो और अप्रमत्त भाव के कारण कालादि की विधि पूर्णतः सुरक्षित होती है, तब शास्त्रयोग प्राप्त होता है।

► **सामर्थ्ययोग :-** इस योग का स्वरूप निम्नानुसार है।

शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।

शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥५॥

- शास्त्र निर्दिष्ट उपायों से अतिक्रान्त विषयवाला और आत्मा के प्रबल सामर्थ्य से उत्पन्न होनेवाला उत्तम योग **सामर्थ्ययोग** कहलाता है।

सामर्थ्य योग के दो प्रकार हैं। प्रथम सामर्थ्य योग आठवें गुण स्थानक से बारहवें गुण स्थानक तक होता है और दूसरा सामर्थ्य योग शैलेषी अवस्था में होता है। इसका विशेष विवरण आगे के प्रकरण में दिया गया है।

इच्छायोग में इच्छा की प्रधानता होती है। शास्त्रयोग में शास्त्र की प्रधानता होती है। सामर्थ्ययोग में आत्मा के सामर्थ्य की प्रधानता होती है।

इच्छायोग में शास्त्रानुसारी अविकल अनुष्ठान करने की इच्छा होती है। प्रमाद का परिहार करने के प्रयत्नपूर्वक शास्त्रानुसारी इच्छा योग के बार-बार सेवन से चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने से विशिष्ट कोटि का अप्रमाद भाव प्राप्त होता है और इससे शास्त्र योग प्राप्त होता है। शास्त्र योग का बार-बार सेवन करने से अप्रमत्त भाव की स्थिरता बढ़ती है और इससे आत्मा का सामर्थ्य प्रकट होता है तथा इससे सामर्थ्य योग की प्राप्ति होती है। इस भव में इच्छा योग

तथा शास्त्र योग की प्राप्ति हो सकती है तथा सामर्थ्य योग की भूमिका का हृदय में बीजारोपण किया जा सकता है।

- इच्छायोग प्रथम से छठवें गुणस्थानक तक होता है। शास्त्रयोग मुख्यतः सातवें गुणस्थानक में और गौण रूप से छठवें गुणस्थानक में होता है। सामर्थ्य योग आठवें से बारहवें गुणस्थानक तक होता है। इच्छायोग का फल शास्त्रयोग है। शास्त्रयोग का फल सामर्थ्ययोग है और सामर्थ्ययोग का फल केवलज्ञान है। इच्छायोग में प्रमाद का परिहार करके शास्त्रानुसारी अनुष्ठान करने की साधना होती है। शास्त्रयोग में अप्रमत्त रहकर क्षयोपशम भाव को चरमसीमा पर पहुंचाने की साधना होती है और सामर्थ्ययोग में क्षायोपशमिक क्षमादि धर्मों का त्याग करके क्षायिक धर्मों की प्राप्ति में अवरोधक बननेवाले सूक्ष्म कर्मों का नाश करने की साधना होती है।

-: स्थानादि पांच योग :-

→ योग का सामान्य-विशेष स्वरूप :

सामान्यतः योग का स्वरूप और विशेषतः योग का स्वरूप दर्शाते हुए योग विशिका ग्रंथ में कहा गया है कि,

मुख्येण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।

परिशुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण ॥१॥^A

- मोक्ष से जोड़ने के कारण परिशुद्ध धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया) 'योग' कहलाता है। विशेषकर स्नानादिगत धर्म व्यापार 'योग' कहलाता है।

प्रणिधानादि आशय से विशुद्धि वाला सभी धर्म व्यापार (धार्मिक क्रिया)

A यही बात ज्ञानसार के योगाष्टक में इस प्रकार की गई है। मोक्षेण योजनाद्योग सर्वोऽप्याचार इष्यते। विशिष्य स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥२७-१॥ 'योग' कहलाता

है। प्रणिधानादि के आशयरहित धर्म योग नहीं होता है। बल्कि अप्रधान द्रव्य क्रिया स्वरूप होता है और इसीलिये वह तुच्छ कहलाता है। ऐसी धार्मिक क्रिया (द्रव्य क्रिया) से 'मोक्ष के साथ योजन रूपी' इच्छित फल प्राप्त नहीं होता है अर्थात् ऐसी धार्मिक क्रिया से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। (प्रधान द्रव्य क्रिया और अप्रधान द्रव्य क्रिया के विषय में पूर्व में चर्चा की है। उसे समझकर यहां पर की जा रही बात को उसके साथ सुसंगत करना है।) इसलिये कोई भी धर्म मोक्ष का कारण नहीं बनता है। बल्कि प्रणिधानादि पांच आशय (भाव) से विशुद्ध हुआ धर्म ही योग बनता है और वही मोक्ष का भी कारण बनता है।

► प्रणिधानादि पांच आशय :-

वे प्रणिधानादि पांच आशय कौन-से हैं, यह दर्शाते हुए षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि,

“प्रणिधि-प्रवृत्ति-विघ्नजय-सिद्धि-विनियोगभेदतः प्रायः ।

धर्मज्ञैराख्यातः, शुभाशयः पञ्चधाऽत्र विधौ ॥३-६॥”

- धर्मज्ञों ने शास्त्रों में प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग के भेद से पांच प्रकार के शुभाशय बताए हैं। यह पांच आशय भाव स्वरूप हैं, अब क्रमशः पांचों आशयों का स्वरूप देखेंगे।

(१) प्रणिधान आशय :-

प्रणिधान का स्वरूप निम्नानुसार है -

“हीनगुणद्वेषाभावपरोपकारवासनाविशिष्टोऽधिकृतधर्मस्थानस्य कर्तव्यतोपयोगः प्रणिधानम्” (योगविंशिका-१/टीका)

- हीनगुण वालों के प्रति द्वेष न रखनेवाले और परोपकार की वासना से विशिष्ट अधिकृत धर्मस्थान के कर्तव्यता के उपयोग को 'प्रणिधान' कहा जाता है।

मन में हीन गुण वालों के प्रति द्वेष न हो और परोपकार की वासना हो, तब सेवन के लिये सुनिश्चित किये धर्म स्थान के (चैत्य वंदनादि क्रिया के) कर्तव्यता के उपयोग को **प्रणिधान** कहा जाता है। **योग लक्षण ब्रतीसी तथा षोडशक ग्रंथ में प्रणिधान का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि**, प्रणिधान अधिकृत (करने के लिये निर्धारित) धर्म स्थान के अविचलित स्वभाव वाला होता है। इसमें मन स्वयं से निचली भूमिका वाली जीवात्माओं के प्रति कृपालु, परोपकार प्रधान और पाप वर्जित होता है। प्रणिधान अविचलित धर्म स्थान के अविचलित स्वभाववाला होता है। **अर्थात् मोक्ष का लक्ष्य रखकर जो अनुष्ठान करने का निश्चय किया हो, उससे विचलित नहीं होने का निश्चय प्रणिधान कहलाता है।**

स्वयं से निचली भूमिकावाली जीवात्माओं के प्रति द्वेष नहीं होता है, बल्कि उनके प्रति करुणा भाव होता है। स्वयं से नीचे की भूमिकावाली जीवात्माओं के पास भी कम लेकिन गुण तो होते ही हैं। इसलिये उनके हीन गुणों को देखकर अथवा विकल अनुष्ठान देखकर उनके प्रति द्वेष नहीं होता है, बल्कि उनके प्रति करुणा भाव उत्पन्न होता है। हीन गुणवालों के प्रति द्वेष तो नहीं ही होता है, साथ ही उन्हें अधिक गुणवान बनाऊं, अविकल अनुष्ठान करनेवाला बनाऊं, ऐसा परोपकार भाव उत्पन्न होता है।

यह प्रणिधान निरवद्य-वस्तु सम्बंधी होता है अर्थात् निरवद्य अनुष्ठान को करने का निश्चय और ऐसे अनुष्ठान के प्रति अविचलित स्वभाव ही प्रणिधान है। **कोई व्यक्ति संसार के सावद्य कार्य करने का निश्चय करे और उसमें अविचलित रहे वह प्रणिधान नहीं होता है।** यहां स्मरण रखना चाहिये कि जिस साधक के पास कर्तव्य-अकर्तव्य का तात्त्विक विवेक होता है, कर्तव्य को ही करने और अकर्तव्य का त्याग करने की उत्सुकता होती है, कर्तव्य का पालन करने का अवसर आने पर अकर्तव्य से सर्वथा विमुख होकर कर्तव्य के सन्मुख बने, तब तात्त्विक कोटि का **'कर्तव्यता का उपयोग'** प्राप्त होता है और यही **प्रणिधान** आशय होता है।

प्रणिधान धार्मिक प्रवृत्तियों में वेग लाता है और उनमें ऊर्जा फूंकता है। धार्मिक प्रवृत्तियों में जिस एकाग्रता की आवश्यकता होती है, उसके लिये अन्य विषयों का अनुसंधान काटना होता है, यह प्रणिधान से संभव होता है।

भावमल कम होता है तब मन उदात्त बनता है। इससे जीवात्माओं के प्रति वात्सल्यभाव प्रकट होता है और जीवात्माओं को आत्मतुल्य देखने की दृष्टि विकसित होती है। इसलिये जीवात्माओं के दोष, कमियां, त्रुटियां, अक्षमताएं आदि के प्रति सहनशीलता का भाव प्रकट होता है और जीवात्माओं के गुण, अच्छाई, श्रेष्ठता, सामर्थ्य आदि के प्रति प्रमोदभाव प्रकट होता है। मन में मैत्री आदि भावनाओं का परिभावन सहजता से प्रस्फुटित होता है। इससे निचली भूमिका वालों (हीन गुण वालों) के प्रति द्वेष जागृत नहीं होता है। बल्कि करुणा भाव जागृत होता है, उन्हें ऊंचा लाने का भाव जागृत होता है। मनोवृत्तियां तुच्छ हों तो ही हीन गुणवालों के प्रति द्वेष और उत्तम गुणवालों के प्रति ईर्ष्या-असूया उत्पन्न होती है। यद्यपि उदात्त व्यक्ति के मन में संप्राप्त वस्तु अन्य को देने का भाव जागृत हुए बिना नहीं रहता है। यह भाव ही उसके अंदर परोपकार का गुण खींच लाता है।

परोपकार की वासनावाले विशिष्ट हृदय से जो अच्छा कार्य होता है वह सुप्रणिधानवाला होता है। संक्षेप में, मोक्ष का लक्ष्य हो, अकर्तव्य से विमुख हो, मन में निचली भूमिकावालों के प्रति द्वेष न हो बल्कि करुणा हो और उन पर परोपकार करने की भावना हो, ऐसे कर्तव्यता के उपयोग को प्रणिधान कहा जाता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, तात्त्विक परार्थकरण गुण तथा मन की उदात्तता के बिना प्रणिधान प्राप्त नहीं होता है। अब प्रवृत्ति आशय का स्वरूप देखेंगे।

■ (२) प्रवृत्ति आशय :-

इस आशय का स्वरूप निम्नानुसार है -

‘अधिकृतधर्मस्थानोद्देशेन तदुपायविषय इतिकर्तव्यताशुद्धः^A शीघ्रक्रियासमाप्तीच्छादिलक्षणौत्सुक्यविरहितः प्रयत्नातिशयः प्रवृत्तिः।’ (योग विंशिका-१/टीका)

- अधिकृत धर्म स्थान के उद्देश्य से (अर्थात् अपनी भूमिका के अनुरूप धर्मानुष्ठान की सिद्धि के लक्ष्य से) उसके उपायभूत विषय में (अर्थात् तादृश लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों के विषय में) इति कर्तव्यता से शुद्ध (अर्थात् प्रत्येक अनुष्ठान में अनाकुलता से अपनी भूमिका का व्यय (नाश) किये बिना सुनिश्चित क्रम तथा शुद्ध क्रियावाला अर्थात् सभी विषय में शास्त्रानुसार शुद्ध विधिवाला,) जल्दी से क्रिया की समाप्ति करने की उत्सुकता-इच्छादि से रहित धार्मिक क्रिया में किया जानेवाला प्रयत्नातिशय **प्रवृत्ति आशय** कहलाता है।

संक्षेप में, अपनी भूमिका के अनुरूप धर्मस्थान-धर्मानुष्ठान को विशुद्ध बनाने के लक्ष्य से श्रेष्ठ और कुशलतापूर्वक उपायों में उत्सुकतादि दोषरहित प्रयत्न करना **प्रवृत्ति** नामक आशय कहलाता है। (षोडशक ग्रंथ में ‘प्रवृत्ति’ के लक्षण के प्रत्येक पद का इस प्रकार अर्थघटन किया गया है-) **प्रेक्षा-उत्प्रेक्षा से अर्थात् अनुप्रेक्षा-ऊहापोह से युक्त जो उपाय हो उसे कुशलतापूर्ण उपाय कहा जाता है।** हेय-उपादेय तत्त्वों की अनुप्रेक्षा-ऊहापोह द्वारा सूक्ष्मबोध शीघ्र उपस्थित होता है और इस उपस्थित सूक्ष्म बोध सहित जिस उपाय में प्रवृत्ति की जाए, वह उपाय कुशलउपाय कहलाता है। **अप्रमादभाव से उत्पन्न हुए विजातीय (विशिष्ट) प्रयत्न को प्रयत्नातिशय कहा जाता है।** अनुप्रेक्षा-ऊहापोह से प्राप्त सूक्ष्म बोध के कारण धर्मानुष्ठान के प्रति तीव्र सन्मान प्रकट होता है। यह सन्मान ही अनुष्ठान में प्रवृत्ति के लिये अप्रमत्त भाव को खींच लाता है और अप्रमत्त भाव के कारण उपाय सेवन में प्रयत्नातिशय (विशिष्ट प्रयत्न) होता है।

“मेरी यह क्रिया जल्दी सम्पन्न हो” ऐसी इच्छा को उत्सुकता कहा जाता है। इसी प्रकार असमय फल प्राप्त करने की तीव्र इच्छा भी उत्सुकता

कहलाती है तथा अधिकृत कार्य से इतर कार्य की अभिलाषा रखना भी उत्सुकता ही होती है और असमय फल को प्राप्त करने की इच्छा आर्त्तध्यान स्वरूप होती है। ऐसी सभी प्रकार की उत्सुकताओं का त्याग करके उपाय के विषय में जो प्रयत्नातिशय किया जाए उसे प्रवृत्ति आशय कहा जाता है। किसी भी प्रकार की उत्सुकता धार्मिक क्रिया के दौरान मन को चंचल रखती है। इससे धार्मिक क्रिया आत्मस्पर्शी नहीं बन पाती है। जो क्रिया आत्मस्पर्शी नहीं बनती है, वह मात्र काया को ही वासित करके रह जाती है। इससे अनुबंध में परिवर्तन और सकाम निर्जरा नहीं होती है। सातत्यपूर्ण व आत्मस्पर्शी क्रिया ही संस्कार बदल सकती है और आत्मा से राग-द्वेष की चिकनाई दूर करके (घटाकर) कर्म निर्जरा कर सकती है।

संक्षेप में, मोक्ष का लक्ष्य हो, धार्मिक क्रिया से पूर्व सुप्रणिधान हो, (प्रणिधान आशय की विद्यमानता हो), मोक्ष के ही उपायों में कुशलतापूर्वक प्रवृत्ति हो, प्रत्येक अनुष्ठान शास्त्रोक्त करने का ही आग्रह हो और प्रत्येक अनुष्ठान शास्त्रोक्त विशुद्ध सामाचारीवाला हो, अपनी भूमिकाओं के प्रति वफादार हो, क्रिया समाप्ति की जल्दबाजी न हो, फल की उत्सुकता न हो और प्रयत्नातिशय हो, वह प्रवृत्ति आशय होता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, मोक्ष के उपायों में अनाकुलता से प्रवृत्ति हो और यति भाव अथवा श्रावक भाव का (अर्थात् निज-भूमिका का) व्यय (नाश-उल्लंघन) न हुआ हो तो ही इतिकर्तव्यता से शुद्ध प्रयत्नातिशय प्रवृत्ति आशय कहलाता है। अपनी (श्रावक-साधुता की) भूमिका का उल्लंघन करके कोई भी प्रिय क्रिया में प्रयत्नातिशय हो तो वह प्रवृत्ति आशय नहीं होता है। तथा शास्त्र निषिद्ध प्रवृत्ति उत्साह से की जाए, वह भी प्रवृत्ति आशय नहीं होती है। अब तीसरे आशय का स्वरूप देखेंगे।

⇒ (३) विघ्नजय आशय :-

इस तीसरे विघ्नजय आशय का स्वरूप निम्नानुसार है -

विघ्नजयो नाम 'विघ्नस्य जयोऽस्मादि'ति व्युत्पत्त्या धर्मान्तरायनिवर्त्तकः
परिणामः । स च जेतव्यविघ्नत्रैविध्यात्त्रिविधः ।¹⁴

(धर्म में अवरोधक बननेवाले परिणाम को (योग ग्रंथों में) विघ्न कहा जाता है।) और धर्म में अवरोध दूर करनेवाले परिणाम को **विघ्नजय** कहा जाता है। जीतने योग्य विघ्न तीन प्रकार के होने से विघ्नजय भी तीन प्रकार के होते हैं। (१) जघन्य विघ्नजय, (२) मध्यम विघ्नजय और (३) उत्कृष्ट विघ्नजय।

योगमार्ग में प्रवृत्त साधक के मार्ग में बाह्य-आंतरिक दोनों प्रकार के विघ्न आ सकते हैं। यह विघ्न योगमार्ग की प्रवृत्ति में रुकावट पैदा करते हैं। इनसे बचने के लिये विघ्नों पर विजय पाना आवश्यक है। विघ्नजय में विघ्न को दूर करना है अर्थात् विघ्नों पर विजय प्राप्त करना है। वह विघ्न धर्म में अंतराय पैदा करनेवाला परिणाम उत्पन्न न करे, ऐसा पुरुषार्थ करना ही विघ्नजय की साधना है। विघ्न कर्म योग से आता है और अनादिकाल के खराब अभ्यास के कारण सताता है तथा योगमार्ग से विचलित करता है। योगमार्ग से विचलित होने के कारण उसकी साधना में सातत्यता एवं उल्लास बरकरार नहीं रहता है। इससे या तो साधना मंद हो जाती है अथवा साधना बंद हो जाती है। ऐसा न हो, इसके लिये विघ्नजय करना आवश्यक है। अब तीन प्रकार के विघ्नजय को उदाहरण के साथ समझते हैं।

(१) कंटक स्थानीय विघ्नजय : जैसे कोई व्यक्ति कांटों से व्याप्त मार्ग में इष्ट स्थान की ओर गमन करता है तब पैर में कांटा लगने से उसका गंतव्य स्थान की ओर गमन मंद पड़ जाता है अथवा रुक जाता है। जब वह व्यक्ति वह कांटा निकाल देता है तो पुनः उसका निराबाध गमन चालू हो जाता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में प्रवृत्त साधक के मार्ग में कंटक समान शीतोष्णादि परीषद्

विघ्न बनकर आते हैं और तब परीषहों से पीड़ित साधक की मोक्ष मार्ग में निराबाध प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। परन्तु परीषहों को तितीक्षा भावना से सहकर उनकी उपेक्षा करता है तो पुनः मोक्ष मार्ग में निराबाध प्रवृत्ति चालू हो जाती है। (यहां परीषहों को कंटक की तरह दूर नहीं करना है, परन्तु तितीक्षा भावना से परीषह मेरे शरीर को पीड़ा देते हैं, मेरी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ते हैं, बल्कि निर्जरा में सहायक बनते हैं, ऐसी तितीक्षा भावना से) उन पर विजय प्राप्त करना है। यह प्रथम जघन्य विघ्नजय है।

(२) ज्वरस्थानीय विघ्नजय :- वही गमनकर्ता जब बुखार से पीड़ित होता है, तब गमन की इच्छा होने के बावजूद गमन करने में समर्थ नहीं होता है, तब गमनकर्ता को कंटक स्थानीय विघ्न से अधिक यह ज्वरविघ्न गमन करने से रोकता है और इस विघ्न पर जय होने पर गंतव्य स्थान की तरफ विशिष्टगमन चालू होता है। जैसे मोक्षमार्ग में प्रवृत्त साधक पर ज्वर समान शारीरिक रोग विघ्न बनकर आते हैं, तब मोक्षमार्ग में विशिष्ट रूप से प्रवर्तन नहीं हो पाता है, उस समय साधक उन शारीरिक रोगों को तथा रोगों के निमित्तों को दूर करके अथवा सम्यक् तरीके से सहन करने की भावना से उन पर विजय प्राप्त करता है, तो उसका मोक्षमार्ग में पुनः शीघ्रगमन होता है। यह मध्यम विघ्नजय है।

(३) संमोह स्थानीय विघ्नजय :- जिस प्रकार गंतव्य स्थान की ओर जानेवाले यात्री को दिशा-मार्ग का भ्रम हो जाए तब उसका प्रयाण रुक जाता है और जब कोई अन्य व्यक्ति प्रेरित करे तो भी गमन का उत्साह प्रकट नहीं होता है। बल्कि यात्री को ही स्वयं सच्चे मार्ग का (दिशा का) ज्ञान होने पर अथवा अन्य के द्वारा कथित मार्ग-दिशा पर श्रद्धा जागने पर पुनः गमन का उत्साह प्रकट होता है, इसी प्रकार मोक्षमार्ग में दिशामोह समान मिथ्यात्वादि से जनित मनोविभ्रम होना उत्कृष्ट विघ्न है। इससे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति रुक जाती है। इस विघ्न के समय साधक सद्गुरु की शरण लेकर मिथ्यात्वादि की प्रतिपक्ष भावना से मनोविभ्रम को दूर करता है तो उस विघ्न पर विजय प्राप्त करता है और पुनः

मोक्ष मार्ग पर उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होता है। ऐसे विघ्नों के समय गुरु का सान्निध्य स्वीकार करके उनसे आगम ज्ञान प्राप्त करके मिथ्यात्वादि जनित मिथ्या विकल्पों को दूर करने से यह विघ्न दूर होता है।

यहां उल्लेखनीय है कि सुखशीलीयापना, असहनशीलता और स्वच्छंदता के कारण मोक्षसाधना में विघ्न उत्पन्न होता है। परीषह सहन करने में कायर बनाता है, साधना में अनिवार्य रूप से सहन किये जानेवाले कष्टों के प्रति परियाद भावना पैदा करता है और हर जगह शाता (अनुकूलता) खोजने की मानसिकता रखता है। इससे या तो योगमार्ग की त्यागमय साधना प्रारम्भ ही नहीं होती है अथवा कदाचित् प्रारम्भ हो जाए तो ऐसी साधना कभी भी भंग हो जाती है। इसलिये परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिये सुखशालीयापना का त्याग करना अनिवार्य है। काया नाशवान है। उसकी पुष्टि करने में पर-परिणतियों की ही पुष्टि होती है। काया का कितना भी पोषण किया जाए तो भी अंत में तो वह धोखा ही देती है। पोषित काया अंत में तो नष्ट ही हो जाती है तथा उसके लिये किये जानेवाले पाप और सेवित असत् परिणतियां भवान्तर में दुःखी ही करती हैं। इसलिये काया का पोषण करने के स्थान पर ज्ञानपूर्वक उसका दमन करने की आवश्यकता है और वह भी आत्महित के लिये। संसार हेतु अथवा मनपसंद विषय के लिये काया को बहुत कष्ट दिया है। परन्तु वह तो अन्य सुखों की मूर्च्छा के कारण दिया है। इसलिये उससे लाभ नहीं हुआ, बल्कि नुकसान ही हुआ है। इसीलिये **मोक्ष साधना में बाधक न बने और अनिवार्य कष्ट सहने में आनाकानी न करे, इस प्रकार से काया का दमन करना है।** चूंकि काया का दमन किये बिना आत्मा और शरीर के बीच का अभेदज्ञान (अनादिकाल से लिप्त अज्ञान) नष्ट नहीं होगा और इन दोनों के बीच का भेद ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। यह ज्ञान प्राप्त किये बिना सभी बंधन टूटेंगे नहीं। इसलिये भौतिक सुखों की आशंसा खत्म करके सुखशीलीयापना दूर की जाए तो विघ्नों से आसानी से लड़ा जा सकता है।

रोगों की पीड़ा को सहन कर लेने से रोग योगसाधना में विघ्न नहीं डालेंगे और प्रतिबंधक भाव-परिणामों का सृजन नहीं करेंगे। स्वच्छंदता दूर करके शास्त्र तथा आगमज्ञाता भवभीरू संविग्न सद्गुरु की शरण ली जाए तो संमोह स्थानीय विघ्न भी उत्पन्न नहीं होगा।

विघ्नजय से प्रवृत्ति में सातत्य बरकरार रहता है और सातत्यपूर्ण प्रवृत्ति आत्मा में निर्धारित परिवर्तन लाती है। प्रवृत्ति आत्मस्पर्शी और सातत्यपूर्ण बनती है, तो सकाम निर्जरा होती है और अनुबंधों में परिवर्तन होता है।

(४) सिद्धि आशय :-

अतिचाररहिताधिकगुणे गुर्वादौ विनयवैयावृत्यबहुमानाद्यन्विता हीनगुणे निर्गुणे वा दयादानव्यसनपतितदुःखापहारादिगुणप्रधाना मध्यमगुणे चोपकारफलवत्य-धिकृतधर्मस्थानस्याहिंसादेः प्राप्तिः सिद्धिः।¹⁵ [योगविंशिका-१/टीका]

- अधिक गुणसम्पन्न गुर्वादि के विषय में विनय-वैयावच्च-सन्मान आदि से युक्त, हीन गुण या निर्गुण जीवात्माओं के विषय में दया-दान तथा संकटग्रस्त जीवात्माओं के दुःखों को दूर करने स्वरूप गुण रखनेवाली तथा मध्यम गुण वालों के प्रति उपकार के फलवाली अधिकृत (स्वभूमिका के अनुरूप) अतिचार रहित अहिंसादि की प्राप्ति 'सिद्धि' आशय कहलाती है।

इन अहिंसादि धर्मस्थानों की प्राप्ति होने को तात्त्विक सिद्धि मानना चाहिये जो कि अधिक गुणवालों के विषय में विनयादि से युक्त होती है और हीन गुणवालों के प्रति दयादि के गुणवाली होती है। ऐसे 'सिद्धि' आशय की षोडशक ग्रंथ में विस्तार से व्याख्या की गई है। योगलक्षण बन्नीसी में 'सिद्धि' आशय का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि, हीन में कृपायुक्त, मध्यम में उपकारयुक्त तथा अधिक गुणवान में विनययुक्त साक्षात् अनुभव स्वरूप तात्त्विक धर्म की प्राप्ति ही सिद्धि है - सिद्धि आशय है।

यहां यह फलित होता है कि, जिसे अधिक गुणवान लोगों के प्रति सम्मानादि होता है, मध्यम गुणवान लोगों के प्रति उपकार भाव होता है और हीन गुणवालों तथा निर्गुण लोगों के प्रति करुणा भाव होता है, उसी का धर्म स्थान (अहिंसादि) सिद्धि की कोटि का होता है। जब सिद्धि कोटि की अहिंसादि की प्राप्ति होती है, तब योगियों के सान्निध्य में जातिवैरी आदि जीवात्माओं के भी वैरादि नष्ट हो जाते हैं।

यहां उल्लेखनीय है कि, अपने धर्म को सिद्धि कोटि का बनाना हो तो अपने अध्यवसायों को अत्यंत उज्ज्वल बनाना चाहिये। हमारे आसपास भिन्न-भिन्न स्तर के अनेक जीवात्मा रहते हैं। ऐसी अवस्था में संसार क्षेत्र के संस्कारों के अनुसार हीन (निम्न) स्तर के जीवात्माओं के प्रति तिरस्कार, द्वेष आदि होगा, मध्यम स्तर के (समकक्ष) जीवात्माओं के प्रति प्रतिस्पर्धा होगी और उत्तम स्तर के (अपने से उच्च स्तर के) जीवात्माओं के प्रति ईर्ष्या-असूया-द्वेष होगा, तो हम अपने धर्म को सिद्धि कोटि का नहीं बना पाएंगे। बल्कि इन सब विराधक भावों से हमारी आराधनाएं मलीन हो जाएंगी। इस प्रकार तारक के स्थान पर वे मारक बन जाएंगी। क्योंकि विराधक भाव आराधना में विष समान है। इसलिये संसार क्षेत्र के संस्कारों का ज्ञानपूर्वक नाश करके योगग्रंथों की आज्ञानुसार मनोवृत्ति तैयार करना आवश्यक है। जब मनोवृत्ति उदात्त-उदार बनेगी, तो हीन गुणवालों के प्रति दया-कृपाभाव, मध्यम गुणवालों के प्रति उपकार भाव तथा उत्तम गुणवालों के प्रति सन्मान भाव प्रकट होगा। एक बात स्मरण रखनी चाहिये कि, धर्मकरण का काल बढ़ने के साथ कषाय भी बढ़ेंगे तो संसार क्षेत्र के संस्कार या तो नष्ट नहीं होंगे अथवा मृतप्रायः हो चुके संस्कार पुनः जागृत हो जाएंगे और ऐसे संस्कार योगमार्ग से पीछेहट करने के लिये विवश करेंगे। सच्चे आराधक की तो सभी जीवात्मा मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ें, प्रगति करें, यही सद्भावना होती है, वह किसी को अपना प्रतिस्पर्धी नहीं मानता है और किसी के उत्कर्ष से ईर्ष्या नहीं करता है और न ही किसी के गुण-वैभव में दोष खोजने का प्रयत्न करता है। अब विनियोग आशय का

स्वरूप देखते हैं।

(५) विनियोग आशय :-

स्वप्राप्तधर्मस्थानस्य यथोपायं परस्मिन्नपि सम्पादकत्वं विनियोगः, अयं चानेकजन्मान्तरसन्तानक्रमेण प्रकृष्टधर्मस्थानावाप्तेरवन्ध्यो हेतुः। [योग-विंशिका-१/टीका]

- स्वयं को प्राप्त धर्मस्थान का यथायोग्य ढंग से अन्य में भी संपादन करना- अन्य को भी उसकी प्राप्ति कराना **विनियोग** नामक आशय है। यह विनियोग अनेक जन्मों की परम्परा के क्रम से प्रकृष्ट धर्म स्थान की प्राप्ति का अवन्ध्य (सफल) उद्देश्य है।

षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि, “सिद्धि के बाद अगला कार्य विनियोग है। यह विनियोग करने सिद्ध हुआ अहिंसादि धर्मस्थान सफल होता है। विनियोग करने अहिंसादि धर्मस्थानों की परम्परा की स्वर्ण घट के न्याय से अखंड धारा-प्रवाह चलती है और इससे अंत में प्रकृष्ट अहिंसादि धर्म स्थान की प्राप्ति होती है। इसलिये विनियोग किया जानेवाला अहिंसादि धर्मस्थान सुंदर है।”

स्वयं को प्राप्त ज्ञानादि को (अपने श्रम का विचार किये बिना) यथायोग्य ढंग से अन्य योग्य जीवात्माओं को देना, वह ‘**विनियोग**’ कहलाता है। जिसे तात्त्विक कोटि की सिद्धि प्राप्त होती है, उसके जीवन में **विनियोग** अर्थात् परोपकार गुण अवश्य आता है। कुछ विशेष प्रकार के संयोगों के कारण वह कदाचित् प्रकट रूप से विनियोग न कर सकता हो, तो भी उसमें उसका परिणाम तो अवश्य होता ही है। **विनियोग से संप्राप्त धर्म सानुबंध बनता है - उत्तरोत्तर बढ़ता है। भवान्तर में साथ आता है और क्रमशः बढ़ता है।**

● प्रणिधानादि से सानुबंध धर्मप्राप्ति :-

षोडशक तथा योगविंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि, रागादि मल के विगम (नाश) से (प्राप्त होनेवाली) पुष्टि तथा शुद्धिवाला जो चित्त है, वह धर्म

है। पुण्य के उपचय को पुष्टि कहा जाता है और घाति कर्मों के - पापों के क्षय से आत्मा निर्मल बनती है, वह शुद्धि कहलाती है। जब पुष्टि और शुद्धि सानुबंध बनती है, तब क्रमिक रूप से मुक्ति की प्राप्ति होती है।¹⁶ यह दोनों, प्रणिधानादि आशय (भाव) से अनुबंधवाली बनती हैं। इस अनुबंध से शुद्धि का प्रकर्ष होता है और अनुबंध के बिना पुष्टि तथा शुद्धि अशुद्धिफलक बनती हैं अर्थात् अशुद्धि रूप फल देनेवाली बनती हैं। इसलिये वह धर्मरूप नहीं बनती हैं। इसलिये प्रणिधानादि भाव से परिशुद्ध संपूर्ण धर्मव्यापार सानुबंध होने से 'योग' होता है।

→ तात्त्विक दृष्टि से प्रणिधानादि की संभव:-

प्रणिधानादि आशय से पुष्टि और शुद्धि सानुबंध बनती है और यह प्रणिधानादि तात्त्विक दृष्टि से किसे प्राप्त होता है, यह दर्शाते हुए षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि,

न प्रणिधानाद्याशयसंविदव्यतिरेकतोऽनुबन्धि तत् ।

भिन्नग्रन्थेर्निर्मलबोधवतः स्यादियञ्च परा ॥३-५॥

- प्रणिधानादि भावों की (आशयों की) संवेदना के बिना पुष्टि-शुद्धि सानुबंध नहीं बनती हैं। जिसने ग्रंथि भेदन किया है, ऐसी सम्यग्दृष्टि जीवात्मा में यह पुष्टि-शुद्धि की अनुबंधसामग्री प्रकृष्ट होती है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि प्रणिधानादि स्थूलक्रिया अथवा मात्र शुभ भाव के रूप में आने से ही पुष्टि-शुद्धि सानुबंध नहीं बनती हैं। बल्कि निर्मल बोधपूर्वक अकर्तव्य से परमार्थ से विमुख होकर कर्तव्याभिमुख बनकर कर्तव्यता का उपयोग प्रवर्तें तो प्रणिधानभाव की संवेदना प्रकट होती है। मोक्ष की तीव्र अभिलाषा हो और संसार भंग-नष्ट करने की इच्छा हो, इसके लिये विभाव (रागादि) से विमुख होकर स्वभाव (ज्ञानादि गुणों) के अभिमुख बनने की उत्सुकता हो तथा वह कार्य सिद्ध करने के लिये अकर्तव्यों से विमुख होकर

कर्तव्यों के अभिमुख होकर कर्तव्यता का जो उपयोग प्रवर्तमान होता है, वह प्रणिधान आशय की संवेदना है। अब मात्र धर्म करना है और चलो अब उसकी तैयारी करें, ऐसा उपयोग प्रणिधान आशय की संवेदना नहीं तथा भौतिक सुखों की स्पृहा से कर्तव्यता का उपयोग प्रवर्तमान होता है वह भी प्रणिधान आशय की संवेदना नहीं होती है। अनंतकाल में बहुत धर्म करने के बावजूद कल्याण न होने का कारण, प्रणिधान आशय की संवेदना प्रकट नहीं हुई थी।

भवभय की उपस्थिति में इष्ट विषय में प्रयत्नातिशय आए तो प्रवृत्ति आशय की संवेदना प्रकट होती है। अनंतकाल के बाद भवभ्रमण का अंत करनेवाला अनुष्ठान करने का अवसर मिला है, यह मेरा अहोभाग्य है और अतिशय दुर्लभ अनुष्ठान की ऐसी आराधना कर लेनी है कि जिससे सभी कर्मों का नाश हो जाए और मेरे भवभ्रमण का अतिशीघ्र अंत हो जाए, ऐसी संवेदनापूर्वक अनुष्ठान सेवन में प्रयत्नातिशय प्रकट हो, यह प्रवृत्ति आशय की संवेदना होती है। इसी प्रकार विघ्नजय, सिद्धि तथा विनियोग आशय की संवेदना प्रकट होनी चाहिये।

मेरा अनुष्ठानसेवन अतिचाररहित बने, सातत्यपूर्ण-आत्मस्पर्शी सिद्ध हो और विशिष्ट कोटि की निर्जरा कराए ताकि मेरे संसार का अतिशीघ्र अंत आए। ऐसी संवेदनापूर्वक उपस्थित हुए विघ्नों पर विजय प्राप्त करना विघ्नजय आशय की संवेदना है।

मेरा धर्म परिपूर्ण-अविकल बने, जीवात्माओं के प्रति पूर्ण औचित्यवाला बने, हीन गुणवाले जीवात्माओं के प्रति करुणाभाववाला, मध्यम गुणवाले जीवात्माओं के प्रति परोपकार भाववाला और उत्तम गुणवाले जीवात्माओं के प्रति विनय-सन्मान भाववाला बने तथा इसके योग से मेरे संसार का शीघ्र अंत हो - ऐसी संवेदनापूर्वक अनुष्ठानसेवन सिद्धि आशय की संवेदना है। मुझे प्राप्त धर्म मुक्ति पर्यन्त मेरे साथ रहे तथा लगातार बढ़ता रहे और जगत के सभी जीवात्माओं को यह मोक्षदायक निरवद्य धर्म प्राप्त हो, ऐसी सद्भावनापूर्वक विनियोग किया

जाए तो वह विनियोग आशय की संवेदना होती है।

अभव्य की आत्मा बाह्य दृष्टि से तो प्रणिधानादिभाववाली हो ऐसा ही दिखाई देती है, इसके बावजूद उसकी संवेदना न होने से उसे शुद्धिपुष्टिवत् धर्म की प्राप्ति नहीं होती है। उसका धर्म कोरा पुण्यबंध कराता है, वह सानुबंध नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा के पास (ग्रंथिभेद के कारण) निर्मल बोध होता है, तत्त्व को देखने में अवरोधक बननेवाली राग-द्वेष की तीव्र परिणतिरूपी ग्रंथि का भेदन हो जाए, तो ही तत्त्व का सूक्ष्म-निर्मल बोध प्राप्त होता है। निर्मलबोध की उपस्थिति में संसार, अकर्तव्य, पाप आदि की विमुखता और मोक्ष तथा कर्तव्य की अभिमुखता तात्त्विक बनती है। तात्त्विक अभिमुखता ही धर्म क्रिया में स्थिर बनाती है - एकाग्र बनाती है और इससे धर्मक्रिया आत्मस्पर्शी बनती है। इससे आत्मा में से घातिकर्मों का क्षय (मोहनीय-ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-अंतराय कर्मों का क्षयोपशम) होता है और धर्म क्रिया के सुंदर सुसंस्कारों का आत्मा में सिंचन होता है।

यद्यपि निर्मलबोध की उपस्थिति में सभी भ्रांतियों का उन्मूलन होता है और तत्त्व-अतत्त्व की यथावस्थित निर्णय होता है। साथ ही तत्त्व की ओर झुकाव और अतत्त्व की विमुखता भी तात्त्विक होती है। इन दोनों कारणों से भूतकाल की भ्रांतियुक्त पाप वृत्ति-प्रवृत्ति से आत्मा में जिन घाती कर्मों का सृजन हुआ था, उनका क्षय होता है तथा आत्मा में नये सुसंस्कारों का आधान होता है। यही शुद्धि-पुष्टि है और ऐसा चिल ही शुद्धधर्म है।

संक्षेप में सम्यग्दृष्टि आत्मा में तीव्र मोक्षाभिलाषा होती है, संसार के प्रति तीव्र निर्वेदभाव होता है, मोक्ष के उपायों के विषय में भ्रांतियां नहीं होती है, परिणाम दंभरहित होते हैं और मनोवृत्तियां अत्यंत उदात्त होती हैं, इससे सम्यग्दृष्टि को प्रणिधानादि आशय की तात्त्विक प्राप्ति होती है। इसलिये तात्त्विक कोटि के

प्रणिधानादि आशय की प्राप्ति के लिये ग्रंथि भेद करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना अत्यावश्यक है। (व्यवहार से प्रणिधानादि की प्राप्ति अपुनर्बन्धक को होती है, यह भी हम पूर्व में देख चुके हैं।)

→ प्रणिधानादि भावरूप है :

षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि,

आशयभेदा एते सर्वेऽपि हि तत्त्वतोऽवगन्तव्याः ।

भावोऽयमनेन विना चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा ॥३-१२॥

- पूर्वनिर्दिष्ट प्रणिधानादि सब कथंचित् क्रियारूप होने के बावजूद परमार्थ से (विशिष्ट बाह्य क्रिया से रात होनेवाले) आशय (भाव-अध्यवसाय) स्वरूप होता है। प्रणिधानादि के स्वरूप में क्रियात्मकता होने के बावजूद वह प्रधान नहीं है, अपितु गौण है। मुख्यतः विशिष्ट बाह्य क्रिया से उपलक्षित आशय-भाव-अध्यवसाय है।

→ सानुबन्ध प्रणिधानादिभाव से मोक्ष¹⁷ :-

षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि, सानुबन्ध प्रणिधानादि भाव से क्रमशः शीघ्र मोक्ष प्राप्त होता है। यह प्रणिधानादि ही धर्मतत्त्व है, परमयोग है तथा विमुक्तिरस है। प्रणिधानादि पांचों भाव सानुबन्ध होने के कारण क्रमशः इस भव में अथवा अन्य भव में आत्मा को अविलंब मोक्ष प्राप्त होता है। प्रस्तुत भाव स्वरूप ही धर्म तत्त्व है। (मात्र क्रिया धर्म नहीं, बल्कि प्रणिधानादि भाव स्वरूप ही धर्म का तत्त्व है।) और वह परम योग है। क्योंकि वह अध्यात्म गर्भित है। प्रणिधानादिभाव स्वरूप परमयोग मुक्ति के विषय में विशिष्ट रस स्वरूप है अथवा मुक्ति का विशिष्ट रसास्वाद है। यद्यपि सानुबन्ध प्रणिधानादिभाव स्वरूप धर्म तत्त्व की प्राप्ति होने के बाद समकृति जीवात्मा को तीव्र कर्म योग से पाप करना पड़े तो भी वह भावशून्य होने के कारण बाधक नहीं बनता है। पाप करने के बावजूद पाप के प्रति सन्मानभाव न होने से धर्म के तीव्र उत्साह से उसे शीघ्र

धर्म की सिद्धि प्राप्त होती है। समकिती जीवात्मा की पापप्रवृत्ति स्वारसिक (निजी रुचिवाली) नहीं होती है। इसलिये उसे करते समय क्लिष्ट अध्यवसाय नहीं होते हैं। इसलिये वह बाधक नहीं बनती है। स्वारसिक पापप्रवृत्ति ही योगमार्ग में बाधक बनती है।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि आत्मा की पापप्रवृत्ति स्वारसिक क्यों नहीं होती है ?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि आत्मा का ध्येय मोक्ष है। शीघ्रातिशीघ्र उसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसलिये मोक्ष के उपायभूत संयम जीवन ही उसे स्वीकार करना होता है। सांसारिक भोग सम्यग्दृष्टि का ध्येय नहीं होते हैं। क्योंकि वह सांसारिक सुखों की धूर्तता को अच्छी तरह से समझ जाती है कि यह सुख तो आ-आकर हाथों से खिसक जाता है और साथ ही बरबाद कर देता है, उसे सुख कैसे कहा जा सकता है ? बिल्कुल नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उसे इन भौतिक सुखों की सच्चाई का पक्का बोध होता है। इसीलिये सांसारिक भोगों में उसे अंशमात्र भी रुचि नहीं होती है। उसे उनमें अरुचि ही होती है। इसके बावजूद कर्मयोग से उसे संसार में रहना पड़े तो भी वह उसमें रच-पचकर प्रवृत्ति नहीं करती है। इसलिये उसकी पापप्रवृत्ति स्वारसिक नहीं होती है।

पसंदीदा वस्तु प्राप्त करने के लिये जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति स्वारसिक होती है और नापसंद वस्तु न चाहते हुए भी प्राप्त करने के लिये जो प्रवृत्ति होती है वह अस्वारसिक होती है। सम्यग्दृष्टि को संसार तथा संसार के भोग पसंद नहीं होते हैं। इसलिये उनके लिये जो प्रवृत्ति होती है वह स्वारसिक नहीं होती है और ऐसी अस्वारसिक प्रवृत्ति उसे भोगों में बांधकर नहीं रखती है। विषय-कषाय के बंधन पैदा नहीं करती है। इसलिये वह योगमार्ग में बाधक नहीं बनती है और सम्यग्दृष्टि आत्मा जो धर्मप्रवृत्ति करती है, वह स्वारसिक होती है। इसलिये वह योगमार्ग में बहुत सहायक बनती है।

● **प्रणिधानादिभाव शून्य धर्म से प्रत्यपाय :-** योगलक्षण बन्नीसी में कहा

गया है कि,

“एतैराशययोगैस्तु विना धर्माय न क्रिया । प्रत्युत प्रत्यपाय लोभक्रोधक्रिया यथा ॥१०-१६॥” - इन प्रणिधानादि आशयों के बिना (आशयों के अनुसंधान के बिना) धर्म क्रिया धर्म के लिये नहीं होती है, इससे विपरीत प्रत्यपाय (योग मार्ग में विघ्न) के लिये होती है। वैसे ही जैसे लोभ-क्रोध की क्रिया प्रत्यपाय के लिये होती है। कहने का आशय यह है कि, धर्म क्रिया के काल में यश-कीर्ति-प्रसिद्धि-कामना आदि की स्पृहा हो या परलोक के सुखों की इच्छा हो अथवा अनाभोग के रूप में मन मालिन्य का सद्भाव, हो तो वह प्रणिधानादि आशय रहित क्रियाएं अनर्थ के लिये होती हैं। इससे योगमार्ग में विघ्न बननेवाले क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन होता है, जिनसे योगमार्ग दुर्लभ बन जाता है।

-: स्थानादि पांच योग :-

(योगविंशिका, गाथा-१ की टीका में कहा गया है कि)

हालांकि, निश्चय से सभी परिशुद्ध (प्रणिधानादि आशययुक्त) धर्म व्यापार - धर्म क्रियाएं ‘योग’ हैं। फिर भी विशेषरूप से (योग शास्त्रों की संज्ञाओं द्वारा निश्चित हुए व्यवहार से किये गये विशेष नियमों से) स्थानादि गत ही धर्म व्यवहार ‘योग’ है। स्थान आदि पांच में से किसी एक में योगप्रवृत्ति का व्यवहार योग शास्त्रकारों को सहमत है। स्थानादि पांच योग निम्नानुसार हैं -

ठाणुन्नत्थालंबण रहिओ तंतम्मि पंचहा एसो ।

दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ ॥२॥

- योग शास्त्रों में पांच प्रकार के योग बताये गये हैं। (१) स्थान, (२) ऊर्ण, (३) अर्थ, (४) आलंबन और (५) निरालंबन। इनमें से प्रथम दो कर्मयोग हैं और अन्य तीन ज्ञानयोग हैं। पांचों योग का स्वरूप निम्नानुसार है -

(१) स्थान योग :

स्थीयतेऽनेनेति स्थानम्-आसनविशेषरूपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि सकलशास्त्रप्रसिद्धम् । - जिस के द्वारा स्थिर रहा जाए वह स्थान अर्थात् आसन विशेष है, जो कायोत्सर्ग, पर्यकासन, पद्मासन आदि कई स्वरूप शास्त्रों में बताया गया है।

इस आसन विशेष (मुद्रा विशेष) से काया की स्थिरता प्राप्त होती है। काया की स्थिरता से मन-वचन की स्थिरता भी सिद्ध होती है। तीनों योगों की स्थिरता से आत्मप्रदेशों की चंचलता क्रमशः घटती है और क्रमशः आत्मप्रदेशों की फिसलन भी घटती है। इससे कर्मों का क्षय होता है। इसलिये 'स्थान' भी कर्म क्षय द्वारा मोक्ष से जोड़ने के कारण योग ही है।

(२) ऊर्ण योग :

ऊर्णः-शब्दः स च क्रियादावुच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः - ऊर्ण अर्थात् शब्द। यह धर्म क्रिया के काल में बोले जानेवाले सूत्र के वर्ण समूह का स्वरूप है। मोक्ष की कारण धर्म क्रिया में सूत्रों द्वारा इष्ट आलंबन सहित अनुसंधान करके विभाव की रमणता खत्म करके स्वरूप की ओर गमन होता है। इसलिये 'ऊर्ण' भी कर्म क्षय द्वारा मोक्ष से जोड़ने के कारण योग ही है।

(३) अर्थ योग :

अर्थः शब्दाभिधेयव्यवसायः । - अर्थ अर्थात् शब्दों से व्यक्त किया जानेवाला पदार्थ बोध। सूत्र के शब्दों में जो अर्थ समाहित होते हैं, वे अर्थ सूत्रोच्चार के समय उपस्थित हों तब इष्ट आलंबन से जुड़ाव भावपूर्ण बनता है और इससे भी विभाव की रमणता का हास तथा स्वभाव की ओर गमन होता है। इसलिये 'अर्थ' भी योग है।

(४) आलंबन योग :

आलम्बनम्-बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम् । - आलम्बन अर्थात् बाह्य प्रतिमादि सम्बन्धी ध्यान । जिन प्रतिमादि प्रशस्त विषय के आलम्बन से मन की भटकन रुकती है। मन स्थिर होता है। इससे धर्मक्रिया में एकाग्रता प्राप्त होती है। एकाग्रता से की गई धर्मक्रिया से विशिष्ट कोटि की निर्जरा होती है। इसलिये आलम्बन भी योग है। कोई प्रशस्त आलम्बन का ध्यान, आलम्बन ध्यान कहलाता है और वह मोक्ष से जोड़ने के कारण योग है।

(५) निरालम्बन योग :

रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूपः । - रूपी द्रव्य के आलम्बन रहित निर्विकल्प ज्ञान ही उपयोग-समाधि रूप निरालम्बन योग है।

षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि, यह स्थानादि पांचों मोक्ष से जोड़ने में समर्थ हैं, इसलिये शास्त्रकार इन्हें योगाभ्यास कहते हैं। इन पांच में से स्थान व ऊर्ण कर्मयोग हैं। क्योंकि स्थान साक्षात् क्रियारूप है और ऊर्ण भी शब्दोच्चार करते समय उच्चारण अंश में क्रियारूप है। शेष तीन अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन ज्ञानयोग हैं। क्योंकि वे साक्षात् ज्ञान रूप हैं।

अध्यात्मादि का स्थानादि में अंतर्भाव :

यद्यपि योगविशिका में (गाथा-३ में), कहा गया है कि, अध्यात्म और भावना योग का स्थान, ऊर्ण तथा अर्थ में अंतर्भाव (समावेश) होता है। ध्यान-योग का आलम्बन में तथा समता-वृत्ति संक्षय योग का निरालम्बन में समावेश होता है। इसलिये अध्यात्मादि योग के अधिकारी (स्वामी) के विषय में पूर्व में ही जो बात कही जा चुकी है, यह यथायोग्य ढंग से स्थानादि के विषय में भी लेना।

टिप्पणिकम : A इति कर्तव्यतामाह-सर्वत्रानाकुलता यतिभावाव्ययपरा समासेन । कालादिग्रहणविधौ क्रियेतिकर्तव्यता भवति ।।१३-६।। (षोडशकप्रकरणम्)

-: स्थानादि योग के उपभेद : इच्छायोग आदि चार प्रकार :-

■ स्थानादि योग के उपभेद :-

योगविंशिका ग्रंथ में स्थानादि पांचों योग के इच्छायोग आदि चार उपभेद निम्नानुसार दर्शाए गये हैं -

इक्किको य चउद्धा, इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।

इच्छा-पवित्ति-थिर-सिद्धिभेयओ समयनीईए ॥४॥

- योगशास्त्रों में प्रतिपादित की गई परिपाटी से स्थानादि पांचों प्रकार के योग के पुनः चार प्रकार दर्शाए गये हैं। (१) इच्छायोग, (२) प्रवृत्तियोग, (३) स्थिरता-स्थैर्ययोग तथा (४) सिद्धियोग। अब क्रमशः चारों योगों का स्वरूप देखेंगे। चारों योग का स्वरूप समझाते हुए ज्ञानसार-योगाष्टक में कहा गया है कि,

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परम् ।

स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥२७-४॥

→ (१) इच्छायोग :-

स्थानादि पांच योग से युक्त योगियों की कथा में (गुणकथन आदि में) प्रीति हो, उसे इच्छायोग कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि, स्थानादि योग जिन्होंने सिद्ध किये हैं, ऐसे योगियों की कथा (सुनने-कहने आदि) में प्रीतियुक्त विपरिणामिनी इच्छा 'इच्छा योग' स्वरूप है। अपने जीवन में शक्ति-संयोग आदि की न्यूनता के कारण विधिपूर्वक उत्तम योग की साधना न कर पानेवाली आत्मा, विधिपूर्वक उत्तम योगों का सेवन करनेवाले योगियों के प्रति सन्मानभाव धारण करके अपने उल्लास के अनुसार यथासंभव योगाभ्यास करके विधिपूर्वक उत्तम योगों का सेवन करने का मनोरथ करे तो यह इच्छा

‘विपरिणामिनी इच्छा’ कहलाती है।

स्थानादि योग के विधिपूर्वक सेवन की इच्छा से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की संपूर्णता के अभाव से (अपूर्णता से) संपूर्ण द्रव्यादि के अभाव में भी यथाशक्ति किये जानेवाले स्थानादि योग इच्छायोग स्वरूप होते हैं।

→ (२) प्रवृत्ति योग :-

सभी अवस्थाओं में ‘उपशम’ प्रधान (मुख्य) बने, इस प्रकार शास्त्रोक्त स्थानादि योगों का पालन ‘प्रवृत्ति योग’ कहलाता है। आत्मवीर्य के अतिशय से (प्रबल भावोल्लास से) शास्त्रानुसार द्रव्यादि प्रत्येक अंग की पूर्णता से सेवित स्थानादि योग ‘प्रवृत्ति योग’ स्वरूप होता है।

→ (३) स्थैर्य योग :-

प्रवृत्ति योग की तरह ही सभी अवस्थाओं में उपशम मुख्य बने, इस प्रकार उपशम प्रधान स्थानादि योग का पालन हो और स्थानादि योग का सेवन करनेवाले योगी बाधाओं (अतिचारों) की चिंता से रहित हो, यह स्थिरता योग कहलाता है। अर्थात् स्थानादि योग का सेवन करनेवाले योगी का बाधक चिंता से रहित उपशम प्रधान स्थानादि का पालन ‘स्थिरता योग’ कहलाता है।

प्रवृत्ति योग तथा स्थिरता योग दोनों में समानता दिखती होने के बावजूद इन दोनों में यह अंतर है कि, प्रवृत्ति योग में अतिचार लगने की चिंता विद्यमान होती है और स्थिरता योग में अभ्यास की सुंदरता के कारण अतिचारों की चिंता नहीं होती है।

→ (४) सिद्धियोग :-

स्थानादि सभी योग साधक की आत्मा में विशिष्ट उपशमादि फल को प्रकट करते हैं तथा इसके बाद साधक के सान्निध्य में रहनेवाले और जिन्हें स्थानादि योग की शुद्धि प्राप्त नहीं होती है, ऐसे जीवात्माओं को उस योग की सिद्धि प्राप्त करवाते हैं। इस प्रकार अन्य में अपने समान फल का संपादन करना ‘सिद्धि’

नामक योग है। इसीलिये सिद्धि योग प्राप्त करनेवाले योगियों के समीप आने के बाद हिंसक जीवात्मा भी हिंसा करने में समर्थ नहीं रहते हैं। चौर्य वृत्तिवाले जीवात्मा चोरी करने के लिये समर्थ नहीं रहते हैं। असत्यप्रिय जीवात्मा भी असत्य बोलने के लिये समर्थ नहीं होते हैं और कामी जीवात्माओं के भी काम-विकार शांत हो जाते हैं। यहां उल्लेखनीय है कि, योगग्रंथ में यम, नियम आदि का पालन भी इच्छादि के भेद से चार प्रकार का दर्शाया गया है।

यहां उल्लेखनीय है कि, हमने स्थानादि पांच योग के इच्छादि चार भेद यहां देखे। इन पांच स्थानादि को चार इच्छादि से गुणा करने से योग के २० भेद होते हैं। इन बीसों भेदों को प्रीति आदि चार अनुष्ठान से जोड़ने पर योग के ८० भेद होते हैं।^A इस बात को दर्शाते हुए ज्ञानसार योगाष्टक में कहा गया है कि,

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।

तस्माद्योगियोगाप्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद्भवेत् ॥२७-७॥

पूर्व में बताया गया स्थानादि २० प्रकार का योग भी प्रीति, भक्ति, वचन तथा असंग अनुष्ठान से चार-चार प्रकार का होने से ८० भेदवाला होता है। यह योग दशा आने से अयोगी अर्थात् अयोगी नामक चौदहवें गुणस्थानक का योग अर्थात् शैलेषीकरण प्राप्त होता है और इससे क्रमशः मुक्ति का योग सिद्ध होता है।

■► स्थानादि प्रति-उपभेद : प्रीति आदि चार अनुष्ठान

प्रीति आदि चार अनुष्ठान का स्वरूप षोडशक ग्रंथ में दिया गया है, उसके आधार पर अब इन चारों का स्वरूप देखेंगे।

(१) प्रीति अनुष्ठान :-

यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।

शेषत्यागेन करोति, यच्च तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ॥२०-३॥

- जिस अनुष्ठान के विषय में (अनुष्ठानकर्ता को) परम आदर (प्रयत्नातिशय) हो और हितकारी उदयवाली प्रीतिविशेष हो वह अन्य कार्यों को छोड़कर भी जो

अनुष्ठान करता है उसे प्रीति अनुष्ठान कहा जाता है।

यहां इस अनुष्ठान के विषय में तीन बातें कही गई हैं। एक तो अनुष्ठान के विषय में आदर हो। यह आदर कोरा नहीं होना चाहिये। इसलिये टीकाकार ने आदर का अर्थ यत्नातिशय किया है। यत्नातिशय अर्थात् अतिशयत प्रयत्न अर्थात् आंतरिक सन्मान-अनुरागपूर्वक का प्रयत्न। ऐसा प्रयत्न होता है, वह आदर कहलाता है। यह अनुष्ठान मुझे अनंतकाल के बाद मिला है, महान है, इससे अनंत जीवात्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है, ऐसे विशिष्ट बोध के साथ जो प्रयत्नातिशय किया जाता है, उसे आदर कहा जाता है।

दूसरे नंबर अनुष्ठानकर्ता की अनुष्ठान के प्रति हितकारी उदयवाली प्रीति का उल्लेख किया गया है। इससे यह फलित होता है कि अनुष्ठानकर्ता को अनुष्ठान के प्रति हितकारी उदयवाली प्रीति होनी चाहिये। पौदगलिक प्रीति अहितकारी होती है। इसलिये अनुष्ठान सम्बंधी प्रीति पौदगलिक स्वार्थ प्रेरित अथवा यश-कीर्ति-कामना प्रयुक्त अथवा पारलौकिक भौतिक सुखों से प्रेरित नहीं होनी चाहिये। तो ही वह अनुष्ठान प्रीति अनुष्ठान बन सकती है। तीसरे क्रम पर अनुष्ठान सेवन के समय अन्य बातों का त्याग करके अनुष्ठान में रक्त बनने की बात कही गई है।

(२) भक्ति अनुष्ठान :-

गौरवविशेषाद् बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम् ।

क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥१०-४॥

- गौरव-पूज्यत्व के विशेष योग (सम्बंध) से विशिष्ट प्रज्ञावाले जीवात्मा का अति विशुद्ध प्रवृत्तिवाला अनुष्ठान बाह्य आकार से प्रीति अनुष्ठान जैसा होने के बावजूद भक्ति अनुष्ठान मानना चाहिये।

प्रीति अनुष्ठान में भगवान के प्रति प्रियत्व बुद्धि और प्रीतिभाव होता है तथा भक्ति अनुष्ठान में भगवान के प्रति पूज्यत्व बुद्धि और भक्तिभाव होता है। प्रियत्वबुद्धि से पूज्यत्वबुद्धि उत्तम है। सामान्य स्तर के बोध से प्रियत्व बुद्धि प्रकट होती है और विशिष्ट स्तर के बोध (प्रज्ञा) से पूज्यत्व बुद्धि प्रकट होती है। इसलिये दोनों अनुष्ठानों में से भक्ति अनुष्ठान अधिक शुद्धिवाला होता है। क्रिया दोनों में समान होने के बावजूद बोध (बुद्धि) तथा भाव में भेद होने से दोनों अनुष्ठान भिन्न होते हैं।

(३) वचन अनुष्ठान :-

वचनात्मिका प्रवृत्तिः सर्वत्रौचित्ययोगतो तु ।

वचनानुष्ठानमिदं चारित्रवतो नियोगेन ॥१०-६॥

- सर्वत्र औचित्य योग से (सर्व क्षमादि-प्रतिक्रमणादि धर्म व्यापार में देश-काल-पुरुष-व्यवहार आदि को अनुकूल ढंग से) आगमोक्त (शास्त्र के वचनानुसार) जो प्रवृत्ति होती है, उसे वचन अनुष्ठान कहा जाता है। यह अनुष्ठान छठवें गुणस्थानकवर्ती साधु-महात्माओं में नियमा-अवश्य होता है।

सर्वत्र औचित्यपूर्वक शास्त्रानुसार जो अनुष्ठान होता है, उसे वचन अनुष्ठान कहा जाता है। यह वचनानुष्ठान निश्चयनय के मत से तत्त्वसंवेदन ज्ञानयुक्त, ज्ञानगर्भित वैराग्ययुक्त और सर्व संपत्करी भिक्षावाले छठवें गुणस्थानकवर्ती साधु-भगवंतों में होता है। ऐसे साधु-भगवंतों के लिये लोकसंज्ञा बाधक नहीं बनती है, इसलिये वे शास्त्रोक्त आशय-भाव-विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। व्यवहारनय से तो साधुओं से अतिरिक्त जो मार्गानुसारी जीवात्मा जिनवचन के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं, उसको भी देश (अंश) से वचनानुष्ठान होता है।

(४) असंग अनुष्ठान :-

यत्त्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्ट्यते सद्भिः ।

तदसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतत्तदावेधात् ॥१०-७॥

- जो अतिशय अभ्यास से (अभ्यास के योग से) आत्मसात् हो और जिन कल्पित आदि सत्पुरुषों के द्वारा आचरण में लिया जाता है, वह असंग अनुष्ठान कहलाता है। यह अनुष्ठान आगम के संस्कार विशेष से उत्पन्न होता है।

जैसे चंदन गंध को आत्मसात् करता है, वैसे ही जिनवचन के अनुसंधानपूर्वक बार-बार अनुष्ठान करने से आत्मसात् हुए संस्कार से जिनकल्पित आदि सत्पुरुषों की धर्म क्रियाएं स्वाभाविक होती हैं, यह असंग अनुष्ठान कहलाता है। असंग अनुष्ठान जिनवचन के स्मरण (अनुसंधान) पूर्वक नहीं होता है, बल्कि पूर्वकालीन सद् अनुष्ठान सम्बंधी संस्कार से (अर्थात् पूर्व में जिनवचन के अनुसंधानपूर्वक बार-बार अनुष्ठान का सेवन किया था, उस सद् अनुष्ठान सम्बंधी संस्कार से) उत्पन्न होता है। जैसे लकड़ी हो तो चक्र उससे घूमता है और लकड़ी खींच लेने के बाद उसके अभाव में भी पूर्व के संस्कार से चक्र घूमता रहता है। वैसे ही जिनवचन के अनुसंधान (स्मरण) पूर्वक अनुष्ठान का सेवन किया जाता है और बार-बार अभ्यास किये जाने से वह आत्मसात् हो जाने से जिनवचन के स्मरण के बिना भी पूर्व के संस्कार से अनुष्ठान का सेवन हो जाता है। दोनों अनुष्ठानों के बीच यही अंतर होता है।

इन चार अनुष्ठानों में प्रथम दो अनुष्ठान अभ्युदय के फलवाले हैं तथा शेष दो मोक्ष के कारण हैं।

योगविंशिका ग्रंथ में इच्छादि योग के हेतु तथा कार्य भी बताये गये हैं। स्थानादि योगों में श्रद्धा, प्रीति आदि के कारण भव्य जीवात्मा में विविध प्रकार के क्षयोपशम से इच्छादि अनेक प्रकार के योग होते हैं। अर्थात् स्थानादि योगों में श्रद्धा, प्रीति आदि के कारण मोहनीयादि कर्मों का क्षयोपशम प्राप्त होता है और इस क्षयोपशम से इच्छादि योग अनेक प्रकार के होते हैं। जिसमें जितने प्रमाण में क्षयोपशम होता है, उसमें उतने प्रमाण में इच्छादि योगों की संपत्ति प्राप्त होती है और उनके सहारे मोक्षमार्ग में

प्रवर्तित जीवात्मा को सूक्ष्मबोध न होने के बावजूद उसकी मार्गानुसारिता का हनन नहीं होता है। इस प्रकार श्रद्धा, प्रीति, धारणा आदि इच्छादि योग के हेतु हैं।

इच्छादि चार योग के फल का वर्णन करते हुए योगविंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि, इच्छायोग के फलस्वरूप अनुकंपा, प्रवृत्तियोग के फलस्वरूप निर्वेद, स्थैर्ययोग के फलस्वरूप संवेग और सिद्धियोग के फलस्वरूप प्रशम प्रकट होता है।

→ महत्त्वपूर्ण स्पष्टता :-

योगविंशिका ग्रंथ में गाथा-१२ की टीका में कहा गया है कि, स्थानादि से शुद्ध अनुष्ठान भी यदि आलोक की कीर्ति-यश आदि की स्पृहा से अथवा परलोक की ऋद्धि आदि के लालच से किया जाए तो वह अनुष्ठान विष और गरल अनुष्ठान बन जाता है तथा उससे विपरीत फल (दुर्गति रूपी अनर्थकारी फल) प्राप्त होता है।¹⁸ विष, गरल, अननुष्ठान, तद्हेतु और अमृत - यह अनुष्ठान के पांच प्रकार भी है, इनका स्वरूप पिछले प्रकरणों में बताया गया है, इसलिये यहां पुनः विस्तार से उल्लेख नहीं कर रहे हैं। अब अन्य प्रकार से दो प्रकार के योगों का स्वरूप देखते हैं।

⇒ संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात योग :-

सांख्यदर्शन व पातंजल योगदर्शन ने योग के यह दो प्रकार बताये हैं। जैन दर्शन में स्वीकृत योग के ही यह दो अलग नाम हैं। योगविंशिका में कहा गया है कि (पूर्व में कथित) निरालंबन ध्यान सातवें गुणस्थानक में प्राप्त होता है, इसके बाद साधक क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है। यह क्षपकश्रेणी अध्यात्मादि योग का प्रकर्ष गर्भित एक आशय विशेष स्वरूप है, इसी को अन्य दर्शनकार 'संप्रज्ञात योग' कहते हैं। क्षपक श्रेणी की पूर्णता होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इस केवलज्ञान को ही अन्य दर्शनकार 'असंप्रज्ञात योग' कहते हैं और इसमें कोई विसंगति भी नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान की अवस्था में शेष

सभी वृत्तियों का निरोध होता है और इससे जो आत्मस्वभाव प्रकट होता है, उसमें मानस विज्ञान (मन के संकल्प-विकल्प) नहीं होता है। इसलिये उसे असंप्रज्ञात योग (समाधि) कहने में कोई दोष नहीं है।

इस असंप्रज्ञात योग (समाधि) के दो प्रकार हैं। (१) सयोगी केवली अवस्था में होनेवाला और (२) अयोगी केवली अवस्था में होनेवाला। इसमें प्रथम समाधि विकल्पात्मक ज्ञान रूप मनोवृत्तियों के अत्यंत उच्छेद से उत्पन्न होती है और दूसरी समाधि परिस्पंदन रूप वृत्तियों के संपूर्ण नाश से उत्पन्न होती है। (इस सम्बंध में विशेष स्पष्टता तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानक के वर्णन में देखें।)

केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद वृत्ति रूपी बीज जल जाने के कारण 'अयोग योग' नामक दूसरी समाधि प्राप्त होती है। इसी समाधि को पातंजल दर्शन वाले 'धर्ममेघ' कहते हैं। कुछ दर्शनकार 'अमृतात्मा', तो कोई 'भवशत्रु' और कोई 'शिवोदय', तो कुछ दर्शनकार 'सत्त्वानंद' कहते हैं। इस अयोग योग से सर्वोत्कृष्ट फल निर्वाण प्राप्त होता है।

► योगावंचक आदि तीन योग

आगम में अव्यक्त समाधि के अधिकार में तीन प्रकार के अवंचक योग बताये गये हैं।¹⁹ (१) योगावंचक योग, (२) क्रियावंचक योग तथा (३) फलावंचक योग।

यह तीनों अवंचक योग जीवात्मा में निहित अव्यक्त समाधि स्वरूप हैं। अभी तक जीवात्मा को साधु पुरुषों का योग तथा सत्क्रिया का योग होता था। परन्तु इससे जीवात्मा को आत्मोत्थान स्वरूप कोई लाभ नहीं होता था, इसलिये यह योग उसके लिये वंचक (विफल-ठग) सिद्ध होता था। परन्तु चरमावर्तकाल में (भावमल कम होने से) योगमार्ग में बाधक बननेवाले मोहनीयादि कर्मों का क्षयोपशम प्राप्त होता है। इस क्षयोपशम में तारतम्य भी होता है। इससे इस प्रकार के तीनों आशय प्रकट होते हैं। इस अवस्था में उसे गुण-सम्पन्न महात्मा

का योग प्राप्त हो तो उसे उनमें गुण-सम्पन्नता के दर्शन होते हैं और साथ ही कल्याणकारिता के भी दर्शन होते हैं। उनके दर्शन से मैं पावन हुआ, ऐसा अनुभव होता है। सद्गुरु का योग सफल हुआ कहलाता है और यह प्रथम योगावंचक योग है।²⁰

प्रथम योगावंचक योग में भक्तिभाव प्रकट होता है। इस भक्तिभावपूर्वक सद्गुरु भगवंत को प्रणामादि क्रिया का नियम धारण करे, यह क्रियावंचक योग कहलाता है। (अर्थात् जीवात्मा भक्तिपूर्वक वंदनादि क्रिया करता है जिससे योगमार्ग में अवरोधक बननेवाले उसके अनेक कर्म नष्ट होते हैं।) इस प्रकार की वंदनादि क्रिया करने का जीवात्मा में जो परिणाम प्रकट हुआ उसमें क्रियावंचक योग निमित्त है।²¹

गुण-सम्पन्न महात्मा का योग, उनके प्रति भक्तिभाव और भक्तिभावपूर्वक वंदनादि क्रिया का नियम धारण करने के बाद सद्गुरु भगवंत के उपदेशादि द्वारा धर्मसिद्धि के विषय में सानुबंध फल की प्राप्ति हो, उसे फलावंचक योग कहा जाता है²² अर्थात् सद्गुरु भगवंत के उपदेश से उसे सानुबंध धर्म की प्राप्ति होती है। इसीलिये योगदृष्टि की सज्झाय में कहा गया है कि, “एह अवंचक योगथी, लहिये धर्म सनेह रे” आगे कहा गया है कि, “एह अवंचक योग ते, प्रगटे चरमावर्ते रे, साधुने सिद्ध दशा समुं, बीजनं चित्त प्रवर्ते रे।”

यह तीनों योग व्यवहार से प्रथम गुण स्थानक में प्राप्त होते हैं। परमार्थ से देखें तो योगावंचक योग प्रथम गुणस्थानक में प्रथम योग की दृष्टि में प्राप्त होता है। क्रियावंचक योग की प्राप्ति पांचवें गुणस्थानक से होती है। क्योंकि वहां विरति का परिणाम होता है और फलावंचक योग की प्राप्ति अप्रमत्त दशा में-रत्नत्रयी की एकाकार परिणति में होती है अर्थात् सातवें गुणस्थानक में होती है।

➡ योग की आठ दृष्टि :-

योग की आठ दृष्टि में प्रथम चार दृष्टि का वर्णन प्रथम गुणस्थानक के प्रकरण में, पांचवी-छठवीं दृष्टि का वर्णन चौथे गुणस्थानक के प्रकरण में, सातवीं दृष्टि का वर्णन छठवें गुणस्थानक के प्रकरण में और आठवीं दृष्टि का वर्णन सातवें गुणस्थानक के प्रकरण में किया गया है। वहां से इस विषय को देखने की सिफारिश है।

➡ अनुष्ठान के तीन प्रकार :-

योगग्रंथों में अन्य प्रकार से अनुष्ठान के तीन भेद भी बताये गये हैं। (१) विषयशुद्ध अनुष्ठान, (२) स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान तथा (३) अनुबंधशुद्ध अनुष्ठान। इन तीनों अनुष्ठानों का स्वरूप, किस गुणस्थानक में संभव है और इन तीनों का फल इत्यादि विषयों की चर्चा परिशिष्ट-३ में की गई है।

➡ योग मार्ग का अधिकारी :-

चार प्रकार के योगी हैं। (१) गोत्रयोगी, (२) कुलयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी तथा (४) निष्पन्न योगी। इन चार में गोत्रयोगी योगमार्ग के अधिकारी नहीं हैं। कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी दोनों ही योगमार्ग के अधिकारी हैं और निष्पन्नयोगी की योगमार्ग की सिद्धि हो जाने से उन्हें अब योगमार्ग पाने की आवश्यकता ही नहीं होती है। योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि, कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्र योगी तथा प्रथम योगावंचक योग प्राप्त योगी योगमार्ग के अधिकारी हैं। बत्नीसी ग्रंथ में भी यही बात कही गई है। चारों योगियों का स्वरूप परिशिष्ट-४ में दर्शाया गया है।

→ टिप्पणकम् : 1. 'व्यवहारो' कारणे कार्यत्वोपचारेण XXX 'निश्चयेन' उपचारपरिहारेण (योगविशिका) 2. 'निश्चियतः' - निश्चयेन-अक्षेपफलं नियमफलं वाऽङ्गीकृत्य तद्भावेन । निश्चययो इह जोगो सण्णाणाईण तिण्ह संबंधो । व्यवहारस्तुसामान्येन फलं प्रति योग्यतामधिकृत्य एष-प्रस्तुमो योगः विज्ञेयः - ज्ञातव्यः (योगशतकम् - २) 3. लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहारनयः ।

तात्त्विककार्याभ्युपगमपरस्तु निश्चयः । (जैनतर्कभाषा) ४. एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः, सर्वनयमतार्थग्राही च निश्चयः । (जैनतर्कभाषा) ५. उपयोगे विजातीयप्रत्ययाव्यवधानभाक् । शुभैकप्रत्ययो ध्यानं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् । १११ । ६. खेदोद्वेगभ्रमोत्थानक्षेपासङ्गान्यमुद्बुजाम् । त्यागादष्टपृथक्चित्तदोषाणामनुबन्धदः । ११२ । ७. विनैतया न हि ध्यानं ध्यानेनेयं विना च न । ततः (अतः) प्रवृत्तचक्रं स्याद् द्वयमन्योऽन्यकारणात् । ११३ । (योगभेदद्वात्रिंशिका) ८. प्रवृत्तिस्थिरताभ्यां हि मनोगुप्तिद्वये किल । भेदाश्चत्वार इष्यन्ते तत्रान्यायां तथान्तिमः । ११८ । (योगभेदद्वात्रिंशिका) ९. अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः । अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु । १३६९ । सकृदावर्तनादीनामतात्त्विकः उदाहृतः । प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः । १३७० । चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् । ध्यानादिरूपो नियमात्, तथा तात्त्विक एव तु । १३७१ । (योगबिन्दुः) १०. तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया । अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु, छेदवानपरो मतः । १३३ । सास्त्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्त्रवः परः । अवस्थाभेदविषयाः, संज्ञा एता यथोदिताः । १३४ । (योगबिन्दुः) ११. यथाशक्त्यप्रमत्तस्य तीव्रश्चद्धावबोधतः । सास्त्रयोगस्त्वखण्डार्थाराधनादुपदिश्यते । १४ । (योगविवेकद्वात्रिंशिका) १२. प्रणिधानं तत्समये, स्थितिमतदधः कृपानुगं चैव । निरवद्यवस्तुविषयं, परार्थनिष्प्रतिसारं च । १३-७ । (षोडशकः) १३. तत्रैव तु प्रवृत्तिः शुभसारोपायसङ्गतात्यन्तम् । अधिकृतयन्नातिशयादौत्सुक्यविवर्जिता चैव । १३-८ । (षोडशकः) १४. विघ्नजयस्त्रिविधिः खलु, विज्ञेयो हीनमध्यमोत्कृष्टः । मार्ग इह कण्टकचरमोहजयसमः प्रवृत्तिफलः । १३-९ । (षोडशकः) १५. सिद्धिस्तत्तद्धर्मस्थानावाप्तिरिह तात्त्विकी ज्ञेया । अधिके विनयादियुता, हीने च दयादिगुणसारा । १३-१० । (षोडशकः) १६. पुष्टिः पुण्योपचयः शुद्धिः पापक्षयेण निर्मलता । अनुबन्धिनि द्वयेऽस्मिन् क्रमेण मुक्तिः परा ज्ञेया । १३-९ । (षोडशकः) १७. अस्माच्च सानुबन्धाच्छुद्ध्यन्तोऽवाप्यन्ते द्रुतं क्रमशः । एतदिह धर्मतत्त्वं परमो योगो विमुक्तिरसः । १३-१३ । (षोडशकः) १८. येऽपि स्थानादिशुद्धमप्यैहिककीर्त्यादीच्छया-ऽऽमुष्मिकस्वल्लोकादिविभूतीच्छया वैतदनुष्ठानं कुर्वन्ति तेषामपि मोक्षार्थकप्रतिज्ञया विहितमेतत्तद्विपरीतार्थतया क्रियमाणं विषगरानुष्ठानान्तर्भूतत्वेन महामृषावादानुबन्धित्वाद्विपरीतफलमेवेति । (योगविंशिका - १२/टीका) १९. योगाक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवञ्चकत्रयम् । साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम् । १३४ । (यो. द. समु.) २०. सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः । तथा दर्शनतो योग आद्यावञ्चक उच्यते । १२१९ । (यो. द. समु.) २१. तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम् । क्रियावञ्चकयोगः

स्यान्महापापक्षयोदयः ॥२२०॥ (यो. द. समु.) 22. फलावञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥२२१॥ (यो. द. समु.)

A योगविंशिका ग्रंथ में योग के ८० प्रकार बताये गये हैं, इनकी गणना ज्ञानसार ग्रंथ की न्यायमंजरी टीका में योगाष्टक-गाथा-६ की टीका में इस प्रकार की गई है।

+++

प्रकरण - ११ : द्वितीय सास्वादन गुणस्थानक

इस गुणस्थानक का स्वरूप दर्शाते हुए गुणस्थानक क्रमारोह में कहा गया है कि,

एतस्मिन्नुदिते मध्याच्छान्तानन्तानुबन्धिनाम् ।

औपशमिकसम्यक्त्वशैलमौलेः परिच्युतः ॥११॥

समयादावलीषट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतलम् ।

नासादयति जीवोऽयं, तावत्सास्वादनो भवेत् ॥१२॥

- पहली बार औपशमिक सम्यक्त्व रूप पर्वत के शिखर से गिरते जीवात्मा को उपशांत हुए चार अनंतानुबंधी कषाय में से क्रोधादि एक कषाय का उदय होने से जब तक मिथ्यात्व रूप भूमितल प्राप्त नहीं होता है, तब तक जघन्य से १ समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका काल तक, सास्वादन सम्यक्त्वं होता है।

उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप पूर्व के प्रकरण में देख चुके हैं। उपशम सम्यक्त्व पर्वत के शिखर जैसा है, वहां से गिरते जीवात्मा को पूर्व में बताये अनुसार एक कषाय का उदय होने से वह मिथ्यात्व रूप भूमितल के सन्मुख आता है। जब तक वह भूमितल पर नहीं पहुंचता है, तब तक जीवात्मा को सास्वादन गुणस्थानक होता है। जैसे खीर खाने के बाद उल्टी होने पर उसमें खीर की मिठास का स्वाद आता है, वैसे ही उपशम सम्यक्त्व से गिरते जीवात्मा को मिथ्यात्व गुणस्थानक में न पहुंचे तब तक सम्यक्त्व का आस्वाद आता है।

इस गुणस्थानक में मिथ्यात्व मोहनीय के दलिक रहित अनंतानुबंधी कषाय का उदय होता है। इस उदयकाल का भोग पूर्ण होने पर जीवात्मा में मिथ्यात्व मोहनीय का उदय अवश्य होता है और मिथ्यात्व गुणस्थानक में पहुंचता है।

प्रकरण - १२ : तृतीय मिश्र गुणस्थानक

तीसरे गुणस्थानक का स्वरूप दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः ।

यो भावोऽन्तर्मुहूर्तं स्यात्तन्मिश्रस्थानमुच्यते ॥१३॥

- (जिस जीवात्मा में उपशम समकित का काल पूर्ण होने पर मिश्र मोहनीय के दलिक उदय में आएँ तो उन) मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से जीवात्मा में अंतर्मुहूर्तकाल प्रमाण सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व से मिश्रित भाव हो तो वह **मिश्र गुणस्थानक** कहलाता है।

इस तीसरे गुणस्थानक में सम्यक्त्व-मिथ्यात्व से मिश्रित भाव होता है। जैसे घोड़ी और गदर्भ के संयोग से खच्चर रूपी एक विलक्षण जाति उत्पन्न होती है, गुड़ और दही के संयोग से एक नया स्वाद उत्पन्न होता है, वैसे ही जिस जीवात्मा की बुद्धि सर्वज्ञ भाषित और असर्वज्ञ भाषित दोनों धर्म में समान श्रद्धावाली हो, वह मिश्र गुणस्थानकवाला कहलाता है। (गुण स्थानक क्रमारोह-श्लो. १४-१५) यह गुण स्थानक अंतर्मुहूर्त काल जितना होता है। इसके बाद जीवात्मा अवश्य चौथे सम्यक्त्व गुणस्थानक में जाता है अथवा प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानक में जाता है।

मिश्र गुणस्थानक में जीवात्मा आयु का उपार्जन नहीं करता है, मृत्यु प्राप्त नहीं करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि बनकर मृत्यु प्राप्त करता है।^A

A आयुर्वधाति नो जीवो मिश्रस्थो भ्रियते न वा । सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमश्रुते ॥१६॥ (गुणस्थानकक्रमारोहः)

प्रकरण - १३ चतुर्थ (सम्यग्दर्शन) गुणस्थानक

ग्रंथि भेद होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है और साधक को चतुर्थ गुणस्थानक प्राप्त होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति की समग्र प्रक्रिया पूर्व के प्रकरण में विस्तार से दर्शाई गई है, इसलिये यहां पुनः पुनरावृत्ति नहीं करेंगे। चतुर्थ गुणस्थानक में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों का उदय नहीं होता है। परन्तु उसका क्षयोपशम^१ प्रवर्तमान होता है। तत्त्व को देखने में अवरोधक बननेवाले मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय दोनों हट जाने से जीवात्मा में जगत को सच्चे ढंग से देखने की दृष्टि विकसित होती है। हेय-उपादेय का सच्चा बोध होता है। हेय-हेयरूप में तथा उपादेय उपादेय रूप में अर्थात् संसार के कारण संसार के कारण रूप में और मोक्ष के कारण मोक्ष के कारण के रूप में संवेदित होते हैं। इससे तात्त्विक कोटि की संसार विमुखता और मोक्षाभिमुखता प्राप्त होती है। इसीलिये चतुर्थगुणस्थानक से परमार्थ से मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। मिथ्यात्व की मंदता से प्रथम गुणस्थानक में शुभभावों की जो सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, वह चतुर्थ गुणस्थानक में स्थिर और शुद्ध भावों से सम्पन्न बनती है तथा संसार के प्रति निर्वेद भाव और मोक्ष की अभिलाषा तीव्र बनती है। क्योंकि, संसार की मारकता का संवेदन तीव्र हो जाता है।

उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि, चतुर्थ गुणस्थानक में मिथ्यात्व जनित भ्रांतियों का नाश होता है। इससे शुद्ध परिणामों की प्राप्ति होती है^२ और शुद्ध परिणामों की उपलब्धि से शुद्धधर्म की भी प्राप्ति होती है। 'सद्धर्मविंशिका' ग्रंथ में शुभ आत्मपरिणाम स्वरूप सम्यक्त्व को शुद्धधर्म बताया गया है, जो अपूर्वकरण से साध्य है।^३ श्री सिद्धचक्रजी के स्तवन में "श्रद्धा परिणति आत्म केरी नमीए वारंवार" इस पंक्ति के द्वारा आत्मा के श्रद्धा परिणाम स्वरूप सम्यग्दर्शन को नमस्कार किया गया है।

“सम्यग्दर्शन प्राप्ति की प्रक्रिया” नामक प्रकरण में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा उसके भेद-प्रभेद के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है, इसलिये यहां दोबारा कहने की आवश्यकता नहीं है। वहीं से सम्यग्दर्शन का स्वरूप तथा उसके प्रकार आदि के विषय में जानकारी प्राप्त करें। इसलिये यहां चतुर्थ गुणस्थानक के वर्णन में सम्यग्दृष्टि साधक की मोक्ष यात्रा का जो तीव्र गति से प्रारम्भ होता है और उसमें निमित्त बननेवाले विषयों को सम्मिलित करने की गणना है। इसके अतिरिक्त यहां प्राप्त होनेवाली योग की पांचवीं तथा छठवीं दृष्टि का भी वर्णन करेंगे।

■ सम्यग्दर्शन की पहचान करानेवाले लिंग :-

सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम विशेष है, वह अतीन्द्रिय है। इसलिये यह गुण प्राप्त हुआ है अथवा नहीं, यह मात्र केवलज्ञानी ही साक्षात् जान सकते हैं। हम तो लिंग द्वारा अनुमान लगाकर लिंगी का ही ज्ञान कर सकते हैं। जैसे दूर से ध्वजा देखकर किसका मंदिर होगा, यह अनुमान लगाया जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन के बाह्य कार्य देखकर इस के आंतरिक गुण का अनुमान लगाया जाता है। सम्यग्दर्शन नामक आंतरिक गुण का पता लगाने के लिये शास्त्रों में तीन लिंग बताये गये हैं। इसी बात को दर्शाते हुए सम्यग्दृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि,

लक्ष्यते ग्रन्थिभेदेन सम्यग्दृष्टिः स्वतन्त्रतः ।

शुश्रूषाधर्मरागाभ्यां गुरुदेवादिपूजया^४ ।।१५-१।।

- सिद्धांत नीति से ग्रंथिभेद के माध्यम से शुश्रूषा, धर्मराग और गुरुदेवादि की पूजा इन तीन (लिंग-धर्म) द्वारा सम्यग्दृष्टि का ज्ञान होता है। अर्थात् इन तीन लिंगों द्वारा जीवात्मा सम्यग्दर्शन गुण से युक्त है, यह ज्ञात होता है। अब तीनों लिंगों का स्वरूप क्रमशः देखेंगे।

■ प्रथम लिंग-शुश्रूषा^५ :-

सम्यग्दृष्टि आत्मा की तत्त्व को सुनने की तीव्र इच्छा (शुश्रूषा) होती है।

सुंदर पत्नी के साथ बैठे हुआ कामी पुरुष को किन्नर के गीत सुनने की जैसी इच्छा होती है, उससे भी अधिक तत्त्वश्रवण की इच्छा समकिती को होती है। समकिती की तत्त्वश्रवण की इच्छा सोने के लिये कथा सुननेवाले राजा के कथा श्रवण जैसी नहीं होती है। बल्कि तत्त्व-अतत्त्व के विवेक की प्राप्ति के लिये होती है। तत्त्वश्रवण की ऐसी इच्छा से सम्यग्दर्शन गुण का अनुमान लगाया जा सकता है। समकिती जीवात्मा को सम्यग्दर्शन गुण के प्रभाव से जगत् का विशेष दर्शन होता है। इससे (अनंत बार प्राप्त हुए) धन, परिवारादि पदार्थों में उसे अपूर्वत्व का भ्रम नहीं होता है अर्थात् पूर्व में मुझे धनादि प्राप्त नहीं हुए, ऐसा भ्रम नहीं होता है। बल्कि शुद्ध बोध होता है कि, धनादि मुझे अनंत बार प्राप्त हुए हैं इसके बावजूद मुझे उनसे तृप्ति नहीं हुई। इस बोध के कारण उसे धनादि के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण आदि नहीं होता है। इसलिये अपूर्व भ्रम और प्रगाढ़ आकर्षण आदि दोषों का उच्छेद होने से उस प्राप्त धनादि में उसे कोई रुचि नहीं होती है। बल्कि अप्राप्त जिनवचन को प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा होती है, जिसके कारण तत्त्व श्रवण की तीव्र इच्छा होती है।

मिथ्यात्व का नाश होने से समकिती जीवात्मा में मोक्ष का तीव्र राग प्रकट होता है। स्व-पर तथा स्वकीय-परकीय का स्पष्ट बोध हो जाने से स्व-स्वकीय प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा और पर-परकीय से छूटने की तीव्र उत्सुकता पैदा होती है। स्व-स्वकीय से दूर रहने के कारण तथा पर-परकीय के फंदे में फंसने के कारण समकिती को भवों में भटकने का सही अनुमान हो जाता है। पूर्व में उसके पास अनंतकाल के भटकने की जानकारी तो थी, लेकिन पिछले अनंत भवों की तकलीफें और भविष्य की अंधकारमय अवस्था का तीव्र भय नहीं था। परन्तु मिथ्यात्व का अंधकार दूर होने से और आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रकाश प्राप्त होने से यह सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। श्रद्धापथ में अच्छे से फिट हो जाती हैं। इससे भय जागृत होता है, छूटने की उत्सुकता जागृत होती है और छूटने के उपाय जानने की तीव्र उत्कंठा जागृत होती है। जिससे तत्त्वश्रवण

की इच्छारूप 'शुश्रूषा' गुण प्रकट होता है।

समकिती को अब शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है। इसके लिये उसे मोक्ष के सभी उपाय तथा उनके रहस्यों को जानने की उत्सुकता होती है। इसलिये उसे तत्त्व को सुनने की तीव्र इच्छा होती है और उसे सुनने का अवसर मिले तो तीव्र उत्कंठापूर्वक सुनता है। वह मात्र सुनने का ही कार्य नहीं करता है, बल्कि हेय-उपादेय आदि पदार्थों को निर्धारित करके रखता है। उन पर चिंतन-मनन-अनुप्रेक्षा करता है। इसी में से उसे हेय-उपादेय, कर्तव्य-अकर्तव्य, प्राप्तव्य-अप्राप्तव्य का तात्त्विक विवेक प्राप्त होता है।

भयावह स्थान की भयंकरता और रमणीय स्थान की रमणीयता का सच्चा संवेदनात्मक ज्ञान होने के बाद भयावह स्थान का लगाव हृदय में टिकता नहीं है और रमणीय स्थान की उपेक्षा का भाव हृदय में नहीं उठता है। कदाचित् पूर्व में संसार की भयानकता और मोक्ष की रमणीयता का ज्ञान लेने का अनेक बार अवसर मिला हो और ज्ञान भी मिला हो, परन्तु मिथ्यात्व की विद्यमानता के कारण वह ज्ञान संवेदना के स्तर तक नहीं पहुंचा था। इसलिये भयानक स्थान का लगाव और रमणीय स्थान की उपेक्षा होती थी। मिथ्यात्व का नाश होने से ज्ञान का संवेदना के स्तर पर प्रादुर्भाव होता है। इससे पूर्वोक्त सुभग स्थिति प्राप्त होती है। इसलिये अब शीघ्रातिशीघ्र भयानक स्थान से मुक्त होकर रमणीय स्थान पर पहुंचने की उत्सुकता पैदा होती है। इसके लिये समकिती में इसके उपायों को जानने हेतु जिनवचन श्रवण की उत्कंठा पैदा होती है। ऐसी उत्कंठा से समकिती होने का अनुमान लगाया जाता है।

► द्वितीय लिंग - धर्मराग⁶ :-

समकिती जीवात्मा में भाव से (अंतःकरण की परिणति से) चारित्र धर्म का राग (स्पृहा), भोगी का स्त्री आदि के प्रति जो राग होता है उससे अधिक होता है अर्थात् भोगासक्त भोगी को भोग की साधनभूत स्त्री आदि पर जैसा राग होता

है, उससे भी अधिक समकिती को चारित्र धर्म पर राग होता है। क्योंकि उसकी तीव्र मोक्षाभिलाषा मोक्ष के उपायभूत चारित्र धर्म में तीव्र राग पैदा कराती है।

समकिती जीवात्मा में चारित्र के प्रति तीव्र राग होने के बावजूद प्रगाढ़ अविरति कर्म के उदय के कारण वह चारित्र धर्म अंगीकार नहीं कर पाता है। जैसे घेबरप्रिय ब्राह्मण संयोग विशेष से कुत्सित भोजन न चाहते हुए भी करता है, वैसे ही चारित्र की स्पृहावाला समकिती जीवात्मा भी प्रगाढ़ अविरति कर्म के उदय से न चाहते हुए भी सांसारिक प्रवृत्तियां करता है और चारित्र की प्रवृत्ति नहीं कर पाता है। इसके बावजूद उसका राग तो चारित्र धर्म में ही होता है।

► तीसरा लिंग - गुरुदेवादि पूजा⁷ :-

समकिती जीवात्मा संसार के अन्य कार्यों का त्याग करके अपनी शक्ति के अनुसार गुरु-देवादि की सन्मानपूर्वक पूजा करता है। जैसे कोई भोगी स्त्रीरत्न को प्राप्त करने के बाद गौरवपूर्वक भोग में प्रवृत्ति करता है, उसकी अपेक्षा समकिती जीवात्मा गुरुदेवादि की पूजा में अनेक गुना अधिक सन्मानपूर्वक प्रवृत्ति करता है।

समकिती का राग (प्रतिबंध) चारित्र धर्म में होता है। उसे एकमात्र चारित्र धर्म की स्पृहा होती है और चारित्र धर्म की प्राप्ति में आड़े आनेवाले कर्मों का क्षय करने की तीव्र स्पृहा होती है। इसीलिये उसे अवरोधक कर्मों के क्षय के लिये गुरु-देवादि की पूजा-वैयावच्च की प्रवृत्ति में अधिक रुचि होती है और इसका अवसर मिलने पर बहुत आनंद होता है तथा अत्यंत सन्मानपूर्वक प्रवृत्ति करता है। पूर्वोक्त तीन लिंगों से सम्यग्दर्शन गुण का अनुमान लगाया जाता है। **यहां स्मरण रखना चाहिये कि, पूर्वोक्त तीनों गुण चारित्र धर्म की स्पृहा में से प्रकट हुए हों तो ही तात्त्विक सम्यग्दर्शन गुण का अनुमान करवाते हैं।** मात्र विद्वत्ता प्राप्त करने अथवा कुछ नया जानने का शौक पूरा करके अपने मान-कषाय की पुष्टि करने के लिये तथा पुण्य का उपार्जन करके भौतिक सुखों की आशंसा पूर्ण

करने के लिये ही यह प्रवृत्ति की जाती है तो वे सम्यग्दर्शन के लिंग नहीं होते हैं।

► सम्यक्त्व के पांच लक्षण :-

सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीवात्मा में पांच प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। (१) प्रशम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकंपा और (५) आस्तिकता। इन पांचों लक्षणों का स्वरूप पिछले प्रकरण में दर्शाया गया है। विंशतिविंशिका ग्रंथ की सद्धर्म विंशिका में प्रशमादि भावों के कारण सम्यग्दृष्टि जीवात्मा की मनःस्थिति कैसी होती है और उसका संसारवास कैसा होता है, यह दर्शाया गया है। इसे अब क्रमशः देखेंगे।

(१) प्रशम : सम्यग्दृष्टि जीव के चारों कषाय शांत होते हैं। क्योंकि अनंतानुबंधी कषायों का उदय नहीं होता है। इसलिये उसमें निर्लोभता, निर्द्वेषता, मृदुता-नम्रता और क्षमाभाव अच्छे से विकसित होते हैं। वह अपराधियों के लिये भी प्रतिकूल चिंतन नहीं करता है। उसे अपराधियों के प्रति भी शुभभाव ही होता है। कर्मों के अशुभ परिणाम का चिंतन करके सदा के लिये उपशम भाव में रमण करता है और अपराधी के प्रति भी क्रोध नहीं करता है। **सम्यग्दृष्टि की मान्यता होती है कि, संसार की कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं होती है और संसार मेरा ध्येय नहीं है।** मेरा ध्येय तो एकमात्र मोक्ष है और मोक्षप्राप्ति के लिये चारित्रधर्म को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करना है और प्रभु की आज्ञानुसार उसका अनुपालन करना है। इस प्रकार वह अनिच्छा से संसार में रहता है। इसी कारण वह संसार को (विषय-कषाय या भौतिक सुखों के साधन-धन-संपत्ति आदि) प्राप्त करने, सजाने, उनका आनंद भोगने या संभालने में उत्सुक नहीं होता है। इसलिये उसका लोभ नहीं बढ़ता है। कुछ प्राप्त करने के लिये वह माया-प्रपंच आदि का आचरण नहीं करता है, पुण्ययोग से मिल जाए तो अभिमान रूपी पर्वत पर नहीं चढ़ जाता है और किसी अवरोध या अपराधी के प्रति क्रोध से आग-बबूला नहीं होता है। चारों कषाय शांत होते हैं। इसलिये सदा के लिये

उपशम भाव में रमता है। उपशम भाव की उपस्थिति से वह तत्त्व-अतत्त्व का उचित ढंग से विवेक कर सकता है।

(२) संवेग : सम्यग्दृष्टि जीवात्मा संसार को अर्थात् पौद्गलिक सुखों को मरीचिका की माया, गन्धर्वनगर और स्वप्न समान मानता है। वह मानता है कि संसार के सुख मरीचिका की माया की भांति तृप्ति देने में समर्थ नहीं होते हैं और उनकी ओर दौड़ लगाने से मात्र और मात्र तृषा-तृष्णा ही बढ़ेगी तथा तृष्णा की घातक पीड़ा सुख-चैन नहीं देगी। यद्यपि आकाश में जिस गन्धर्वनगर की रचना होती है वह जैसे भ्रामक होता है और क्षणिक होता है, वैसे ही संसार के सुख आदि भी भ्रामक और क्षणिक होते हैं। इसके अलावा जैसे स्वप्न में आनेवाले सुखद या दुःखद क्षण सच्चे नहीं होते हैं और वे प्रयोजनहीन होते हैं। वैसे ही संसार के सुख-दुःख भी सच्चे नहीं होते हैं और सुखप्राप्ति या दुःखमुक्ति वास्तव में आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकती है। आत्मा का प्रयोजन तो स्थिरता, विश्रान्ति और चिरकालीन रमणता है, वह संसार की किसी भी वस्तु से नहीं मिलती है। इसलिये उसे मनुष्य तथा देवों के सुखों के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता है। बल्कि वह सुखों को भाव से दुःख रूप ही मानता है। इसलिये वह एकमात्र मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रार्थना नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीवात्मा को तीव्र मोक्षाभिलाषा होती है।

नरविबुहेसरसुखं दुःखं चिय भावओ उ मन्नंतो ।

संवेगओ न मुखं मुत्तुणं किंपि पत्थेइ ॥११॥ [सद्धर्म वि०।]

संवेग-निर्वेद भाव का सम्यग्दृष्टि में जो विकास हुआ है, वह पांचवीं-छठवीं दृष्टि के वर्णन में विस्तार से दर्शाया जाएगा।

(३) निर्वेद : सम्यग्दृष्टि जीवात्मा को संसार के प्रति निर्वेद भाव-अरुचि होता है। इसलिये वह संसार में कर्मयोग से रहे तो भी अरुचि से दुःखपूर्वक रहता है। उसे किसी के प्रति ममत्व नहीं होता है। वह सुख-सुविधाओं की

भरमार के बीच भी सोचता है कि यह सब पर (अन्य) हैं। पराई वस्तु अपनी नहीं हो सकती और पराई वस्तु को अपना मानना अथवा अपना बनाने की मेहनत करना मूर्खता है, मेरा सच्चा धन ज्ञानादि की संपत्ति है, सच्चा सुख आत्मा में है और सच्चा निवासस्थान मोक्ष है। इसलिये वह पर के प्रति ममत्व से रहित होता है और ममत्व से रहित वह मोक्षमार्ग की पूर्णता सिद्ध न होने से ही अनिच्छापूर्वक संसार में रहता है।

नारयतिरियनरामरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।

अकयपरलोयमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि ।।१२।। [सद्धर्म वि०]

(४) अनुकंपा : सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के हृदय में सम्यग्दर्शन गुण के प्रभाव से ऋजुता-दया के परिणाम प्रकट होते हैं। इसलिये उसमें द्रव्य तथा भाव की दृष्टि से दुःखी जीवात्माओं के प्रति अनुकंपा भाव पैदा होता है और वह अपनी शक्ति के अनुसार उनके दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है। यद्यपि समकित्ती की चारित्र धर्म की तीव्र स्पृहा होती है। इसलिये अभयदान देने के संस्कार आत्मसात् करने की भी इच्छा होती है। (अभयदान देने की योग्यता प्रकट हुए बिना चारित्र धर्म की प्राप्ति संभव नहीं होती है।) इसलिये अभयदान के लिये वह जगत के जीवात्माओं के प्रति संवेदनशील होता है। वह किसी के दुःखों को देख नहीं सकता है। इसलिये शारीरिक-मानसिक रूप से द्रव्य से दुःखी और उन्मार्ग-दूषणों के कारण भाव से दुःखी हुए जीवात्माओं के प्रति उसमें अनुकंपा भाव प्रकट होता है। वह अपनी शक्ति के अनुसार दोनों प्रकार के दुःखों से उन्हें मुक्त करने का प्रयत्न करता है। मुख्य लक्ष्य तो भाव दुःख से मुक्त कराना ही होता है।

दट्ठण पाणिनिवहं भीमे भवसागरम्मि दुक्खत्तं ।

अविसेसओऽणुकंपं दुहा वि सामत्थओ कुणइ ।।१३।। [सद्धर्म वि०]

(५) आस्तिकता : शंका-कांक्षा आदि विपरीत भावों से रहित शुभभाववाला सम्यग्दृष्टि जीवात्मा यही मानता है कि “वही सत्य और शंका रहित है, जो श्री

जिनेश्वरदेवों ने कहा है।” यह उसकी जिनवचन के प्रति आस्तिकता होती है।

मन्नइ तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पण्णत्तं ।

सुहपरिणामो सच्चं (संका) कंखाइविसुत्तियारहिओ ।।१४।।

सम्यग्दृष्टि जीवात्मा अतीन्द्रिय पदार्थों में सर्वज्ञ के वचन को ही प्रमाणभूत मानने की रुचिवाला होता है। इसलिये भगवान के वचनों में उसे शंका-कांक्षा आदि विपरीत भाव नहीं होते हैं। इसीलिये जिनवचन में उसकी रुचि निष्कंप होती है। “कोड़ी कोई कपट करी दाखवे नवि तुज धर्म रे” तथा “तुज वचन सुख आगले नवि गणुं सुरनर शर्म” यह पंक्तियां उसकी आत्मा में आत्मसात् देखने को मिलती हैं।

समकिती जीवात्मा में प्रशम आदि भाव क्यों होते हैं, यह दर्शाते हुए सद्धर्मविंशिका में कहा गया है कि,

एवंविहो य एसो तहाखओवसमभावओ होइ ।

नियमेण खीणवाही नरुव्व तव्वेयणारहिओ ।।१५।।

- जैसे रोग क्षीण हो जाने के बाद व्यक्ति व्याधि की वेदना से मुक्त हो जाता है, वैसे ही इस प्रकार के क्षयोपशम भाव से सम्यग्दृष्टि जीवात्मा प्रशमादि भावों से नियमा युक्त होता है अर्थात् वह क्रोधादि कषायों की पीड़ा से रहित होता है। इसलिये उसकी चेतना भावव्याधि की व्याकुलता से रहित होती है। उसमें मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषायों की व्याकुलता नहीं होती है। इसलिये उसके मन में विपर्यास नहीं होता है।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि में अनंतानुबंधी कषायों का भले ही अभाव हो, परन्तु अप्रत्याख्यानादि कषायों का उदय तो होता ही है, तो उसमें प्रशमादि भाव कैसे प्रकट हो सकता है ?

उत्तर : इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विंशतिविंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि,

चतुर्थ गुणस्थानक में जो प्रशमादि भाव प्रकट होते हैं, वे अनंतानुबंधी कषायों के विषय की अपेक्षा से कहे गये हैं। अनंतानुबंधी कषायों के क्षयोपशम के कारण जीवन में जो उपशम भावादि प्रकट होते हैं, उनके आश्रय से ही प्रशमादि पांच भाव प्रकट होते हैं, ऐसा कहा है। परन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के आश्रय से प्रकट होनेवाले उपशम भावादि को ध्यान में रखकर प्रशमादि लिंग नहीं कहे हैं। चतुर्थ गुणस्थानक वाले जीवात्मा को किसी पर गुस्सा आ जाए, किसी वस्तु के प्रति लोभ जागृत हो जाए, तो भी उसका बोध तो जीवित ही रहता है। उसके मन में विपर्यास उत्पन्न नहीं होता है। किसी का बुरा करने का भाव उसमें जागृत नहीं होता है और न ही वह हेय को उपादेय मानने की भूल करता है। इसलिये अंतःकरण में तो प्रशमादि भाव जीवित ही होते हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, चतुर्थ गुणस्थानक में शुद्ध व्यवहारनय की अपेक्षा से प्रशमादि लिंग बताये गये हैं। निश्चयनय से प्रशमादि लिंग क्रोधादि के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी तथा संज्वलन चारों प्रकार के (कुल १६) कषायों के क्षयोपशम से प्रकट होते हैं। निश्चयनय से सम्यक्त्व सातवें गुण स्थानक में होता है। निश्चयनय की मान्यता है कि, जैसा बोध होता है, वैसे ही बोध के अनुसार आचरण होना चाहिये। निश्चयनय ज्ञान-श्रद्धा और आचरण तीनों का संवाद सिद्ध होने पर ही संप्राप्त श्रद्धा को तात्त्विक मानता है। निश्चयनय सम्यक्त्व को कारणरूप मानता है और “जो कारण कार्य न करे वह कारण, कारण ही नहीं” यह निश्चयनय की मान्यता होती है। इसलिये सम्यग्बोध सम्यग्त्व ही कहलाता है जब बोध के अनुरूप आचरण कराए, इसलिये निश्चयनय से सातवें गुणस्थानक में प्रशमादि लिंग प्रकट होते हैं।

► सम्यक्त्व भाव धर्म है^४ :-

सद्धर्मविंशिका में कहा गया है कि, सम्यक्त्व क्षयोपशम भाव स्वरूप है और वही भाव धर्म है। क्षयोपशमभाव रहित धर्मक्रियाएं संसार से तार नहीं

सकती हैं। “संसार में पड़ने से जो बचाता है वह धर्म कहलाता है।” धर्म की यह परिभाषा क्षयोपशमभाव स्वरूप सम्यक्त्व में ही संगत होती है। इसलिये सम्यक्त्व ही भाव धर्म है। इसके अतिरिक्त सभी धर्म संसार के अंगरूप होने से वे भाव धर्म नहीं होते हैं। हालांकि, सम्यक्त्व रूप भाव धर्म से ही दानादि क्रियाएं शुद्ध होती हैं और मोक्ष का कारण बनती हैं।

► भावाज्ञा का प्रारम्भ :-

जब जीवात्मा गुणस्थानक से बाहर था, तब वह धर्म करता था, यह अप्रधान द्रव्याज्ञा स्वरूप होता है। प्रथम गुणस्थानक में अपुनर्बन्धक जीवात्मा प्रधान कोटि की द्रव्याज्ञा को प्राप्त करता है। चतुर्थ गुणस्थानक में भावाज्ञा प्रारम्भ होती है। यहीं पर भावाज्ञा की तात्त्विक अनुभूति होती है। इसलिये उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

भावाणां पुण जायइ सम्मद्विट्ठिस्स मूलमहिगिच्च ।

कज्जाकज्जे णाओ पवट्ठइ तओ हिए पायं ॥४०॥

- भावाज्ञा सम्यग्दृष्टि जीवात्मा से प्रारम्भ होती है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानक से भावाज्ञा का प्रादुर्भाव शुरू होता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन की विद्यमानता में प्रशमादि गुणों की प्राप्ति होती है। प्रशम गुण से मनोवृत्तियां निर्मल होती हैं। संवेग-निर्वेद गुण के कारण संसार की विमुखता और मोक्षाभिमुखता तीव्र होती है। अनुकंपा के कारण हृदय दया से भावित होता है और आस्तिकता गुण से जिनवचन पर अटूट श्रद्धा होती है। इसके अलावा तत्त्व-अतत्त्व को देखने में कोई त्रुटि नहीं होती है। इससे भाव शुद्धि प्राप्त होती है और इससे भावाज्ञा का प्रारम्भ होता है।

हालांकि, सम्यग्दर्शन के प्रभाव से कार्य-अकार्य का वास्तविक ज्ञान होता है। ‘दानादि कार्यों से शुभ फल तथा हिंसादि अकार्यों से अशुभ फल’ ऐसा निश्चय होने से समकित्ती प्रायः हित में प्रवृत्त रहता है। क्योंकि कोई अवरोधक कर्मादि

बाधा न बनें तो निर्वेदयुक्त समकिती जीवात्मा की हित में प्रवृत्त होने की तीव्र इच्छा होती है। हालांकि प्रबल सम्यग्दर्शन गुण से ऐसा शुभ प्रयत्न होता है कि जिससे देशविरति और सर्वविरति को रोकनेवाले आवरक कर्मों की दीर्घ स्थिति में कमी आती है और क्रमशः जीवात्मा को देशविरति-सर्वविरति धर्म की प्राप्ति होती है।

यद्यपि जीवात्मा का मूलभूत स्वभाव मार्ग में प्रवृत्ति करना होता है अर्थात् मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करना होता है। परन्तु वह उन्मार्ग पर ले जानेवाले मिथ्यात्व के कारण दब गया था। चतुर्थ गुणस्थानक में इस मिथ्यात्व का अंधकार नष्ट हो जाने से जीवात्मा स्वभाव से ही हित में (मोक्ष मार्ग में) प्रवृत्ति करता है। इसलिये उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

परपरिणामुम्मग्गे चत्ते लद्धे अ नाणदीवम्मि ।

मग्गम्मि जं पवट्ठइ एस सहावो हु जीवस्स ॥४१॥

- पर-परिणामस्वरूप उन्मार्ग का त्याग और ज्ञानदीप का आविर्भाव होने के बावजूद मोक्षमार्ग में जो प्रवृत्ति होती है, वह जीवात्मा का स्वभाव है। कहने का आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा को पर-परिणति (भौतिक समृद्धि का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मालिकी भाव आदि पर-परिणति) अपनी नहीं लगती है। मिथ्यात्व की उपस्थिति में वह अपनी लगती थी, अब वह पराई लगने लगती है। कर्म की ही दिखाई देती है। इसलिये पर-परिणति और उसके कारण उत्पन्न हुई पाप-विषय-दोष-कषाय की परिणतियों के नुकसान से बचने के लिये वह सबसे विमुख हो जाता है। वह आत्मा को बरबाद करनेवाले उन उन्मार्गों से विमुख होकर (सम्यग्दर्शन गुण के कारण प्राप्त हुए) ज्ञानप्रकाश में हित-अहित को ठीक से देखकर आत्महित के अनुकूल मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करता है और यह आत्मा का स्वभाव है।

► सम्यग्दर्शन से मनःशुद्धि :-

अध्यात्मसार ग्रंथ में कहा गया है कि, सद् अनुष्ठान की प्राप्ति मनःशुद्धि से होती है और मनःशुद्धि सम्यग्दर्शन गुण से प्राप्त होती है। सम्यक्त्व के बिना जो मनःशुद्धि होती है, वह मनःशुद्धि अनर्थ के फलवाली होती है।¹⁰ मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म बुद्धि में विपर्यास उत्पन्न करता है। मिथ्यात्व का प्रगाढ़ उदय प्रवर्तमान होता है, तब बहुत विपर्यास होता है। अतत्त्व को तत्त्व और तत्त्व को अतत्त्व मानता है। इससे अतत्त्व के प्रति तीव्र पक्षपात होता है। जिससे मन बहुत अशुद्ध होता है। अपुनर्बन्धक अवस्था में उत्कट मिथ्यात्व का क्षयोपशम होने के कारण बुद्धि में से विपर्यास बहुत कम होता है। इससे आंशिक मनःशुद्धि प्राप्त होती है। इसके बावजूद जितने प्रमाण में मिथ्यात्व का उदय है, उतने प्रमाण में मनःशुद्धि होती है। चतुर्थ गुणस्थानक में संपूर्ण विपर्यास नष्ट होता है, तब मन तत्त्व-अतत्त्व के देदीप्यमान विवेक से सम्पन्न होता है और इससे तत्त्व का पक्षपाती बनता है। इसलिये परमार्थ से मनःशुद्धि होती है और इस कारण सम्यग्दृष्टि जीवात्मा जो धर्मानुष्ठान करता है, वह मनःशुद्धि के कारण आत्महित का कारण बनता है। अध्यात्मसार में कहा गया है कि, सम्यक्त्व से मनःशुद्धि होती है। मनःशुद्धि से दानादि क्रियाएं शुद्ध होती हैं। इसीलिये दानादि क्रियाओं के मोक्ष फल में सम्यग्दर्शन की सहकारिता शास्त्रों में कही गई है।

► सम्यक्त्व की स्थिरता कब होती है ?

अध्यात्मसार में सम्यक्त्व की स्थिरता का उपाय दर्शाते हुए कहा गया है कि, शम, संवेग, निर्वेद और अनुकंपा द्वारा विशुद्ध किये गये आस्तिकता गुण को जो निरंतर धारण करके रखता है (अर्थात् जो जिनेश्वरों ने कहा है वही सत्य और शंका रहित है, ऐसी आस्तिकता को निरंतर धारण करके रखता है।) उसका सम्यक्त्व स्थिरता प्राप्त करता है।¹¹

कहने का आशय यह है कि, जिसमें जिनवचन में निःसंदेह प्रामाण्य का

निर्णय होता है, उसमें आस्तिकता गुण होता है। इस गुण से युक्त होकर जो भगवान की आज्ञानुसार यथाशक्ति धर्म अनुष्ठानों में यत्न करेगा, उसके धर्मानुष्ठानों के सेवन से शम, संवेग, निर्वेद तथा अनुकंपा गुण खिलते जाएंगे। इन शमादि गुणों से विशुद्ध आस्तिकता गुण को जो निरंतर धारण करके रखेगा उसका सम्यग्दर्शन स्थिरता को प्राप्त करेगा। इसलिये कैसी भी विकट परिस्थितियों में भी श्री जिनवचन पर अविहङ्ग श्रद्धा धारण करनी चाहिये। दुनिया-समाज आदि अलग बतायें और प्रभुवचन उनसे अलग कहता हो, तो प्रभुवचन को ही सिरोधाय करना चाहिये। क्योंकि अरिहंत प्रभु सर्वज्ञ-वीतराग हैं और अनंत करुणा के सागर हैं। वे स्वयं कृतकृत्य होने से हमसे उन्हें कोई स्वार्थ नहीं है और कृतकृत्यता-वीतरागता के कारण अपना मत स्थापित करने का भी उनका कोई आग्रह नहीं होता है।

► सम्यग्दृष्टि का सुख :-

सम्यग्दृष्टि को ही आत्मसुख की झांकी होती है। मिथ्यादृष्टि को नहीं हो सकती है। सम्यग्दृष्टि के सुख का वर्णन करते हुए उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

साभाविअं खलु सुहं आयसभावस्स दंसणेऽपुव्वं ।

अणहीणमपडिवक्खं सम्मदिट्ठिस्स पसमवओ ॥६९॥

- प्रशममग्नः सम्यग्दृष्टि आत्मा को आत्मस्वरूप के दर्शन से अनुभव होनेवाला अपूर्व सुख होता है। वह स्वाभाविक होने से अपराधीन और विपक्ष से रहित होता है।

आत्मा के आंतरिक परिणाम विकृत हुए बिना जो सुख प्राप्त होता है वह स्वाभाविक सुख कहलाता है। अनंतानुबंधी कषायों का नाश होने से सम्यग्दृष्टि आत्मा को प्रशम गुण की प्राप्ति होती है। इससे जीवात्मा को स्वयं आत्मस्वरूप का स्वच्छ दर्शन होता है। उसमें सभी परपदार्थों से भिन्न स्वरूप में मात्र स्व

स्वरूप की अनुभूति होती है और उसमें अन्य किसी विषय के अनुभव का मिश्रण नहीं होता है। ऐसा आत्मदर्शन होने से पूर्व कभी अनुभव न किया हो ऐसे अपूर्व तथा स्वाभाविक आनंद का प्रादुर्भाव होता है। (उपदेश रहस्य-६९/टीका)

अपूर्व आनंद की अनुभूति में यहां मछली का उदाहरण दिया गया है। घने जंगल में झाड़ियों के बीच एकांत स्थल पर एक सरोवर है। स्थलचर प्राणियों के आवागमन के अभाव में पानी की सतह पर कोई जम गई है। सरोवर के गहरे पानी में जलचर प्राणी स्वैर विहार का आनंद ले रहे हैं। एकदा पूर्णिमा की रात में अचानक किनारे पर स्थित वृक्ष का एक फल सरोवर में गिरता है। कोई बिखर जाती है। नीचे से गुजरनेवाली मछली की उस खाली जगह पर नजर पड़ती है और उस जगह से अपना मुख बाहर निकालते ही उसे आकाश में पूर्ण कलाओं से खिले चंद्र के दर्शन होते हैं तथा उसका हृदय नाच उठता है। उसे अपूर्व आह्लाद होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के पडल में छिद्र पड़ने से सम्यग्दृष्टि आत्मा को आत्मचंद्र के दर्शन होते हैं। इसलिये अत्यंत आनंद-आह्लाद प्रकट होता है। यह आत्मदर्शन अन्य भौतिक सुखों से कई गुना श्रेष्ठ होता है। क्योंकि उस सुख की अनुभूति के काल में मुमुक्षु आत्मा का मन आत्मा से प्रतिबद्ध होता है - आत्मा में तल्लीन होता है और इस काल में आत्मा की शुभ परिणति में उत्कटता-तीव्रता होती है। हालांकि, उसमें कोई ऊबन नहीं होती है। अनिश्चितता का भय नहीं सताता है, पराधीनता की पीड़ा नहीं होती है और लुट जाने का भय नहीं होता है अथवा कोई प्रतिस्पर्धी या विरोधी की उपस्थिति नहीं होती है। इसलिये दुःखमय-दुःखमिश्रित भौतिक सुख से बिल्कुल विलक्षण परम सुखमय आत्मसुख की झांकी होती है।

मिथ्यादृष्टि को भौतिक सुख के अनुभवकाल में आत्मा की अशुभ परिणति रूप विघ्न की उत्कटता होने के कारण उस सुख के अनुभव में जैसा चाहिये वैसा रंग नहीं जमता है। जबकि आत्मदर्शन जनित सुखानुभव में इस प्रकार का विघ्न न होने से परम आह्लाद की अनुभूति होती है। यही आत्मदर्शन की

श्रेष्ठता है। इसलिये ब्रह्म समुच्चय प्रकरण में सम्यग्दर्शन गुणस्थानक से सच्चे सुख का प्रारम्भ वर्णित किया गया है।

आत्मदर्शनजनित सुख, पराधीन नहीं होता है। आत्मा में निरंतर बहती स्वच्छ और स्वाभाविक शुभ परिणामों की धारा से अन्य कारणों की अपेक्षा के बिना प्रकट होने से पूर्णतः स्वाधीन होता है। सुख के अन्य कारणों की पराधीनता, भौतिक सामग्री की चाहत और उत्सुकता रूपी व्याकुलता का अभाव होने से अन्य भौतिक सुखों से यह सुख श्रेष्ठ होता है, इसमें कोई शंका नहीं है।

संसार का भौतिक सुख दुःखमिश्रित है अर्थात् दुःख नामक प्रतिपक्ष सहित है। जबकि आत्मदर्शन जनित सुख प्रतिपक्ष अर्थात् विपक्ष दुःख से रहित है और इसलिये वह निर्विघ्न रूप में अनुभव होता है। इस आत्मजनित सुख के अनुभवकाल में विपक्ष रूपी दुःख कदाचित् शरीर की आशाता आदि के स्वरूप में उपस्थित हो, तो भी आत्मस्वरूप तथा सद्गुणों की भावना-चिंतन-मनन आदि के बल से अंतरात्मा में अनुभव किये जानेवाले इस सुख में कोई विपरीत प्रभाव उद्भव नहीं होता है। इसलिये यह सुख अन्य भौतिक सुखों से श्रेष्ठ है।¹²

हालांकि, मिथ्यात्वी जीवात्मा में आंतर सुख न होने से बाह्यसुख भी सम्यग्दृष्टि जैसा नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को बाह्यसुख भी उच्चस्तरीय प्राप्त होता है। इसका कारण दर्शाते हुए उपदेश रहस्य में कहा गया है कि, मिथ्यादृष्टि जिन पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है, वह प्रायः पापानुबंधी होती है। इस कारण पुण्य के उदय से जो बाह्य सुख मिलता है, वह भी पाप के अनुबंध के कारण तुच्छ कोटि के सुख का अनुभव कराता है। जबकि सम्यग्दृष्टि जिन पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है, वह पुण्यानुबंधी होती है, इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये बाह्य सुख अधिक तृप्तिदायक बनता है। क्योंकि आंतरिक रूप से प्रशम भाव विद्यमान रहता है। इसीलिये मिथ्यादृष्टियों का ग्रैवेयकादि सुख भी तत्त्वतः

सुख नहीं होता है। दृष्टांत देते हुए यहां कहा गया है कि, जैसे उत्तम पदार्थ के संग विशेष से मेरूगिरि पर स्थित तृण भी स्वर्ण कहलाता है। (अर्थात् मेरू पर्वत स्वर्णमय होने के कारण उस पर उगनेवाली घास भी स्वर्ण आभाषित होने से स्वर्ण शब्द से संबोधित होती है।) वैसे ही बाह्य सुख भी विशिष्ट कोटि के आंतरिक सुख के संवेध (संपर्क) से ही सुखरूप में आभाषित होता है। मिथ्या दृष्टि में आंतरिक सुख नहीं होता है। इसलिये उनके पास बाह्य सुख की संपूर्ण सामग्री होने के बावजूद उत्कृष्ट सुख प्राप्त नहीं होता है।¹³

इसके अलावा मिथ्यादृष्टि आत्मा में भौतिक सुखों की तीव्र आसक्ति होती है। इस कारण कितने भी भौतिक सुख भोगे तो भी उसे संतोष नहीं होता है। असंतोष के कारण वह भौतिक सुख-सामग्री की विद्यमानता में भी संतप्त-दुःखी होती है। जबकि सम्यग्दृष्टि आत्मा में भौतिक सुख के प्रति निर्वेद भाव होता है। इसलिये उसमें उनकी आसक्ति नहीं होती है। इस कारण उसमें आंतरिक शांति होती है। इस शांति की उपस्थिति में कर्म योग से जिन इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करनी पड़े, वह प्रवृत्ति भी उसे जल्दी से तृप्त कर देती है। इसलिये प्रवृत्ति की उत्तर में भी शांति-संतोष होता है।

► सम्यग्दृष्टि का दुःख :-

सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार-संसारसुख के स्वरूप को अच्छे से पहचानती है। इसके बावजूद अविरत कर्म के कारण उसमें उसे प्रवृत्ति करनी पड़े तब उसे अपार वेदना होती है। वह दुःखपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है। रच-पचकर वह प्रवृत्ति नहीं करता है। पूर्व के कथनानुसार संसार के सुख को दुःखरूप ही मानता है। फिर भी मोक्ष मार्ग की पूर्णता न होने से संसार में उद्विग्न बनकर रहता है। वह कभी संसार में रमण नहीं करता है। सम्यग्दर्शनपूतात्मा न रमते भवोदधौ। सम्यग्दर्शन से पवित्र आत्मा संसारसागर में नहीं रमती है, यह पू. आ. भ. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा का विधान है।

→ सम्यग्दृष्टि आत्मा की मनःस्थिति :-

सम्यग्दृष्टि आत्मा की काया कदाचित् संसार की क्रियाओं में हो सकती है। परन्तु उसका मन हमेशा मोक्ष में होता है। जैसे धावमाता राजा के बालकों का लालन-पालन करने के बावजूद उसका मन अपने बालक में ही होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि आत्मा भी संसार की अन्य आजीविकादि क्रियाएं करे तो भी उसका मन मोक्ष में ही होता है। इस कारण सम्यग्दृष्टि की कोई भी क्रिया 'योग' बन जाती है। इसी बात को दर्शाते हुए योगबिंदु में कहा गया है कि,

भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो, मोक्षे चित्तं भवे तनु ।

तस्य तत्सर्वम् एवेह योगो योगो हि भावतः ॥२०३॥

- जिसने राग-द्वेष की तीव्र परणिति स्वरूप ग्रंथि को भेद दिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का शरीर संसार के कामों में होता है, लेकिन मन प्रायः अधिकांशतः मोक्ष में ही होता है। इसलिये सभी प्रवृत्तियां (धार्मिक या सांसारिक सभी प्रवृत्तियां) भाव से (आंतरिक परिणाम से) सम्यग्दर्शनादि रूप योग ही होती हैं।

(टीका में विशेष स्पष्टता करते हुए कहा गया है कि,) सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का मन एक क्षण के लिये भी मोक्ष की आकांक्षा से रहित नहीं होता है। इसलिये वह जो भी प्रवृत्तियां करता है, वह प्रवृत्तियां परिणामतः मोक्ष प्राप्ति रूप फलवाली बनती हैं। इसलिये सर्वप्रवृत्ति भाव से योग बनती है।

प्रश्न : श्लोक के अर्थ में कहा गया है कि, सम्यग्दृष्टि का मन अधिकांशतः मोक्ष में होता है और टीका की स्पष्टता में कहा गया है कि, उसका मन एक क्षण के लिये भी मोक्ष की आकांक्षा से रहित नहीं होता है। तो दोनों बातों में परस्पर विरोधाभास नहीं है ?

उत्तर : नहीं, परस्पर कोई विरोधाभास नहीं है। मात्र व्यक्त रूप से और अव्यक्त रूप से मोक्षाकांक्षा विद्यमान होती है, उसे लेकर अलग-अलग विधान किये गये हैं। इसे उदाहरण से समझते हैं। एक व्यक्ति ५० किलोमीटर दूर स्थित

स्थल पर जाने के लिये प्रस्थान करता है। घर से निकलता है, तब से लेकर विवक्षित स्थल पर न पहुंचे तब तक इष्ट स्थल पर पहुंचने की चाहत अखंड होती है। इसके बावजूद १० किलोमीटर चलने के बाद जब वह किसी स्थल पर आराम करने के लिये बैठता है या नास्ता करने के लिये रुकता है, तब उतनी देर के लिये उसका मन आराम में अथवा नास्ते में चला जाता है। इसलिये वह चाहत अव्यक्त रूप से हृदय में ही होती है, लेकिन व्यक्त रूप से नहीं होती है। परन्तु उस प्रवृत्ति के बीच अथवा अंत में जब घड़ी पर नजर डालता है तब उसके मन में वह चाहत व्यक्त रूप से उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार नास्ता-आराम करते समय उसे इष्ट स्थान पर पहुंचने की चाहत तो थी, लेकिन वह अव्यक्त थी। प्रस्थान के समय वही चाहत व्यक्त होती है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा का मन एक क्षण के लिये भी मोक्षाकांक्षा से रहित नहीं होता है। कई बार सांसारिक अथवा अन्य क्रियाएं करते समय मोक्षाकांक्षा अव्यक्त हो जाती है, परन्तु मोक्षाकांक्षा का कभी विरह नहीं होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का मन मोक्ष में होता है। इसलिये सभी प्रवृत्तियां निर्जरा की फलवाली बनती हैं। इस विषय को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि,

नार्या यथान्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते ।

तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥२०४॥

- अन्य पुरुष में आसक्त स्त्री के भाव (मानसिक परिणाम) हमेशा उस पुरुष में रहते हैं, तब वह स्त्री अपने पति की सेवा आदि प्रवृत्ति करती हो, तब भी (भाव से तो परपुरुष की सेवा आदि प्रवृत्ति करती है, इसलिये) उसे पापबंध ही होता है। इसी प्रकार यह विचार करना चाहिये कि, मोक्ष में जिसका मन है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवात्मा की पारिवारिक चिंता आदि प्रवृत्ति भी योग स्वरूप है और कर्म निर्जरा के फलवाली है। मन के परिणामों के आधार पर कर्मबंध होता है। काया कहीं भी हो, परन्तु मन यदि शुभ स्थल पर हो तो साधक निर्जरा करता है और मन यदि अशुभ स्थल पर हो तो पापबंध ही करता है। यूं तो जहां काया

प्रवृत्त होती है, वहीं पर मन जुड़ा होता है, यह सामान्य नियम है। फिर भी इसमें एकांत नहीं, यह हम सब जानते हैं। स्वारसिक प्रवृत्ति में मन और काया एक स्थल पर प्रवृत्त होती है। अस्वारसिक (अपनी निजी रुचि रहित) प्रवृत्ति में तो काया अन्य स्थल पर होती है और मन अन्य स्थल पर होता है। सांसारिक-पारिवारिक चिंता आदि अस्वारसिक प्रवृत्ति होने से वहां सम्यग्दृष्टि का मन नहीं जुड़ा होता है। हालांकि, ग्रंथिभेद से मोक्ष रूपी उत्तमभाव को देखनेवाला सम्यग्दृष्टि जीवात्मा कर्म से आक्षिप्त (आकर्षित होकर आनेवाले) पुत्र-पत्नी के राग आदि से व्याकुल होने के बावजूद उसका मन मोक्षरूपी उत्तम भाव में ही जाता है-होता है। यदि उसका मन मोक्ष से प्रतिबद्ध न हो तो वह सम्यग्दृष्टि जीवात्मा मोक्ष रूपी उत्तम भाव को देखता है, यह सुसंगत नहीं होता है।¹⁴ जिसे उत्तम भावों का तात्त्विक दर्शन होता है, उसका मन तुच्छ भावों में नहीं लगता है। इस विषय में आगे वर्णित योग की पांचवीं-छठवीं दृष्टि में विशेष स्पष्टताएं करेंगे।

→ अल्पज्ञान में भी पूर्णता :

सम्यग्दृष्टि आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अल्प ज्ञान हो सकता है, फिर भी यह अल्प ज्ञान भी पूर्ण होता है। क्योंकि ज्ञान का जो फल मिलना चाहिये वह उसके जीवन में होता है। ज्ञान का फल है विरति और विरति की तीव्र आकांक्षा। चारित्र मोहनीय के उदय के कारण कदाचित् विरति न हो तो भी विरति की तीव्र आकांक्षा तो होती ही है। सम्यग्दर्शन से पवित्र अल्पज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होने के कारण उसके प्रकाश में कोई विपर्यास नहीं होता है और विपर्यास रहित ज्ञान मोक्ष का कारण बनता है। दृष्टांत सहित इस विषय की अधिक स्पष्टताएं उपदेश रहस्य ग्रंथ में की गई हैं -

गंठिम्मि विभिन्नंमि नाणं पडिबंध्यओ वि पडिपुणं ।

जह पाडिवओ चंदो पडिपुण्णो सुक्कपक्खम्मि ।।६०।।

- ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय रूपी अवरोध विद्यमान होने के बावजूद

ग्रंथिभेद होने से (सम्यग्दृष्टि का) ज्ञान परिपूर्ण है। जैसे शुक्लपक्ष एकम (पड़वा) का चंद्र (भावी पूर्णता के उपचार से) परिपूर्ण होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी परिपूर्ण होता है।

कहने का आशय यह है कि, ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र उदय होने के बावजूद जिस सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ऐसा होता है कि, **“मुझे श्री जिनेश्वर देव और सद्गुरु की आज्ञानुसार जीना चाहिये”** वह परिपूर्ण होता है। सम्यग्दृष्टी जीव में श्री जिनेश्वरों ने जो कहा है, वह सत्य और शंका रहित है, इस प्रकार की श्रद्धा रूपी योग्यता अथवा गीतार्थ सद्गुरु की आज्ञानुसार वर्तने रुप प्रज्ञापनीयता (सुखपूर्वक बोध प्राप्त करने की सुखबोध्यता) स्वरूप योग्यता होने के कारण सम्यग्दृष्टि का ज्ञान अल्प होने के बावजूद परिपूर्ण है।¹⁵ **जो ज्ञान स्वरूप से अल्प है** (अर्थात् अनेक विषयों के ज्ञान की दृष्टि से अल्प है) **फिर भी वह योग्यता की दृष्टि से पूर्ण हो सकता है, यह दर्शाते हुए उदाहरण दिया जाता है कि,** शुक्लपक्ष के एकम का चंद्र परिपूर्ण है। क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि, सुदी पक्ष के एकम के चंद्र की मात्र एक ही कला उज्ज्वल होने के बावजूद निकटस्थ अर्थात् मात्र अन्य १४ दिन में ही संपूर्ण उज्ज्वलभावप्राप्ति के योग्य होने के कारण लोक में वह पूर्ण है।

→ सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी पूर्ण क्यों कहलाता है ? :-

सम्यग्दृष्टि के अल्प ज्ञान को भी पूर्णता का हेतु बताते हुए उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

जमिणं होइ फलगं दव्वेण असण्वित्तिजुत्तं वि ।

अणुबंधच्छेयाओ सो खलु मूलं किलेसाणं ।।६१।।

- द्रव्य से असद् प्रवृत्ति साथ होने के बावजूद अनुबंध के उच्छेद के कारण सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान मोक्ष का अंग है। वास्तव में अनुबंध ही क्लेशो का मूल है।

कहने का आशय यह है कि, श्री माषतुस मुनिवर आदि महात्माओं को ग्रंथि भेद होने के बाद भी ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से अनेक विषयों का ज्ञान नहीं था, इसके बावजूद जो अल्प ज्ञान था, वह भी अनुबंध टूट जाने के कारण कर्म नाश में समर्थ था। इसलिये ग्रंथि भेद होने के बाद श्रद्धा आदि गुणों से सहचरित ज्ञान कर्मयोग से अल्प हो और मन की रुचि के बिना (मन के आंतरिक उल्लास के बिना) (अप्रधानता वाली) असद् प्रवृत्ति, जो प्रबल चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से की जाती हो, तो भी वह अल्प ज्ञान मोक्ष रूपी फल को उत्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसका कारण यह है कि, ग्रंथिभेद होने के कारण सत्ता में स्थित ज्ञानावरणीयादि पापकर्मों के अनुबंधों का प्रायः उच्छेद हो जाता है। अथवा ग्रंथिभेद होने से तत्त्व सम्बंधी प्रगाढ़ विपर्यास टलने से अनुबंध प्रयोजक शक्ति से विशिष्ट भावी कर्मोत्पत्ति को ग्रंथिभेद का परिणाम रोक देता है। इस प्रकार अनुबंधरूपी महाविघ्नों का नाश होने से मोक्ष प्रकटीकरण का कार्य भी अल्प ज्ञान से साध्य बन जाता है।

सभी क्लेशों का मूल अनुबंध है। क्लिष्ट कर्म रूपी वृक्षों का मूल अनुबंध हैं। जो विपर्यास जल से सिंचित होकर विकसित होते हैं तब क्लिष्ट कर्म दुःखात्मक फल देते हैं।

सम्यग्दर्शन से युक्त सम्यग्ज्ञान अग्नि समान है। इस सम्यग्ज्ञान से क्लिष्ट कर्मों के मूल सरीखे अनुबंध जलकर भस्म हो जाते हैं और इससे क्लिष्ट कर्मों की क्लेशदायी फल देने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार अनुबंध का विच्छेद होने से क्लेश भी नष्ट होता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी मोक्ष प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। (उपदेश रहस्य श्लोक-६१/ टीका) इसलिये सम्यग्दृष्टि का अल्प ज्ञान भी पूर्ण होता है।

► सम्यग्दृष्टि में औचित्य की प्रधानता¹⁶ :-

योगबिंदु ग्रंथ में श्लोक ३४० से ३४५ तक सम्यग्दृष्टि जीवात्मा का सभी

स्थलों पर किस प्रकार का औचित्य होता है, यह निम्नानुसार बताया गया है -

- सम्यग्दृष्टि जीवात्मा (भिन्नग्रंथिक जीवात्मा) सभी कार्यों में औचित्य का पालन करता है, इसलिये धर्म और धन प्राप्ति आदि में नियम से अशुभ क्रिया नहीं करता और उचित (शुभ) प्रवृत्ति अवश्य करता है। क्योंकि पूर्व में दर्शाए अनुसार क्लेशदायी कर्मों का क्षय होता है अर्थात् सद् प्रवृत्ति में बाधक बननेवाले कर्मों का हास होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा धर्म में शुभ-आशय से तथा विधिपूर्वक प्रवृत्त होती है और धन प्राप्ति आदि सांसारिक कार्यों में न्याय-नीतिपूर्वक तथा दुःखित हृदय से प्रवृत्ति करती है। सांसारिक कार्य उसका ध्येय नहीं होते हैं। इसलिये वह आसक्ति से प्रवृत्त नहीं होती है। किसी भी प्रवृत्ति में औचित्य को नहीं चूकती है। अपनी भूमिका का संवहन हो, ऊपरी भूमिका का बीजारोपण हो और अन्य जीवात्माओं को कोई भी दुःख न पहुंचे, ऐसे व्यवहार को औचित्य कहा जाता है।

→ सम्यग्दृष्टि जीवात्मा को संसार से पारमार्थिक निर्वेद होता है :

क्योंकि उसे निर्मल विवेकरूपी चक्षु से संसार की निर्गुणता (सारहीनता) का यथार्थ ज्ञान होता है। संसार के स्त्री आदि सभी अंगों की निर्गुणता का उसे संवेदनात्मक बोध होता है। जिसमें परिणामतः हित, लाभ और सुख देने का कोई गुण नहीं होता है, उसे निर्गुण कहा जाता है। संपूर्ण संसार निर्गुण है।

→ सम्यग्दृष्टि-जीवात्मा को मुक्ति से दृढ़ अनुराग होता है। क्योंकि जन्म-जरा-मृत्यु का अभाव आदि मुक्ति के गुणों का उसे ज्ञान होता है और विपर्यास रूपी महादुःख के बीज का नाश हुआ है। समकिती के पास सम्यग्बोध होता है। इसलिये उसे शाश्वत-नाशवंत और तात्त्विक सुख-दुःख की भेदरेखा बिल्कुल स्पष्ट दिखने लगती है। उसे अब परिवर्तनशील भाव की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि स्थाई भावों की आवश्यकता होती है। जो सुख आकर बार-बार हाथ से निकल जाए ऐसे नाशवंत सुख की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि

शाश्वत सुख की आवश्यकता होती है और वह मात्र मोक्ष में ही होता है, परन्तु संसार की किसी वस्तु में अथवा (सत्ता-पदादि की) अवस्था में नहीं होता है, इसका उसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है। इसलिये मुक्ति के पारमार्थिक स्वरूप की पहचान और बुद्धि में विपर्यास का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि जीवात्मा को मोक्ष में दृढ़ अनुराग होता है।

विपर्यास रूपी महादुःख का बीज मिथ्यात्व मोहनीय आदि है। अन्य दुःखों की अपेक्षा से विपर्यास महादुःख है। क्योंकि विपर्यास अतत्त्व में तत्त्व का बोध करवाकर जीवात्मा को उन्मार्ग पर धकेल देता है और उन्मार्ग पर गये जीवात्माओं में हिंसादि पाप द्रव्य, भाव तथा उभय रूप में पूर्णतः खिल उठते हैं। इससे जीवात्मा को भयंकर दुःखों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विपर्यास महादुःखों का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार करके विपर्यास को ही महादुःख कहा गया है। संसार का त्याग हो और मुक्ति की प्राप्ति हो, इसके लिये सम्यग्दृष्टि जीवात्मा में औचित्य की (उचित व्यवहार की) प्रधानता होती है। क्योंकि औचित्य की प्रधानता के बिना संसार का त्याग और मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। सभी कार्यों में औचित्य की प्रधानता ही इष्ट कार्यों को अच्छी तरह से सिद्ध करती है।

ग्रंथिभेद के बल से उत्पन्न हुए आंतरिक पुरुषार्थ से प्रेरित सम्यग्दृष्टि तिस प्रकार के जीवात्मा जो कार्य उचित हो उस कार्य में ही भावपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति करता है और जो कार्य उचित न हो उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है। कदाचित् संयोग आदि के कारण कहीं अनुचित प्रवृत्ति करनी पड़े तो वह उपचार से (भाव के बिना) करता है।

→ आंतरिक पुरुषार्थ की प्रेरणा से औचित्यपूर्ण प्रवृत्ति होने से सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के वैराग्यादि भाव अन्य शुभभाव को परमार्थ से प्रवृत्त करते हैं अर्थात् प्रकट हुए शुभ भाव अन्य शुभ भावों को प्रकट करते हैं। जैसे कि जिस

कुंए में स्वयमेव पानी निकलता हो उस कुंए में प्रकट हुआ पानी जल्दी से बढ़ता है, वैसे ही औचित्य से सम्पन्न सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के वैराग्यादि भाव अन्य शुभ भावों को प्रकट करते हैं - खींच लाते हैं।

➡ शुद्ध अनुष्ठान की प्राप्ति :-

सम्यग्दृष्टि आत्मा को विषय, स्वरूप तथा अनुबंध से शुद्ध अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। योगग्रंथों में अनुष्ठान के तीन प्रकार बताये गये हैं। (१) विषय शुद्ध अनुष्ठान, (२) स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान और (३) अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान। इन तीनों अनुष्ठानों का स्वरूप, यह किसमें होते हैं, कब होते हैं और उनका फल क्या होता है, इसका विशेष वर्णन परिशिष्ट-३ में करेंगे।

➡ निरुपाधिकता का प्रारम्भ :-

सम्यग्दर्शन गुणस्थानक से निरुपाधिकता का प्रारम्भ होता है। यहां सम्यग्दर्शनयुक्त सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से पुद्गल तथा पुद्गलभाव (रागादि रूप) दोनों उपाधि की परभाव के तौर पर सच्ची पहचान होती है। “इस उपाधि के कारण ही मेरा आत्म स्वरूप मलीन हुआ है, मैं आत्म स्वरूप से दूर-सुदूर चला गया हूं, आत्म स्वरूप से विमुख होकर पर में भटक रहा हूं और यातनाएं भोग रहा हूं, पर के भटकाव ने ही राग-द्वेषादि द्वंद्वों की भेंट दी है और इसी से दुःखद भव परम्परा चल रही है” - ऐसे सच्चे ज्ञान के कारण पुद्गल-पुद्गल भाव के प्रति प्रीति-आसक्ति-आकर्षण टूट जाता है और पुद्गल-पुद्गल भाव के प्रति तात्त्विक वैराग्य पैदा होता है - यही निरुपाधिकता है। इस निरुपाधिकता का यहां से प्रारम्भ होता है और आगे के प्रत्येक गुणस्थानक में क्रमशः बढ़ता जाता है। जिससे साधक पुद्गल के जाल से बाहर निकलकर क्रमशः देशविरति, सर्वविरति, अप्रमत्त भाव आदि गुणस्थानकों को प्राप्त करता जाता है। यह निरुपाधिकता ही तात्त्विक धर्म की साक्षी होती है। इसलिये १२५ गाथा के स्तवन में कहा गया है कि,

जे जे अंशे रे निरुपाधिकपणुं, ते ते जाणो रे धर्म,
सम्यग्दृष्टि गुणठाणा थकी, जाव लहे शिवशर्म ।।

निरुपाधिकता परिपक्व ज्ञान प्राप्त होने के बाद ही प्राप्त होती है। सम्यग्दर्शन से पवित्र ज्ञान परिपक्व होता है और वह संवेदना के स्तर पर विकसित होता है। जिससे सभी विपर्यास-भ्रान्तियां खत्म हो जाती हैं और हेय हेयरूप में तथा उपादेय उपादेयरूप में संवेदित होता है। जिससे हेय ऐसे पुद्गल-पुद्गल भाव की प्रीति-आसक्ति-आकर्षण टूट जाता है।

► उदासीन भाव का प्रकटीकरण :-

आगे जिसका वर्णन किया जाएगा उस (चतुर्थ गुणस्थानक में प्राप्त होनेवाली) छठवीं दृष्टि के योगी को परिपक्व ज्ञान प्राप्त होता है। तब उस ज्ञान के प्रभाव से सुख-दुःख आदि के प्रति उदासीन भाव प्रकट होता है और उदासीनता के परिणामवाला ज्ञान परिपक्वता को प्राप्त करता है, तब चतुर्थ गुणस्थानक में भी अद्भुत कोटि का वैराग्य प्रवर्तित होता है।¹⁷

अद्भुत वैराग्य के कारण कर्म से आक्षिप्त (खिंचकर आनेवाली) भोग-प्रवृत्ति में भी साधक अनासक्त रहते हैं। भोग-प्रवृत्ति करते समय निर्ध्वंस भाव नहीं आते हैं। इससे अल्प पापकर्म का बंध होता है। इसीलिये वंदित्ता सूत्र में कहा गया है कि,

सम्मदिट्ठी जीवो जइ वि हु पावं समायरे किंची ।

अण्णो सि होइ बंधो जेण न निद्धंसं कुणइ ।।

पाप करने का कोई रंज न हो और पाप रच-पचकर किये जाते हों, पाप करने से प्राप्त हुई सफलता में गर्व का अनुभव हो और पाप करके उसकी प्रशंसा की जाती हो तथा सुख के लिये कैसे भी पाप करने की मनोवृत्ति हो, तो यह पापकार्य में निहित निर्ध्वंसता है। समकिती आत्मा में ऐसी निर्ध्वंसता नहीं होती है। इसलिये उसे पापकर्म का बंध अल्प ही होता है।

अमृतवेल की सज्जाय में कहा गया है कि, उदासीनभाव ही वास्तव में मोक्षमार्ग है।¹⁸ सांसारिक बंधन शिथिल पड़ते हैं तब मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है और जैसे-जैसे बंधन टूटते जाते हैं, वैसे-वैसे मोक्षमार्ग में विकास होता है। उदासीनता के परिणाम के बिना बंधनों का शिथिलीकरण और उनका क्रमशः हास संभव नहीं होता है। इसलिये चतुर्थ गुणस्थानक में उदासीनता का परिणाम प्राप्त होने से परमार्थ से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

इसलिए अमृतवेल की सज्जाय में कहा है कि, “ देखीये मार्ग शिवनगरनो, जेह उदासीन परिणाम रे, तेह अणछोडतां चालिये, पामिए जिम परमधाम रे” अतः उदासीनभाव ही मोक्षमार्ग है।

➡ सम्यक्त्व के आठ आचार¹⁹ :-

जिसको सम्यग्दर्शन स्थिर रखना है, उसे सम्यक्त्व के आठ आचारों का पालन अवश्य करना चाहिये। इन आठ आचारों को ‘दर्शनाचार’ के आठ आचार भी कहा जाता है। ये निम्नानुसार हैं।

(१) निःसंदेह :- तारणहार श्री जिनेश्वरों के वचनों में संदेह नहीं करना चाहिये। इन परमतारकों का गलत बोलने का कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि वे राग-द्वेष और मोह से सर्वथा मुक्त हैं। उनका ज्ञान त्रिकालाबाधित है। वर्तमान काल भी उनकी ज्ञान दृष्टि से पर नहीं था। केवलीभगवंत तीनों काल के सभी द्रव्यों तथा सभी पर्यायों को भली भांति जानते हैं। इसलिये उनकी आज्ञा इस काल को भी स्पर्श करती है। इसलिये उसमें संदेह नहीं करना चाहिये। संक्षेप में, श्री जिनेश्वरों ने जो कहा है वही सत्य और संदेह रहित है, ऐसा दृढ़ विश्वास सम्यग्दर्शन का निःशंकित नामक प्रथम आचार है। आगमगम्य पदार्थों को श्रद्धा से न माना जाए तो इसके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये आगमगम्य पदार्थों को श्रद्धापूर्वक मानना अत्यावश्यक है। इसमें शंका करने से सम्यग्दर्शन टिक नहीं पाता है।

(२) निष्कांक्षितता :- निष्कारण उपकारी श्री जिनेश्वरदेव के शासन से अतिरिक्त अन्य दर्शन की आकांक्षा न होना 'निष्कांक्षितता' नामक दूसरा दर्शनाचार है। अन्य मत की आकांक्षा नहीं होनी चाहिये। इसके अलावा देव, गुरु तथा धर्म की सेवा के बदले में भौतिक पदार्थों की आकांक्षा न करना भी इस आचार में आता है।

(३) निर्विचिकित्सा :- श्री जिनेश्वर देवों द्वारा प्ररूपित अनुष्ठानों के फल के प्रति संदेह न रखना 'निर्विचिकित्सा' नामक तीसरा दर्शनाचार है। फल के प्रति संदेह से प्रभु के प्रति श्रद्धा में त्रुटि उत्पन्न होती है, जो मिथ्यात्व को खींच लाती है।

(४) अमूढदृष्टि :- मूढ़ अर्थात् मूर्ख, अमूढ़ अर्थात् विचक्षण। कैसे भी संयोगों में अमूढ़ दृष्टि बनकर रहना चाहिये, सन्मार्ग से चलायमान नहीं होना चाहिये, श्री जिनेश्वरदेव के वचनों पर दीर्घदृष्टि से विचार करना चाहिये, सुंदर-सूक्ष्मबुद्धि से उन्हें समझना चाहिये, किसी भी परिस्थिति में आकुल-व्याकुल होकर धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। यह अमूढ़ दृष्टिता है। हर समय किसी भी विषय को श्री जिनेश्वरदेवों के वचनों के आधार पर ही देखना चाहिये।

(५) उपबृंहणा :- चतुर्विध संघ के गुणवान् पुरुषों की 'उपबृंहणा' करना पांचवा दर्शनाचार है। गुणवान् आत्मा की निंदा-आलोचना, असूया, उपेक्षा करना दर्शनाचार की उपेक्षा करने के बराबर है।

यहां विशेषतः स्मरण रखना चाहिये कि, जैनशासन में गुण की ही अनुमोदना करने को कहा गया है, गुणाभास की नहीं। जो गुण परिणाम से सुंदर है, उसकी प्रशंसा करनी है। जो गुण परिणाम से सुंदर नहीं, ऐसे गुणाभास की प्रशंसा नहीं करनी है। गुणाभास की प्रशंसा की जाए तो उन्मार्ग का पोषण होता है और इससे निज-पर का मिथ्यात्व बढ़ता है तथा सम्यग्दर्शन का घात होता है। इसीलिये समकित की सज्झाय में कहा गया है कि,

“मिथ्यामति गुण वर्णनो, टालो चौथो दोष,
उन्मार्गी थुणतां हुवे, उन्मार्गनो पोष ।”

प्रश्न :- अमृतवेल की सज्जाय में तो अन्य दर्शन के गुणवानों के भी गुण स्मरण करने के लिये कहा गया है, तो फिर यहां क्यों निषेध किया गया है ?

उत्तर :- भाई, आप भूल रहे हैं। अमृतवेल की सज्जाय की उस कड़ी को समझने में आपने भूल की है। जो गुण जिनवचनानुसारी हो, उसकी अनुमोदना अवश्य करनी है। अब जिनवचनानुसारी गुण का सेवन करनेवाले लोग दो प्रकार के होते हैं। इनमें एक तो स्वयं सन्मार्ग पर रहते हैं और दूसरे उन्मार्ग पर रहते हैं, फिर भी उनमें आंतरिक रूप से मार्गानुसारिता प्रकट होने के कारण उनमें जिनवचनानुसारी गुण प्रकट होता है। ऐसी परिस्थिति में सन्मार्ग पर रहनेवाले गुणवान पुरुषों के गुणों की मन में अनुमोदना भी करनी है और सार्वजनिक रूप से प्रशंसा भी करनी है। जबकि जो लोग उन्मार्ग पर हैं, उनके जिनवचनानुसारी गुणों की मात्र मन में ही अनुमोदना करनी है, परन्तु सार्वजनिक रूप से उनकी प्रशंसा कदापि नहीं करनी है। क्योंकि उन्मार्गी व्यक्ति में एक-दो गुण जिनवचनानुसारी प्रकट होते हैं, परन्तु उनकी शेष प्रवृत्ति जिनवचन से विरुद्ध होती है, इस कारण यदि उनकी सार्वजनिक रूप से प्रशंसा की जाए तो गुण के साथ-साथ गुणाभास की भी अनुमोदना हो जाती है, जो निज-पर के मिथ्यात्व की वर्धक होती है तथा उन्मार्ग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले, ऐसी भी संभावना रहती है और अनभिज्ञ लोग गलत वस्तु ग्रहण करें, यह भी संभव है। इसलिये सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा नहीं करनी है। अमृत वेल की सज्जाय की वह पंक्ति इस प्रकार है -

“अन्यमां पण दयादिक गुणो, जेह जिनवचन अनुसार रे,
सर्व ते चित्त अनुमोदिये, समकित-बीज निरधार रे, चेतन (२०)”

जिसकी मिथ्यात्व की वासना दूर न हुई हो, उसके जीवन में एक-दो गुण दिखाई देने मात्र से उसकी प्रशंसा करने पर प्रशंसा करनेवाला ही उन्मार्ग

का पोषक बन जाता है।

(६) **स्थिरीकरण :-** धर्मप्राप्त जीवात्माओं को धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिये। वे प्रभु के मार्ग में स्थिर हों, ऐसे उपाय करने चाहिये। धर्म में शिथिल हुई आत्माओं को धर्म में स्थिर करना यदि संभव हो तो इसके लिये हर संभव प्रयास करना चाहिये। परन्तु कोई धर्ममार्ग से चलित हो जाए, शिथिल हो जाए, ऐसा काम कदापि नहीं करना चाहिये। हमारी वाणी-व्यवहार से कोई व्यक्ति धर्म में अस्थिर हो जाए, ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिये।

(७) **वात्सल्य :-** साधर्मिकों के प्रति वात्सल्य रखना चाहिये। उनकी भक्ति करनी चाहिये। जैसे गुणवान के गुणों के प्रति प्रमोदभाव रखना चाहिये, वैसे ही गुणवान साधर्मिकों के प्रति भक्तिभाव भी रखना चाहिये। वात्सल्य भाव में करुणा नहीं, अपितु भक्ति है। यदि भक्ति के बदले करुणा-अनुकंपा रखी जाए तो यह दोष रूप होती है।

(८) **प्रभावना :-** श्री जिनेश्वरदेव के शासन की प्रभावना हो, ऐसी क्रियाएं और प्रवृत्तियां करने के उपाय करने चाहिये। जैनशासन की प्रभावना करनेवाले आठ प्रकार के प्रभावक जैनशासन में बताये गये हैं। (१) प्रावचनिक, (२) धर्मकथी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विद्यावान, (७) सिद्ध और (८) कवि। इस प्रकार सम्यग्दर्शन गुण के संरक्षण के लिये पूर्वोक्त आठ आचारों का उचित ढंग से पालन करना चाहिये।

► **सम्यग्दृष्टि की विचार शैली :-**

योगबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि, सम्यग्दृष्टि जीवात्मा सदैव यही विचार करता है कि, कैसे मेरे संसार का वियोग (नाश) हो ? और कैसे मुझे मुक्ति प्राप्त हो ? इस सम्यग् विचारणा को ग्रंथ में स्फुरायमान रत्न समान तथा निर्मल चित्त स्वरूप दर्शाया गया है। जैसे स्फुरायमान रत्न का प्रकाश चारों ओर फैलता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से सम्यग्दृष्टि आत्मा में अनेक प्रकार से प्रकाश फैलता है।

इस शुद्ध तर्क-वितर्क से (अर्थात् संसार वियोग और मोक्ष प्राप्ति के सम्यग् विचारणा से) सत्त्व (आत्म वीर्य) की वृद्धि होती है। सत्त्व की वृद्धि से चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है। मन भवाभिनंदिता के (मन के) क्षुद्रतादि दोषों से संक्षुब्ध नहीं होता है - स्थिर रहता है और मन की स्थिरता से शुश्रूषा, धर्मराग आदि सम्यग्दृष्टि के अनुष्ठान शुद्ध होते हैं।²⁰ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा सदैव संसारवियोग के विचारों में ही मग्न रहता है। इस कारण धर्मशुश्रूषादि अनुष्ठान शुद्ध होते हैं और कर्मयोग से होनेवाली पाप प्रवृत्तियाँ भी अल्प पाप कर्म का बंध करती हैं।

■ स्याद्वाद सम्यक्त्व का प्राण है :-

स्याद्वाद सम्यक्त्व का प्राण है। स्याद्वाद के ज्ञान के बिना सम्यक्त्व टिक नहीं सकता। इसलिये भाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये स्याद्वाद का ज्ञान आवश्यक है। उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

सदसदविसेसणाओ विभज्जवायं विणा ण सम्मत्तं ।

जं पुण आणारूइणो तं निउणा बिंति दब्बेण ॥१००॥

- विभज्यवाद के बिना (स्याद्वाद के परिज्ञान के बिना) सद् और असद् का भेद करना संभव न होने से सम्यक्त्व भी स्थिर नहीं रह सकता है और आज्ञारुचि जीवात्मा में जो सम्यक्त्व होता है (जो शास्त्र में बताया गया है) वह द्रव्य से होता है, ऐसा पू. श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी आदि विद्वान कहते हैं।

कहने का आशय यह है कि, स्याद्वाद के सम्यग् परिज्ञान के बिना स्व सिद्धांत का विधि स्वरूप यथार्थ प्रतिपादन और परसिद्धांत का निषेध स्वरूप यथार्थ निरूपण नहीं किया जा सकता है और इस कारण सम्यक्त्व टिक नहीं पाता है। क्योंकि, सम्यक्त्व स्याद्वाद की मर्यादाओं का अतिक्रमण किये बिना पदार्थों के यथार्थ ज्ञान की 'रुचि' स्वरूप होता है।

प्रश्न : यदि स्याद्वाद के ज्ञान के बिना सम्यक्त्व संभव न हो तो (अर्थात् स्याद्वाद

के अवलंबनवाली विस्तार रुचि न हो तो सम्यक्त्व टिकता नहीं है और स्याद्वाद के अवलंबनवाली विस्तार रुचि हो तो सम्यक्त्व टिकता है, तो) शास्त्रों में संक्षेप रुचिवाले के लिये जो सम्यग्दर्शन बताया गया है, यह बात कैसे सुसंगत हो सकती है ? यह शास्त्र वचन तो मिथ्या सिद्ध होगा न ?

उत्तर : वह शास्त्र वचन मिथ्या नहीं है। क्योंकि संक्षेप रुचिवाले जीवात्मा में द्रव्य सम्यक्त्व के रूप में सम्यक्त्व हो सकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जो जीवात्मा आज्ञारुचि है अर्थात् जिसे गीतार्थ की आज्ञा पसंद है और जो मार्गानुसारी भी है, उसे द्रव्य सम्यक्त्व हो सकता है। तर्क निपुण पू. आ. भ. श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने भी यह बात कही है। क्योंकि संक्षेप रुचि जीवात्माओं में भी स्याद्वाद को स्वीकार करने की अखंडित योग्यता होती है। इस प्रकार भाव से सम्यक्त्व प्राप्त करने के लिये स्याद्वाद सिद्धांत को समझना अत्यावश्यक है। इसलिये अब यहां 'स्याद्वाद' का आंशिक स्वरूप समझते हैं।

● स्याद्वाद :-

एक ही पदार्थ में अलग-अलग अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करना वह स्याद्वाद है। सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों को भी एक पदार्थ में अपेक्षा भेद से स्वीकार करना स्याद्वाद सिद्धांत का कार्य है। जैसे वस्तु में किसी अपेक्षा से सत्त्व (अस्तित्व) धर्म रहता है, वैसे ही अन्य किसी अपेक्षा से असत्त्व (नास्तित्व) धर्म भी रहता है। जैसे कि घट पदार्थ में मिट्टी की अपेक्षा से सत्त्व धर्म है, तो तंतु की अपेक्षा से असत्त्व धर्म भी है। इसी प्रकार आत्मा में द्रव्य की अपेक्षा से नित्यत्व धर्म है, तो पर्याय की अपेक्षा से अनित्यत्व धर्म है। इस प्रकार सम्यग् अपेक्षाओं के स्पष्टीकरण द्वारा वस्तु में निहित अनेक वास्तविक धर्मों का प्रतिपादन करने को स्याद्वाद कहा जाता है। जैन दर्शन प्रत्येक विषय के स्वरूप में स्याद्वाद को स्वीकार करता है। इसलिये "जैन दर्शन विचार में स्याद्वाद तथा आचरण में अहिंसा को मानता है।" ऐसी जिनकी मान्यता है, वह मान्यता उनकी

जैनदर्शन की अनभिज्ञता दर्शाती है।

व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखनेवाले उदाहरण भी स्याद्वाद सिद्धांत का ही प्रतिपादन करते हैं - जैसे कि एक ही पुरुष में अपने पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, अपनी भार्या की अपेक्षा से पतित्व, व्यवसाय की अपेक्षा से व्यापारित्व, अपने पिता की अपेक्षा से पुत्रत्व, अपने पौत्र की अपेक्षा से दादत्व, अपने नौकरों की अपेक्षा से स्वामित्व इत्यादि अनेक धर्म रहते हैं, यह हम स्पष्ट देख सकते हैं।

स्याद्वाद सिद्धांत वस्तु जिस-जिस स्वरूप में दिखाई देती है, उन सभी स्वरूप में वस्तु को स्वीकार करता है। एक ही स्वरूप के एकांत का वह कभी आग्रह नहीं रखता है। सिक्के के दो पहलू होते हैं। एक तरफ सोना है तो दूसरी तरफ चांदी होती है। स्याद्वाद सिद्धांत के परमार्थ को जाननेवाला पुरुष सिक्के को अलग-अलग अपेक्षा से अलग-अलग स्वीकार करता है। दो पहलू होने के बावजूद कोई व्यक्ति अपनी ओर के एक पहलू को सत्य माने और दूसरी ओर के दूसरे पहलू को गलत माने और आग्रह रखे कि सिक्का सोने का ही है या चांदी का ही है, तो व्यवहार में विरोध-झगड़ा पैदा होता है।

इस प्रकार वस्तु के सभी स्वरूपों को स्वीकार करना चाहिये। इस विषय की अन्य स्पष्टताएं अन्य स्रोतों से प्राप्त कर लें। “जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धांत” पुस्तक में स्याद्वाद आदि विषयों की चर्चा की गई है।

► **सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के कर्तव्य :-**

गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में सम्यग्दृष्टि जीवात्मा के कर्तव्यों को दर्शाते हुए कहा गया है कि,

देवे गुरौ च संङ्घे च, सद्भक्तिं शासनोन्नतिम् ।

अव्रतोऽपि करोत्येव, स्थितस्तुर्ये गुणालये ॥२३॥

- अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानक वाला जीवात्मा व्रत-नियम

से रहित होने के बावजूद देव, गुरु और चतुर्विध संघ के विषय में सुंदर भक्ति करता है तथा जैनशासन की उन्नति (प्रभावना) करता है। सम्यग्दृष्टि जीवात्मा स्वयं को प्राप्त जैनशासन की अच्छी तरह से आराधना करने की तमन्ना रखता है और जगत के जीवात्माओं का भी कल्याण चाहता होने से उन्हें भी कल्याणकारी जैन शासन की प्राप्ति हो, ऐसे शासन की उन्नति के कार्य करता है।

शास्त्रों में कहा गया है कि, जो अविरत सम्यग्दृष्टि जीवात्मा हमेशा संघ की भक्ति और शासन की प्रभावना करता है, वह व्रत-नियम रहित होने के बावजूद प्रभावक श्रावक होता है।²¹

➡ योगदृष्टि में विकास :-

प्रथम गुणस्थानक में मित्रा, तारा, बला और दीप्रा - यह चार दृष्टियां प्राप्त होती हैं। चतुर्थ गुणस्थानक में पांचवीं स्थिरा और छठवीं कांता दृष्टि प्राप्त होती है। हालांकि स्थिरा और कांता दृष्टि पांचवें गुणस्थानक में और छठवें गुणस्थानक में भी होती है। इस दृष्टि के वर्णन में इस विषय की विशेष स्पष्टता की गई है। अब आगे क्रमशः पांचवीं और छठवीं दृष्टि का वर्णन करेंगे।

→ टिप्पणकम् :- 1. उदय में आए कर्मों का क्षय करना और सत्ता में आए कर्मों का उपशम करना क्षयोपशम कहलाता है। सत्ता में आए कर्म का शुद्ध अथवा मंदरसयुक्त उदय क्षयोपशम है। 2. सुद्धो सुओवओगा मग्गाणुसरित्तओ अ केसिं चि। जायइ गलिए नियमा मिच्छत्तकए विवज्जासे ॥६॥ (उपदेशरहस्य) मिथ्यात्वजनित भ्रम जब अवश्य टल जाते हैं, तब शुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं। वे या तो श्रुतज्ञान के उपयोग से अथवा कुछ लोगों में मार्गानुसारिता से उत्पन्न होते हैं। 3. एसो पुण सम्मत्तं सुहायपरिणामरुवमेवं च। अप्पुव्वकरणसज्झं चरमुक्कोसट्ठिईखवणे ॥६-१॥ (विंशतिविंशिका) यद्यपि शुद्धधर्म शुभ आत्मपरिणामस्वरूप सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व चरम उत्कृष्टस्थिति का क्षय होने के बावजूद अपूर्वकरण से साध्य है। 4. शुश्रूषा धर्मरागश्च गुरुदेवादिपूजनम्। यथाशक्ति विनिर्विष्टं लिङ्गमस्य महात्मभिः ॥ (यो० बि०-२५) 5. भोगिकित्ररगेयादिविषयाधिक्यमीयुषी। शुश्रूषाऽस्य न सुमेश-कथार्थविषयोपमा ॥२॥ अप्राप्ते भगवद्वाक्ये धावत्यस्य मनो यथा। विशेषदर्शिनोऽर्थेषु प्राप्तपूर्वेषु नो तथा ॥३॥

(सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका) 6. धर्मरागोऽधिको भावाद् भोगिनः स्रूयादिरागतः । प्रवृत्तिस्त्वन्यथापि स्यात्कर्मणो बलवत्तया ॥४॥ तदलाभेऽपि तद्वागबलवत्त्वं न दुर्बलम् । पूयिकाद्यपि यद् भुङ्क्ते घृतपूर्णप्रियो द्विजः ॥५॥ (सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका) 7. गुरुदेवादिपूजाऽस्य त्यागात्कार्यान्तरस्य च । भावसारा विनिर्दिष्टा निजशक्त्यनतिक्रमात् ॥६॥ (सम्यग् द्वा०) 8. एसो उ भावधम्मो धारेइ भवन्नवे निवडमाणं । जम्हा जीवं नियमा अन्नो उ भवंगभावेणं ॥९॥ दाणाइया उ एयंमि चेव सुब्बा उ हुंति किरियाओ । एयाओ वि हु जम्हा मुखफलाओ पराओ य ॥१०॥ (सद्धर्मविंशिका) 9. टीका - भावाज्ञा पुनर्जायते सम्यग्दृष्टे मूलम् - आदिम् अधिकृत्य, तदनंतरमेव प्रशमसंवेगनिर्वेदानु-कंपास्तिक्यरूपमोक्षपुरप्राप्तिसार्थोपलब्ध्येः, XXXX... असति प्रतिबंधे निर्वेदप्राणस्य तस्य हित एवोत्कटेच्छाजननस्वभावत्वात्, तद्गुणप्राबल्यप्रयोज्यप्रयत्नस्य विरत्यावरककर्मस्थित्यपवर्तन-प्रवणत्वाच्च ॥४०॥ (उपदेशरहस्य) 10. मनःशुद्धिश्च सम्यक्त्वे, सत्येव परमार्थतः । तद्विना मोहगर्भा सा, प्रत्यपायानुबन्धिनी ॥९२-९॥ (अध्यात्मसारः) 11. शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाभिः परिष्कृतम् । दधतामेतदच्छिन्नं, सम्यक्त्वं स्थिरतां व्रजेत् ॥९२-५८॥ (अध्यात्मसारः) 12. XXX अनधीनं निरंतरस्वपरिणतिधारापतितत्वादिस्थमपीतरकारणस्पृहौत्सुक्याभावादितर-सुखातिशायित्वमव्याहतम्, इत्थमप्यन्यातिशयित्वं स्पष्टमेव ॥ (उपदेश रहस्य - ६९/टीका) 13. न य एयं अण्णसिं बज्जं पि न हंदि तेण तत्तुल्लं । उत्तमसंगविसेसा तणं हि कणगं सुरगिरिम्मि ॥७२॥ टीका - XXXX दृष्टान्तमाह - तृणं हि सुरगिरावृत्तमसंगविशेषात् कनकमिति व्यपदिश्यते, एवं बाह्यसुखमपि विशिष्टान्तरसुखसंवेधादेव विशिष्यते, न चैवं मिथ्यादृष्टावस्तीति कथं तत्सुखं विशिष्यताम्! (उपदेशरहस्य) 14. न चेह ग्रन्थिभेदेन, पश्यतो भावमुत्तमम् । इतरेणाकुलस्यापि, तत्र चित्तं न जायते ॥२०५॥ (यो० वि०) 15. ग्रन्थौ विभिन्ने प्रतिबंधतोऽपि - तथाविधज्ञानावरणोदयकृतविघातसंभवेऽपि ज्ञानं परिपूर्णम् अविकलमेव “तमेव सच्चं गीसंकं जं जिणेहिं पवेइअं” (आचारांगसूत्र-५-५-१६२) इत्यादिश्रद्धानुरूपया गीतार्थप्रज्ञापनीयत्वादिरूपया वा योग्यतया तुच्छस्यापि तज्ज्ञानस्य पूर्णत्वादिति भावः । (उप० रह० ६०/टीका) 16. अस्यौचित्यानुसारित्वात्, प्रवृत्तिर्नासतो भवेत् । सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद्, ध्रुवः कर्मक्षयो यतः ॥३४०॥ संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः । संज्ञानचक्षुषा सम्यक्, तत्रैर्गुण्योपलब्धितः ॥३४१॥ मुक्तौ दृढानुरागश्च, तथा तद्गुणसिद्धितः । विपर्ययो महादुःख-बीजनाशाच्च तत्त्वतः ॥३४२॥ एतत्त्यागातिनिवृत्त्यर्थमन्यथा तदभावतः । अस्यौचित्यानुसारित्वमलिप्यार्थसाधनम् ॥३४३॥ औचित्यं भावतो यत्र, तत्रायं सम्प्रवर्तते । उपदेशं विनाप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदितः ॥३४४॥ अतस्तु भावो भावस्य, तत्त्वतः सम्प्रवर्तकः । शिराकूपे पय इव, पयोवृद्धेर्नियोगतः ॥३४५॥ (यो०

बिं० 17. औदासीन्यफले ज्ञाने परिपाकमुपेयुषि । चतुर्थेऽपि गुणस्थाने, तद् वैराग्यं व्यवस्थितम् ॥५-३६॥ (अध्यात्मसार) 18. देखिये मार्ग शिवनगरनो, जेह उदासीन परिणाम रे, तेह अणछोड़तां चालीए, पामीए जिम परमधाम (अमृतवेल की सज्झाय) 19. निस्संक्रिय निक्कंखिअ निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीअ । उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥ 20. सति चास्मिन्स्फुरद्रत्न-कल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः । भावस्तैमित्यतः शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥२०८॥ (यो० बिं०) 21. जो अविरओऽपि संघे, भर्ति तित्थुण्णइं सया कुणई (कालं) । अविरयसम्मदिट्ठी, पभावगो सावगो सोवि ॥११॥ (गुणस्थानकक्रमारोह - टीका)



प्रकरण - १४ : सदृष्टियों में प्रवेश - पांचवीं स्थिरा दृष्टि

पूर्व में दर्शाए अनुसार अवेद्यसंवेद्य पद के जय से कुर्तक की निवृत्ति होती है। कुर्तक की निवृत्ति के परिणामस्वरूप सदृष्टियां प्रकट होती हैं।¹ सदृष्टियां चार हैं। (१) स्थिरा दृष्टि, (२) कांता दृष्टि, (३) प्रभा दृष्टि और (४) परा दृष्टि। इनमें से चतुर्थ गुणस्थानक में स्थिरा और कांता दृष्टि की प्राप्ति होती है। यहां इन दो दृष्टियों का स्वरूप और उनमें प्राप्त होनेवाले गुण-वैभव के विषय में जानेंगे।

-: स्थिरा दृष्टि :-

ग्रंथ का भेदन होने के बाद सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन की विद्यमानता में स्थिरा दृष्टि की प्राप्ति होती है। योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में “तत्पुनः पञ्चमी तावद्योगदृष्टिर्महोदया ॥१५३॥” - इस पंक्ति से पांचवीं स्थिरा दृष्टि का ‘महोदय’ के रूप में वर्णन किया गया है। मित्रादि चार दृष्टियों में जो कार्य सिद्ध नहीं हुआ था, वह कार्य स्थिरा दृष्टि में सिद्ध होता है। प्रथम चार दृष्टियों में मोक्ष में जाने की इच्छा होने के बावजूद उसके अनन्य साधनभूत सम्यग्दर्शनादि प्राप्त न होने से साधक की इच्छानुसार प्रगति नहीं हो सकती थी। पांचवीं दृष्टि में मोक्ष की साधना की प्राप्ति होने से साधक को अपने महोदय (निर्वाण रूपी फल की प्राप्ति शीघ्र होगी, तद्रूप महोदय) की प्रतीति होती है। संक्षेप में स्थिरा दृष्टि निर्वाण रूप फल देनेवाली है।^A

टिप्पणकम् :- ^Aयूं तो योग की सभी दृष्टियां निर्वाण फल देनेवाली हैं। फिर भी पांचवीं दृष्टि को निर्वाणफलप्रद क्यों कहा है? - ऐसा प्रश्न उठ सकता है। इसका समाधान यह है कि प्रथम चार दृष्टियां योगमार्ग स्वरूप हैं, फिर भी वे अवेद्यसंवेद्य पद से आक्रांत हैं। इसलिये मोक्ष की कारण होने के बावजूद मोक्ष से विपरीत भावों में रुचि करानेवाली अवेद्यसंवेद्य पदवाली भी हैं। जबकि पांचवीं दृष्टि तो वेद्यसंवेद्य पद स्वरूप ही है। इसलिये उसका संपूर्ण बोध मोक्ष के प्रति एकांत रुचिवाला है। इसलिये उसके बोध से अवश्य निर्वाण फल प्राप्त होगा। कदाचित् पाप की प्रवृत्ति होगी तो भी वेद्यसंवेद्य पद के कारण पाप की प्रवृत्ति रसहीन होने के कारण वह मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं बनेगी।

► स्थिरा दृष्टि का बोध :-

“स्थिरा तु भिन्नग्रन्थेरेव भवति तद्बोधो रत्नप्रभासमानस्तद्भावाऽप्रतिपाती प्रवर्धमानो निरपायो नापरपरितापकृत् परितोषहेतुः प्रायेण प्रणिधानादियोनिरिति ।” [यो. दृ. समु.-१५/टीका]

- स्थिरादृष्टि भिन्न ग्रंथिवाले सम्यग्दृष्टि में होती है। स्थिरा दृष्टि का बोध रत्नप्रभा के समान होता है। यह बोध अप्रतिपाती, प्रवर्धमान, निरपाय, अन्य का परिताप नहीं करनेवाला, परितोष का कारण और प्रायः प्रणिधानादि की योनिवाला है।

स्थिरा दृष्टि का बोध स्थिर है, इसीलिये उसका नाम ‘स्थिरा’ सार्थक है। अनादि की राग-द्वेष की ग्रंथि भेदन के बाद यह दृष्टि प्राप्त होती है। इस दृष्टि का बोध रत्न की प्रभा समान है। दीपक का प्रकाश सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं को नहीं दिखा सकता है और हवा से कंपायमान होता है तथा तेजहवा से बुझ भी जाता है। जबकि रत्न का प्रकाश एक समान स्थिर रहता है और बुझता भी नहीं है। इसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में हेय-उपादेय का विवेक सूक्ष्म होता है, इसमें श्रद्धा दृढ़ होती है, कंपायमान नहीं होती है और बोध अप्रतिपाती अर्थात् न बुझनेवाला होता है। इसीलिये उसकी रत्न की प्रभा से तुलना की है। ग्रंथकार महर्षि ने इस बोध के अप्रतिपाती आदि जो विशेषण दर्शाए हैं, उनके विषय में अब क्रमशः चर्चा करेंगे।

→ अप्रतिपाती :-

स्थिरा दृष्टि का बोध अप्रतिपाती है। जो यहां स्थिरा दृष्टि का बोध अप्रतिपाती कहा है, वह क्षायिक सम्यक्त्ववाले जीवात्माओं को दृष्टि-सन्मुख रखकर कहा है, ऐसा समझना है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट नहीं होता है। क्षयोपशम भाव के सम्यक्त्ववाले जीवात्माओं का बोध प्रतिपाती हो सकता है। क्योंकि क्षयोपशम सम्यक्त्व एक बार आकर जा भी सकता है।

योग दृष्टि-गाथा-१५४ में स्थिरादृष्टि के बोध को निरतिचार स्थिति में नित्य (अप्रतिपाती) कहा गया है और सातिचार स्थिति में अनित्य (प्रतिपाती) कहा है। इसकी भी आगे चर्चा करेंगे।

स्थिरा दृष्टि का साधक अनासक्त होने के कारण उसमें निर्व्वस परिणाम नहीं होते हैं। इसलिये कर्म योग से पाप प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी उसमें उसे तीव्र रुचि न होने से वह धर्म में बाधक बननेवाला क्लिष्ट कर्मबंध नहीं करता है।

→ प्रवर्धमान :-

स्थिरा दृष्टि का बोध प्रवर्धमान होता है अर्थात् क्रमशः बढ़ता है। स्थिरा दृष्टि के साधक का अपायदर्शन स्पष्ट और तीव्र होता है। इस कारण उसका बोध निरंतर बढ़ता जाता है। यद्यपि स्थिरा दृष्टि के साधक को भगवान के वचन के प्रति अत्यंत पक्षपात होने से प्रभु की आज्ञा के पालन में यथाशक्ति उद्यमशील होता है, इस कारण उसका बोध क्रमशः बढ़ता जाता है।

बोध के अनुकूल क्रिया की जाए तब (अर्थात् बोध में संवेदित हेय-उपादेय पदार्थों को छोड़ने और आचरण की क्रिया की जाए तब) बोध प्रवर्धमान बनता है। जो जाना है, उसका अमल करने से बोध बढ़ता है और अमल में न लाया जाए तो बोध फीका पड़ता जाता है। इसलिये स्थिरा दृष्टि का साधक उचित क्रियाओं में (श्रुत-चारित्र की क्रियाओं में) यथाशक्ति यत्न करता है।

→ निरपाय :-

स्थिरा दृष्टि का बोध निरपाय होता है अर्थात् अपायवाला (आत्मीय हानिकारक) नहीं होता है - अनर्थ फल देनेवाला नहीं होता है। क्योंकि स्थिरादृष्टि का साधक अधिकांशतः पाप प्रवृत्ति करता ही नहीं है। कदाचित् कर्म योग से करे तो भी उसकी वह पाप प्रवृत्ति संकंप होती है, वह रच-पचकर पाप प्रवृत्ति नहीं करता है। संवेग प्रधान होती है। (मोक्षाभिलाषा का हनन हुए बिना संवेग प्रधान अंततोगत्वा होनेवाली क्रिया होती है।) अनुबंध रहित होती है और इसलिये

अंतिम पाप प्रवृत्ति होती है।^२ आसक्ति और निध्वंस परिणाम रहित पाप प्रवृत्ति होने से बोध निरपाय बना रहता है। (कोई भी पाप प्रवृत्ति आसक्तिपूर्वक निध्वंस परिणामों से हो तो वह संप्राप्त बोध को खत्म करती है।)

→ अपर-अपरितापकृत् :-

स्थिरादृष्टि वाले साधक का बोध किसी के परिताप का (दुःख-संताप का) कारण नहीं बनता है। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति औचित्य-विवेकपूर्ण होती हैं। स्थिरादृष्टिवाले साधक की प्रवृत्ति अन्य का हित करने की ही होती है, अहित करने की नहीं होती है। स्थिरादृष्टिवाले साधक का मन मैत्री आदि भावनाओं से भावित होने के कारण प्रत्येक जीवात्मा के प्रति औचित्यवाला होता है। सभी जीवात्माओं के प्रति उसकी हित की भावना होती है। योग्य जीवात्माओं का हित करके परोपकार के रूप में मैत्रीभाव का सेवन करता है और अयोग्य जीवात्माओं का हित चाहने के रूप में मैत्री भाव का परिणाम होता है। वह किसी भी जीवात्मा का अहित नहीं चाहता है। गुणवान जीवात्माओं के गुणों को देखकर प्रमोद भाव धारण करता है। उनके प्रति ईर्ष्यादि भाव नहीं रखता है। दुःखी जीवात्माओं को देखकर उसे करुणा होती है लेकिन उपेक्षा या तिरस्कार भाव उत्पन्न नहीं होता है। अविनयी दुर्गुणी जीवात्माओं के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, लेकिन उनसे द्वेष नहीं रखता है या उनका बुरा करने का विचार नहीं करता है। इस प्रकार स्थिरादृष्टि वाले साधक का बोध किसी के परिताप का कारण नहीं बनता है, बल्कि सभी जीवात्माओं के परितोष का कारण बनता है। जो आगे के विशेषण में दर्शाया गया है -

→ परितोष का हेतु :-

स्थिरादृष्टिवाले साधक का बोध सभी के परितोष का कारण बनता है। क्योंकि उसके जीवन में विवेकपूर्ण परोपकार होता है और कभी किसी को दुःख-पीड़ा देने की उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति नहीं होती है।

→ प्रायः प्रणिधानादि योनि :-

स्थिरादृष्टिवाले साधक का बोध प्रायः धर्मानुष्ठान में प्रणिधानादि आशय पैदा करने का कारण बनता है। स्थिरादृष्टि के बोध से संसार की विमुखता और मोक्ष की अभिमुखता प्राप्त हुई है, उससे धर्म करते समय प्रणिधानादि आशय उत्पन्न होते हैं। यद्यपि स्थिरादृष्टि के साधक में हेय-उपादेय का दृढ़ निश्चय होता है। मोक्ष-संवर उपादेय ही है और विषय-कषाय हेय ही है - ऐसा दृढ़ निश्चय होने से तात्त्विक कोटि का प्रणिधान (कर्तव्यता का उपयोग) स्थिरा दृष्टि में प्राप्त होता है। **यहां स्मरण रखें कि**, जिन सम्यग्दृष्टि जीवात्माओं में प्रगाढ़ अविरति कर्म का उदय प्रवर्तमान होता है, उनके मन को संसार के प्रतिकूल संयोग व्याकुल करते हैं। इससे उन्हें प्रणिधानादि आशय न भी हो, ऐसा बन सकता है। यह दर्शाने के लिये ही प्रायः शब्द लिखा है। अब स्थिरादृष्टि में प्राप्त होनेवाले बोध की विशेषता दर्शाते हुए **योगदृष्टिसमुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

स्थिरायां दर्शनं नित्यं, प्रत्याहारवदेव च ।

कृत्यमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥१५४॥

स्थिरादृष्टि में बोध नित्य - अप्रतिपाती होता है अर्थात् प्रकट हुआ बोध कभी जाता नहीं है। इस प्रकार का स्थिरादृष्टि का बोध निरतिचार अवस्था में होता है। (अर्थात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि और निर्मल कोटि के क्षयोपशम सम्यक्त्व वाले को होता है।) संक्षेप में, निरतिचार स्थिरादृष्टि का बोध नित्य होता है।

जबकि सातिचार स्थिरादृष्टि वाले साधक का बोध अनित्य भी होता है। क्योंकि, इस अवस्था में शास्त्र निर्दिष्ट संसारनाशक उपायों में किसी स्थान पर अनवबोध (बोध का अभाव) भी हो सकता है। इसलिये अनित्य दर्शन होता है। जैसे चक्षु का पर्दा उपद्रवित (कमजोर हो-त्रुटिपूर्ण) हो तो चक्षु से स्पष्ट नहीं देखा जा सकता है, वैसे ही क्षयोपशम भाव के सम्यक्त्ववाले जीवात्मा को

किसी विषय के अनवबोध से स्पष्ट दर्शन नहीं होता है। जैसे रत्न का तेज दैदीप्यमान ही रहता है। परन्तु उस पर यदि धूलादि पड़ जाए तो रत्न का संपूर्ण तेज नहीं मिट जाता है, बल्कि तेज फीका तो पड़ ही जाता है। वैसे ही सातिचार अवस्था में स्थिरादृष्टि का बोध थोड़ा फीका पड़ जाता है और इसलिये वह अपेक्षा से अनित्य भी होता है।

→ स्थिरादृष्टि का बोध **प्रत्याहारवाला** होता है।

→ स्थिरादृष्टि वाले जीवात्मा का धर्मकृत्य **अभ्रान्त** होता है। क्योंकि इस दृष्टि में भ्रान्ति दोष नहीं होता है। तथा धर्मकृत्य निरतिचार होता है और सूक्ष्म बोध से युक्त होता है।

→ इसलिये सातिचार या निरतिचार स्थिरादृष्टि का बोध भ्रमरहित और सूक्ष्मबोध से युक्त होता है (आगे विशेष चर्चा करेंगे)।

⇒ **पांचवां योगांग प्रत्याहार :-**

स्थिरा दृष्टि में साधक को योग का पांचवां 'प्रत्याहार' नामक अंग प्राप्त होता है। प्रत्याहार का स्वरूप दर्शाते हुए 'सद्दृष्टि द्वात्रिंशिका' में कहा गया है कि,

विषयासम्प्रयोगेऽन्तःस्वरूपानुकृतिः किल ।

प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायत्तताफलः ॥२४-२॥

- इन्द्रियों की स्व (रूपादि) विषयों को ग्रहण करने की अभिमुखता न हों और स्वरूपमात्र में अवस्थान हो (अर्थात् इन्द्रियां स्व-स्व विषय को ग्रहण न करती हों और शांति से प्रवर्तित हों) तथा निजमन के स्वरूप का अनुसरण करनेवाली हों (अर्थात् मन जैसे निरुद्ध है, वैसे इन्द्रियां भी निरुद्ध हों) यह इन्द्रियों का **प्रत्याहार** कहलाता है।

सरल शब्दों में देखें तो, स्थिरादृष्टिवाला साधक इन्द्रियों के विषय से दूर रहता है। जैसे सूक्ष्म बोध से नियंत्रित मन निरुद्ध होता है (बाहरी विषयों में नहीं

भटकता है), वैसे इन्द्रियां भी मन के स्वरूप का अनुसरण करती हैं अर्थात् स्व-स्व विषयों में नहीं भटकती हैं और इसलिये निरुद्ध होती हैं। इन्द्रियों की इस निरुद्ध अवस्था को **प्रत्याहार** कहा जाता है। स्थिरा दृष्टिवाले जीवात्मा का बोध सूक्ष्म बोध से संवलित है, इसलिये वह बोध हेय-उपादेय के विवेक से जगमगाता है। इससे विषय सुख हेय रूप में ही संवेदित होते हैं। मन में इन विषय सुखों के प्रति तनिक भी आसक्ति नहीं होती है। इससे मन निरुद्ध रहता है। निरुद्ध इन्द्रियों का किसी विषय से संपर्क हो जाए तो भी उसे उसका संश्लेष नहीं होता है - आसक्ति नहीं होती है। इसके अतिरिक्त बोध झांका नहीं पड़ता है या बदलाता नहीं है। इसलिये इन्द्रियां शांत रहती हैं।

स्थिरा दृष्टि में प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादि के कारण मन स्थिर होता है और इस कारण इन्द्रियां भी स्थिर हो जाती हैं। विषयों में इष्टत्व-अनिष्टत्व का संवेदन करने का काम मन करता है। वास्तव में विषयों में ऐसा कोई स्वभाव नहीं होता है। हमारी रुचि-अरुचि आदि के कारण विषयों में हम इष्टत्व-अनिष्टत्व का वेदन करते हैं। सूक्ष्मबोध से मन नियंत्रित होता है तब उसका संवेदन बदल जाता है। जो विषय-सुख पूर्व में मीठे-अच्छे लगते थे, वही विषय अब खराब लगते हैं, इस कारण मन वहां से लौट जाता है और मन लौटने से इन्द्रियां भी नियंत्रित हो जाती हैं। **योगदृष्टि सज्जाय** में और स्पष्टता करते हुए कहा है कि,

“विषयविकारे न इन्द्रिय जोड़े, ते इहां प्रत्याहारो रे,

केवल ज्योति ते तत्त्वप्रकाशे, शेष उपाय असारो रे ।” (५-४)

- विषय के विकार के साथ इन्द्रियों को न जोड़ने को इन्द्रियों का **प्रत्याहार** कहा जाता है। विषय तथा इन्द्रियों का अस्तित्व होने के बावजूद तथा इन दोनों का संपर्क होने के बावजूद विषय विकार में इन्द्रियां न जुड़ें, इसे **प्रत्याहार** कहा जाता है अर्थात् इन्द्रियां विषयों में आसक्त न हों, लिप्त न हों, उत्सुकताएं न बढ़ें, विषयों का आकर्षण उत्पन्न न हो, विषयों की मिठास का अनुभव करने की उत्सुकता न जागे, इसी को इन्द्रियों का **प्रत्याहार** कहा जाता है। रूपादि विषय

सामने ही हों, फिर भी उन पर दृष्टि करने की इच्छा ही न जागे और दृष्टि जाए तो भी मन में विकार न जागे (अर्थात् उत्सुकता, आकर्षण, आसक्ति, मिठास का स्मरण, इच्छा आदि विकार न जागे) इसे इन्द्रियों का **प्रत्याहार** कहा जाता है। नये-नये रूप-ढंग से सजाए पुद्गलों में अपूर्वता के दर्शन न हों, लेकिन मात्र पुद्गल के स्वरूप का उद्भासन हो उसे इन्द्रियों का **प्रत्याहार** कहा जाता है।

स्थिरादृष्टि के साधक को सूक्ष्मबोध तथा इन्द्रियों के प्रत्याहार के कारण एकमात्र आत्मतत्त्व ही परम उपादेय लगता है। सूक्ष्मबोध के प्रभाव से संसार की सारहीनता-भयंकरता समझने में कोई त्रुटि न हो और संसार सुख की भयंकरता की समझ ही इन्द्रियों को विषयों से दूर रखती हो, तब आत्मतत्त्व से अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएं (उपाय) साधक को सारहीन लगते हैं और यही प्रत्याहार का वास्तविक फल है। बहुत सरल भाषा में देखें तो जिसे 'प्रत्याहार' योगांग प्राप्त होता है, उसे इन्द्रियों के सुखों की भूख या मन के (यश-नाम-कीर्ति-लोकप्रियता आदि) सुखों की भूख नहीं होती है। उसे तो मात्र एकमात्र विशुद्ध आत्मतत्त्व की ही भूख होती है और इसलिये इसके अतिरिक्त सभी उपाय उसे सारहीन लगता है।

विशेषतः ...स्थिरा दृष्टि जीवात्मा में अवेद्यसंवेद्य पद विजित होने से और वेद्यसंवेद्य पद प्रवर्तमान होने से जगतवर्ती पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही उसे उनका यथार्थ संवेदन होता है। बोध में सूक्ष्मता होने से बोध के अनुरूप तत्त्व के प्रति रुचि होती है और तत्त्व के प्रति रुचि तत्त्व मार्ग में प्रवृत्ति करवाती हैं। स्थिरादृष्टि के साधक के सूक्ष्मबोध में विषय हेय रूप में संवेदित हैं और विषयों का त्याग तत्त्व रूप में-उपादेय रूप में स्पष्ट प्रतीत हुआ है। इससे इन्द्रियों का प्रत्याहार सहज बनता है।

■ भ्रांति दोष का नाश :-

प्रथम चार दृष्टियों तक भ्रांति दोष विद्यमान होता है। पांचवीं स्थिरा दृष्टि में भ्रांति दोष का नाश हो जाता है। क्योंकि ग्रंथिभेद होने से मिथ्यात्व का नाश हुआ

है और सम्यग्दर्शन गुण उपस्थित है। इस कारण स्थिरा दृष्टिवाला किसी भी स्थूल या सूक्ष्म विषय में हेय को उपादेय अथवा उपादेय को हेय मानने की भूल नहीं करता है। वह किसी भी कीमत पर मोक्ष के कारणों को संसार का कारण और संसार के कारणों को मोक्ष का कारण नहीं मानता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से विवेकगुण पूर्णतः प्रकट होता है। (जो वस्तु जैसी है, उससे अलग मानना भ्रांति कहलाता है। यह भ्रांति यहां नष्ट हो जाती है।)

अवेद्य संवेद्य पद का जय होने से वेद्य संवेद्य पद की प्राप्ति होती है। इस कारण सूक्ष्म बोध की प्राप्ति होती है। इसलिये उसका जगतवर्ती पदार्थों का वेदन यथार्थ ही होता है। **भ्रांति दोष टल जाने से स्थिरादृष्टि के साधक का धर्मकृत्य अभ्रांत ही होता है।** वह अनुकंपा के पात्र में भक्ति नहीं करता है या भक्ति के पात्र में अनुकंपा नहीं करता है। उसके पास पूर्ण विवेक होता है। पात्र, सुपात्र या कुपात्र (अपात्र) के मूल्यांकन में उससे भूल नहीं होती है। इसके अलावा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को कभी वह सुदेव-सुगुरु-सुधर्म मानने की भूल नहीं करता है।

इस दृष्टि में दर्शन रत्नप्रभा जैसा होने से बोध अत्यंत निर्मल होता है। वेद्य संवेद्य पद की प्राप्ति के कारण मोक्ष के साधक तथा बाधक तत्त्वों का ज्ञान भ्रमात्मक नहीं होता है।³ इसके अलावा इस दृष्टि में संशयात्मक ज्ञान भी नहीं होता है अर्थात् “यह पुरुष है या स्थाणु (वृक्ष का तना) है ?” - इस प्रकार का डोलायमान ज्ञान भी नहीं होता है, बल्कि “यह ऐसा ही है और ऐसा नहीं है” - ऐसा स्थिर ज्ञान होता है। इसी प्रकार अनध्यवसाय स्वरूप ज्ञान भी इस दृष्टि में नहीं होता है। उपयोग रहित या अन्यत्र उपयोग के अनुसंधान के समय जो ‘कुछ है’ ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे **अनध्यवसाय** कहा जाता है। इस दृष्टि में ऐसा अस्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता है। बल्कि बिल्कुल स्पष्ट ज्ञान होता है। **इस प्रकार स्थिरा दृष्टि में भ्रमरहित, स्थिर और स्पष्ट ज्ञान होता है।**

ऐसे भ्रम रहित, स्थिर और स्पष्ट ज्ञान के प्रभाव से अनादिकाल की अज्ञान बहुल (अविवेक बहुल) पशु जैसी अवस्था टल जाती है और साधक में ज्ञानपूर्ण

दैवीय अवस्था का प्रादुर्भाव होता है। हमारी आत्मा अनंतज्ञानादि की स्वामी होने के बावजूद अनादिकाल से प्रगाढ़ मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत होकर आहारादि संज्ञा के अधीन होकर हम पशुप्रायः जीवन जीते हैं। सम्यग्दर्शन का आत्मा में प्रकाश फैलने पर स्पष्ट ज्ञान होता है और इससे अज्ञान बहुल पशु जैसी अवस्था टल जाती है और ज्ञानपूर्ण दैवीय अवस्था प्रकट होती है। हालांकि, तादृश स्पष्ट निर्मल ज्ञान होने से संसार के कारणभूत विषय-कषाय का स्पष्ट बोध होता है और इसी से 'प्रत्याहार' की प्राप्ति होती है।

► 'सूक्ष्म बोध' गुण की प्राप्ति :-

ग्रंथि के भेद से स्थिरादृष्टि के साधक को वेद्य संवेद्य पद की प्राप्ति होती है। इससे सूक्ष्मबोध की प्राप्ति होती है।⁴ इस दृष्टि में सूक्ष्म बोध होने के कारण ही भ्रांति दोष का त्याग संभव होता है। बोध में सूक्ष्मता किस कारण से होती है और सूक्ष्म बोध की प्राप्ति किस क्रम से होती है, इसकी चर्चा चौथी दृष्टि में की होने से यहां पुनः यह चर्चा नहीं करते हैं।

► स्थिरा दृष्टि के साधक का तात्त्विक जगद्दर्शन :-

स्थिरा दृष्टि के साधक को संसार की ऊंचे से ऊंची भोग क्रियाएं भी कैसी लगती हैं, यह दर्शाते हुए योगदृष्टिसमुच्चय में कहा गया है कि,

बालधूलीगृहक्रीडा तुल्याऽस्यां भाति धीमताम् ।

तमोग्रन्थिविभेदेन, भवचेष्टाखिलैव हि ॥१५५॥

- स्थिरादृष्टि में साधकों को (तत्त्व देखने में आंतरिक चक्षु के लिये अवरोधक बननेवाला) अंधकार रूपी ग्रंथि का भेद होने से समग्र भवचेष्टा (संसार की सभी प्रवृत्तियां) बालक की मिट्टी के घर बनाने की क्रीडा जैसी (लज्जास्पद) लगती है।

स्थिरादृष्टि में ग्रंथी का भेद हो गया है अर्थात् मिथ्यात्व का क्षयोपशमभाव प्राप्त हुआ है। इस कारण अभी तक संसार की जो प्रवृत्तियां आनंददायी लगती

थी, वे सभी प्रवृत्तियां अब बालक के मिट्टी के घर बनाने के खेल जैसी तुच्छ लगने लगती हैं।

जैसे बाल्यावस्था को पार करके यौवनकाल में कदम रखनेवाले युवा को मिट्टी के घर बनाने का खेल तुच्छ लगने लगता है और ऐसी क्रीडा की इच्छा भी नहीं होती है, वैसे ही स्थिरा दृष्टि के साधक को भी संसार की भोग क्रियाएं तुच्छ लगने लगती हैं और ऐसी भोग क्रियाओं की इच्छा भी नहीं होती है।

जैसे बालक की क्रीडाएं अर्थहीन और अज्ञानबहुल होने से स्वभावतः असुंदर हैं, वैसे ही समग्र भवचेष्टाएं भी अर्थहीन और अज्ञान बहुल होने से स्वभावतः असुंदर हैं। जिसमें मिलता कुछ नहीं है, समय का भरपूर व्यय होता है और भविष्य में अनर्थ होता है, ऐसी क्रिया अर्थहीन (प्रयोजनहीन) क्रिया कहलाती है। जिस क्रिया से चाहता है कुछ और, मिलता है कुछ और, ऐसी क्रिया अज्ञान बहुल ही कहलाती है। बालक की क्रीडाएं भी वैसी ही अर्थहीन और अज्ञान बहुल होती हैं। इसी प्रकार समग्र संसार की क्रियाएं भी अर्थहीन और अज्ञान बहुल होती हैं। इनमें आत्मा जो चाहती है, वह नहीं मिलता है, मनुष्य जीवन का अमूल्य समय व्यय होता है और आत्मा पाप से लिप्त हो जाती है, जिससे भविष्य में अनर्थ होता है। जिससे वर्तमान में तृप्ति, शांति, विश्रान्ति और स्थिरता न मिले तथा भविष्य में आत्मा को नुकसान होनेवाला हो, ऐसी क्रियाएं अर्थहीन और अज्ञान बहुल होती हैं। हमारी आत्मा चाहती है स्थिरता-विश्रान्ति। यह संसार की प्रवृत्तियों से कदापि नहीं मिलनेवाली हैं। इसलिये संसार की सभी क्रियाएं स्वभाव से असुंदर हैं। स्थिरादृष्टि के साधक को मिथ्यात्व के क्षयोपशम से संप्राप्त सूक्ष्मबोध से यह बात एकदम स्पष्ट प्रतीत होती है।

हालांकि, जैसे युवाओं को बालक की क्रीडा अस्थिर लगने से तुच्छ लगती है। वैसे ही स्थिरा दृष्टि के साधक को भी संसार की सभी भोगक्रियाएं अस्थिर लगने से तुच्छ लगती हैं। इसलिये युवाओं को जैसे धन कमाकर जन्म को

सफल बनाने की इच्छा होती है, परन्तु अर्थहीन और अज्ञान बहुल निरर्थक क्रियाएं करने का मन नहीं होता है, वैसे ही परमार्थ को देखनेवाले स्थिरादृष्टि के साधक को भी आत्म कल्याण करके मनुष्य जन्म को सफल बनाने की इच्छा होती है, परन्तु निरर्थक संसार की क्रियाएं करने का मन नहीं होता है।

यद्यपि जैसे युवाओं को बाल्यावस्था में की गई अर्थहीन और अज्ञान बहुल क्रियाएं याद आती हैं तब स्वयं के प्रति लज्जा आती है, वैसे ही अविरति आदि के बल से अज्ञान अवस्था में की गई भोग क्रियाएं याद आने पर स्थिरा दृष्टि के साधक को लज्जा आती है। क्योंकि उसे गुणहीन भोग क्रियाओं के पीछे अमूल्य समय व्यय करने का खेद होता है। इसलिये सद् दृष्टि बत्रीसी में इस दृष्टि के विवेकी साधक को बालक्रीडा की उपमावाली समग्र भव चेष्टाएं लज्जा के लिए होती है, ऐसा बताया है।⁵

योगदृष्टि की सज्जाय में और स्पष्टता के साथ कहा गया है कि,

बालधूलिघर लीला सरखी, भवचेष्टा इहां भासे रे,

रिद्धि सिद्धि सवि घटमां पेसे, अष्टमहासिद्धि पासे रे । (५-३)

पूर्वोक्त पंक्ति का पूर्वार्ध स्पष्ट है। इस दृष्टि के साधक में ऐसी योग्यता प्रकट होती है कि उसे विशिष्ट प्रकार के पुण्य का बंध हो और उससे रिद्धि-सिद्धि प्राप्त हो तथा अष्ट महासिद्धि का सामीप्य भी प्राप्त हो। इसके बावजूद इस दृष्टि के साधक को रिद्धि-सिद्धि की तनिक भी इच्छा नहीं होती है। इस दृष्टि में प्राप्त हुए सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से साधक को सिद्धियों का कोई आकर्षण नहीं होता है। उनके मन में आत्म सिद्धि (शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति) ही एकमात्र लक्ष्य होता है, इसलिये उनके लिये रिद्धि-सिद्धि मात्र आत्म शुद्धि है और उसी के वे इच्छुक होते हैं।

► बाह्य भावों को कैसे देखते हैं ?

स्थिरा दृष्टि का साधक बाह्य भावों को (बाह्य पदार्थों को) कैसे देखता है, यह दर्शाते हुए योग दृष्टिकार महर्षि कहते हैं कि,

मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निभान् ।

बाह्यान् पश्यति तत्त्वेन, भावान् श्रुतविवेकतः ॥१५६॥

- स्थिरादृष्टि का साधक अच्छे ढंग से परिणत श्रुतज्ञान से जगतवर्ती (शरीर-घर आदि) बाह्य भावों को परमार्थ से मृगजल (मरीचिका), गन्धर्वनगर और स्वप्न की तरह देखता है।

स्थिरादृष्टि के साधक के पास परिपक्व कोटि का श्रुतज्ञान होता है। इससे उसे किसी भी पदार्थ के पारमार्थिक स्वरूप को देखने की दृष्टि प्राप्त होती है। उनका बोध अत्यंत गहरा होता है और परिणाम को देखने की शक्ति से समर्थ होता है। इसलिये उसे इस प्रकार के श्रुतज्ञान से जगत के सभी बाह्य पदार्थ मरीचिका समान लगते हैं। जैसे मृगजल वास्तविक नहीं होता है, परन्तु पिपासा से त्रस्त मृग को रेत पर पड़नेवाली सूर्य की किरणों के कारण रेत पर पानी का भ्रम होता है, उसे ही मृगजल कहते हैं। जैसे मृगजल पिपासा शांत करने में समर्थ नहीं होता है, वैसे ही शरीरादि बाह्य पदार्थ भी तृप्ति देने में समर्थ नहीं होते हैं, यह बात इस दृष्टि के साधक को स्पष्ट पता होती है। इसलिये उसे यह बाह्य पदार्थ मृगजल जैसे लगते हैं।

हालांकि, इस दृष्टि के साधक को श्रुतज्ञान के प्रभाव से बाह्य पदार्थ गन्धर्वनगर जैसे लगते हैं। (आकाश में उत्पन्न होनेवाले बादलों के नगर को गन्धर्वनगर कहा जाता है।) जैसे गन्धर्वनगर सच्चा नहीं होता है और क्षणभर में विलीन हो जाता है, वैसे ही शरीर-घर-धन आदि बाह्य भाव भी सच्चे नहीं होते हैं और क्षणभर में नष्ट हो जाने के स्वभाववाले होते हैं, यह बात इस दृष्टि के साधक को अच्छी तरह से ज्ञात होती है।

इसके अलावा, बाह्य भाव स्वप्न जैसे हैं अर्थात् स्वप्न में दिखनेवाले विभिन्न भाव जैसे हैं। स्वप्न में दिखनेवाले राज्याभिषेकादि भाव यथार्थ नहीं बल्कि भ्रामक होते हैं। वैसे ही जगतवर्ती बाह्य भाव भी यथार्थ नहीं होते हैं, बल्कि

भ्रामक होते हैं। इस प्रकार इस दृष्टि में आनेवाले साधक को भोग सुख, उसके साधन और धन-संपत्ति आदि बाह्य भाव मरीचिका, गन्धर्वनगर और स्वप्न जैसे भ्रामक-अस्थिर दिखाई देते हैं। प्रथम प्रकरण में दर्शाई गई सांयोगिक सुखों की भयंकरता इस दृष्टि के साधक को अच्छे से ज्ञात होती है।

► पारमार्थिक परम तत्त्व का दर्शन :-

स्थिरादृष्टि के साधक को जैसे परिपक्व श्रुतज्ञान के प्रभाव से बाह्य भावों स्वप्नादि सदृश दृष्टिगोचर होते हैं। वैसे ही उनके साथ परम तत्त्व का भी दर्शन होता है। उसे परम तत्त्व का दर्शन कैसे होता है, यह दर्शाते हुए कहा गया है कि,

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।

यदत्र तत्परं तत्त्वं, शेषः पुनरुपप्लवः ॥१५७॥

- इस लोक में निराबाध (पीड़ारहित) और अनामय (रोगरहित) आंतरज्योति - ज्ञान मात्र ही परमतत्त्व है, शेष सभी पदार्थ उपद्रवरूप है। (ऐसा स्थिरादृष्टि का साधक को लगता है।)

- इस दृष्टि के साधक को आत्मा में व्याप्त निराबाध और अनामय (रोग रहित) अबाह्य ज्ञानमात्र ही सच्चा 'परम तत्त्व' लगता है, शेष सभी पदार्थ उपद्रवरूप (पीड़ा देनेवाले) ही लगते हैं।

इस दृष्टि में आनेवाले जीवात्मा को आत्मा में व्याप्त आंतरिक केवलज्ञान जो आत्मा का स्वाभाविकगुण है और सदा काल अविकृत स्वभाव में स्थिर रहता है, वही 'परमतत्त्व' महसूस होता है। वही परमार्थभूत लगता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी पदार्थ उपद्रवरूपी पीड़ाकारक लगते हैं।

आत्मा के ज्ञान का परिणाम ही आत्मा की मूलभूत संपत्ति है। वही जीवात्मा में प्रवर्तमान आंतरिक भाव (अबाह्य भाव) है। ज्ञान अमूर्त होने के कारण व्याधि से रहित है - पीड़ा से रहित है और रोग रहित है। ऐसा ही

आंतरिक स्वाभाविक परिणाम उस जीवात्मा के लिये परम तत्त्व होता है। स्थिरा दृष्टि का साधक परिपक्व श्रुतज्ञान के बल से आंतरिक ज्ञान संपत्ति को परम तत्त्व के रूप में देखता है और उसे प्राप्त करने के लिये सर्वत्र प्रभु की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है। **आंतरिक ज्ञान के परिणाम की स्थाई अवस्था ही परम सुखमय है जो सिद्ध परमात्माओं को प्राप्त होती है।** इसके अलावा स्त्री, घर, परिवार, पैसा आदि बाह्य भाव तो उपद्रव रूप होते हैं, यह भी यहां आनेवाले साधक को स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। देहादि बाह्य पदार्थों के सम्बंध के कारण जीवात्मा को पीड़ा का और रोगों का अनुभव होता है तथा संसार-भ्रमण की कदर्थना भी इनके माध्यम से ही होती है। इसलिये देहादि सर्व बाह्य भाव जीवात्मा के लिये हमेशा उपद्रव रूप होते हैं।

► परमार्थ दर्शन के बाद की प्रवृत्ति :-

स्थिरा दृष्टि के साधक को श्रुत ज्ञान के प्रभाव से पूर्वोक्त परमार्थ दर्शन होता है, इसके बाद उसके जीवन में कैसा पुरुषार्थ उल्लसित होता है, यह दर्शाते हुए योगदृष्टि समु. में कहा गया है कि,

एवं विवेकिनो धीराः, प्रत्याहारपरास्तथा ।

धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥१५८॥

इस प्रकार पूर्व में दर्शाए अनुसार परमार्थ का दर्शन होने से विवेकी, धीर और प्रत्याहार में तत्पर (इन्द्रियों को विषयों से दूर रखने में तत्पर) स्थिरा दृष्टि के साधक परमार्थ से धर्म बाधा का त्याग करने में (अर्थात् शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति में कारणभूत जीवात्मा की विशुद्ध परिणति रूपी धर्म को प्रकट करने में बाधक आंतरिक प्रमादादि परिणाम का त्याग करने में) प्रयत्नशील होते हैं। (क्योंकि अंतःकरण की परिशुद्धि होती है।)

स्थिरादृष्टि के साधकों को परमार्थ का दर्शन होने के बाद उनकी परम तत्त्व की अभिलाषा तीव्र होती है। इससे परम तत्त्व को जल्दी प्राप्त करने के लिये वे

अपनी शक्ति के अनुसार विवेकपूर्वक धर्म योगों में धीरतापूर्वक पुरुषार्थ करते हैं और अपने पुरुषार्थ को सफल बनाने के लिये इन्द्रियों का निरोध करने में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इसके अलावा शुद्ध आत्म तत्त्व के कारणभूत शुद्ध परिणति रूपी धर्म को प्रकट करने में बाधक बननेवाले प्रमादादि का परिहार करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

स्थिरा दृष्टि का साधक विवेकी, धीर और प्रत्याहार में तत्पर होता है। उसे बाह्य भावों और अबाह्य भावों (आंतरिक भावों) के बीच की भेद रेखा का स्पष्ट ज्ञान होता है। दोनों के परिणामों (फल) का विवेक भी प्राप्त हो जाता है। बाह्य भावों की प्राप्ति में और आंतरिक भावों के अभाव में अभी तक आत्मा की कैसी कदर्यना हुई है, इसका भी उसे विवेक प्राप्त हो जाता है। इससे बाह्यभावों का सर्वथा त्याग करने और आंतरिकभावों को पाने के लिये उल्लसित होता है। अब स्थिरादृष्टि के साधक का एकमात्र लक्ष्य आंतरिक भाव (केवलज्ञान) होता है। इसलिये उसे प्राप्त करने की साधना में धीर बनकर प्रवृत्त हो जाता है। उसे पता होता है कि, विभावों को टाले बिना और स्वभाव के निकट रहे बिना आंतरिक भावों को प्रकट करने की साधना दैदीप्यमान नहीं बन सकेगी। इसलिये वह धीरतापूर्वक अनादि के गलत अभ्यासों को टालने का पुरुषार्थ करता है और इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में न चली जाएं, इसकी सावधानी रखता है। मोक्ष साधना में मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है। इन्द्रियां चंचल होंगी तो मन स्थिर नहीं रह सकेगा। इसलिये वह इन्द्रियों का प्रत्याहार करने में लगातार तत्पर रहता है।

► स्थिरादृष्टि के साधक की विचार शैली :-

स्थिरादृष्टि के साधक श्रुत का अवलंबन लेकर जो विचार करते हैं, वे दर्शाने के लिये योगदृष्टि समु. ग्रंथ में कहा गया है कि,⁶ “जिस प्रकार अलक्ष्मी (दरिद्रता) की सखी लक्ष्मी बुद्धिमानों को आनंद नहीं देती है, उसी प्रकार इस जगत में जीवात्माओं के पाप का मित्र भोग का विस्तार बुद्धिमानों को आनंद नहीं देता है।”

जिस सांसारिक जीवात्मा को पहले लक्ष्मी (धन) प्राप्त होती है और बाद में अलक्ष्मी (दरिद्रता) प्राप्त होती है, वैसे ही एक भव में लक्ष्मी-अलक्ष्मी उभय का परिभोग प्राप्त हो, उसे संप्राप्त लक्ष्मी आनंद के लिये नहीं होती है। ऐसी लक्ष्मी विचारक के लिये आनंददायी नहीं होती है। इसी प्रकार स्थिरादृष्टि के साधक को संसार का भोग विस्तार पाप के मित्र समान दिखाई देता है। क्योंकि जीवात्माओं का हनन किये बिना भोग संभव नहीं होता और जीवात्माओं का हनन करने से पाप लगता है। इसलिये जिसके साथ पाप जुड़ा है ऐसे भोग उसके लिये आनंददायी नहीं होते हैं।

स्थिरादृष्टि के साधक के लिये जो भोग पाप से मित्रता रखनेवाला न हो, वही भोग आनंददायी होता है और ऐसा भोग तो संयम के पालन से मिलनेवाला उपशम सुख का भोग ही होता है। उपशम सुख का भोग पाप की मित्रतावाला नहीं होता है और जैसे-जैसे संयम का सुंदर पालन होता है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर बढ़ता है और अंत में मोक्षसुख में परिणत होता है तथा मोक्ष में सदाकाल के लिये पाप की मित्रता रहित आत्मसुख का भोग प्रवर्तमान होता है। ऐसा ही भोग स्थिरादृष्टि के साधक के लिये इष्ट होता है और आनंददायी होता है।

जो वर्तमान में वृत्तियों को बहलाए और भविष्य में दुःखी करे, ऐसा पाप की मित्रतावाला भोग स्थिरादृष्टि के साधक के लिये आनंददायी नहीं होता है। सूक्ष्मबोध के प्रभाव से परमार्थ को देखने की दृष्टि स्थिरादृष्टि के साधक को प्राप्त होती है। इससे वह हर जगह परिणाम को देखता है। इसलिये परिणामतः दुःखदायी संसार के भोग उसके लिये आनंददायी नहीं होते हैं। परन्तु उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पूर्णता को प्राप्त करनेवाला आत्मसुख का भोग ही उसके लिये आनंददायी होता है और इसलिये वह ऐसे आत्मसुख के भोग को प्राप्त करने के लिये संयम की साधना में उल्लासपूर्वक प्रयत्न करता है।

स्थिरादृष्टि का साधक आगे यह भी विचार करता है कि, जैसे चंदन की लकड़ी से उत्पन्न हुई अग्नि भी जलाती है, वैसे ही धर्म के सेवन से उपार्जित पुण्य से प्राप्त होनेवाले संसार के भोग भी अधिकांशतः जीवात्मा के लिये अनर्थकारी होते हैं। क्योंकि संसार के भोग अधिकांशतः प्रमाद कराते हैं। **(यहां स्मरण रखें कि, शुद्ध धर्म के सेवन के समय निर्जरा करते समय बीच में जो पुण्यबंध होता है, उस पुण्यबंध के उदयकाल में प्राप्त होनेवाले भोग जीवात्मा के लिये अनर्थकारी नहीं होते हैं। क्योंकि वह जीवात्मा भोगों के बीच रहने के बावजूद उसमें आगम के प्रति अभिनिवेश होने के कारण वह भोग प्रमाद का कारण नहीं बनता हैं। जैसे अग्नि जलाती है। परन्तु चंद्रकांतमणि उसके पास आए तो वह अग्नि उसे नहीं जला पाती है। वैसे ही भोग जलानेवाले ही होते हैं, परन्तु जिसके पास आगम का अभिनिवेश, अनासक्ति, शुद्ध मन आदि रूपी चंद्रकांतमणि है, उसे भोग जलाने का काम नहीं करते हैं।)**

स्थिरादृष्टि का साधक आगे विचार करता है कि, भोग में प्रवृत्ति करके भोग की इच्छा की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति अस्थायी है। क्योंकि भोग प्रवृत्ति के समय जो संस्कार आत्मा में सिंचित होता हैं, उन संस्कारों का उदय होगा तब पुनः भोग की इच्छा दोहरे वेग से प्रकट होगी। जैसे किसी पुरुष के एक कंधे पर भार हो और उस भार की पीड़ा को दूर करने के लिये वह उस भार को दूसरे कंधे पर रखे तो क्षण भर के लिये उस कंधे को राहत मिलती है, पीड़ा की निवृत्ति होती है। इसके बाद थोड़े क्षणों के बाद दूसरे कंधे को भार की पीड़ा होने लगती है। इसलिये एक कंधे से भार को दूसरे कंधे पर रखने से पीड़ा की स्थाई निवृत्ति नहीं होती है। वैसे ही भोगकाल में अनुभव किये मिठास के संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं, वे संस्कार कुछ समय के बाद पुनः उनकी इच्छा पैदा करते हैं। इसलिये भोग प्रवृत्ति से जो इच्छा निवृत्ति होती है वह अस्थायी होती है। परन्तु उससे मोक्ष का कारण बने ऐसी इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है। इसलिये स्थिरा दृष्टि का साधक भोग प्रवृत्ति को मोक्षमार्ग में बाधक मानकर हेय

रूप में संवेदित करता है और उसे छोड़ देता है।

संक्षेप में, स्थिरादृष्टि के साधक को संसार के सभी पदार्थों का तथा मोक्ष साधक संयमादि योगों का पारमार्थिक स्वरूप ज्ञात होने से जगत को देखने में उसका अपूर्व आलोचन होता है और उससे उसे तत्त्व संवेदन प्राप्त होता है। जगत के पदार्थ तो अनादिकाल से सामने ही हैं और संयमादि योग भी बाह्य दृष्टि से देखे ही हैं। इसके बावजूद तत्त्वदर्शन नहीं हुआ था। स्थिरादृष्टि में वेद्यसंवेद्यपद से सूक्ष्मबोध की प्राप्ति होने से साधक को क्षीर-नीर की तरह मोक्षसाधक और मोक्षबाधक तत्त्वों का बोध हो जाता है।

► स्थिरा दृष्टि के साधक को भोग कैसे लगते हैं ? :-

स्थिरादृष्टि के साधक को आध्यात्मिक विवेक के बल से व्यवहारनय तथा निश्चयनय की दृष्टि से संसार के भोग कैसे दिखाई देते हैं, यह दर्शाते हुए सद् दृष्टि बत्रीसी में कहा गया है कि,

भवभोगिफणाभोगो भोगोऽस्यामवभासते ।

फलं ह्यनात्मधर्मत्वात्तुल्यं यत्पुण्यपापयोः ।।२४-५।।

- स्थिरा दृष्टि में (साधक को) संसार के भोग सर्प के फन फैलाने जैसे लगते हैं। क्योंकि जैसे सर्प का फैला हुआ फन दूर से सुंदर दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में उसका स्पर्श जोखमी होता है। क्योंकि सर्प के दंश से मृत्यु होती है। वैसे ही संसार के भोग दूर से रमणीय दिखाई देते हैं, परन्तु उसके सम्बंध से जो कर्मबंध होता है, उसके परिणामस्वरूप दारुण दुःखों की परम्परा प्राप्त होती है।

संसार में भोगों की प्राप्ति जीवात्माओं की हिंसा से होती है और जीवात्माओं की हिंसा से पापोपार्जन होता है तथा वह पाप दारुण दुःखों की परम्परा प्राप्त करानेवाला सिद्ध होता है। स्थिरा दृष्टिवाला साधक विचार करता है कि, शुद्ध धर्म से उपार्जित पुण्य से प्राप्त होनेवाले उत्तमभोग आंतरिकप्रमाद के जनक न होने से संसार के कारण नहीं बनते हैं, फिर भी पुण्य से प्राप्त हुए

उत्तम भोग या पाप से प्राप्त हुए अनर्थ दोनों ही आत्मा के धर्म नहीं, अपितु दोनों अनात्म धर्म के रूप में समान ही हैं। इसलिये पाप के फलों की तरह पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले उत्तम भोग भी सारहीन ही हैं।

► व्यवहारनय-निश्चयनय की मान्यता⁷ :-

हालांकि, व्यवहारनय से पुण्य सुशील है। क्योंकि पुण्य से जीवात्मा को उत्तम देव भव, उत्तम मनुष्य जन्म और तीर्थकरादि भवों की प्राप्ति होती है और पाप कुशील है। क्योंकि नर्क, तिर्यच आदि की प्राप्ति कराता है। इसलिये व्यवहारनय पुण्य के फल को सुंदर कहता है और पाप के फल को खराब कहता है। यद्यपि शुद्ध धर्म से निर्मित पुण्य के उदय से प्राप्त भोग अनर्थ के कारण नहीं है, इसलिये सुशील (अच्छे स्वभाव वाले) हैं और पाप के उदय से प्राप्त अवस्थाएं-भोग अनर्थ के कारण होने से कुशील हैं।

निश्चयनय से पुण्य के उदय से प्राप्त हुए भोग अथवा पाप के उदय से प्राप्त हुए अनर्थ जीवात्मा को संसार में प्रवेश करानेवाले होते हैं, इसलिये जीवात्मा के लिये कुशील हैं। क्योंकि सर्व कर्मरहित शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना जीवात्मा का लक्ष्य है और यह पुण्य कर्म तथा पाप कर्म जीवात्मा को उस अवस्था से दूर रखकर मनुष्यादि जन्म की प्राप्ति कराते हैं अर्थात् संसार में प्रवेश कराते हैं इस प्रकार स्थिरा दृष्टिवाला साधक निश्चय से पुण्य-पाप के स्वरूप का विचार करके शुद्ध आत्म तत्त्व को प्राप्त करने की अभिलाषा को तीव्र-तीव्रतम बनाता है।

► अन्य दर्शनों के मतानुसार स्थिरादृष्टि में प्राप्त होनेवाला गुण वैभव⁸ :-

अन्य दर्शन के योगाचार्यों ने स्थिरा दृष्टि में जिस गुणवैभव की प्राप्ति दर्शाई है, वह निम्नानुसार है -

(१) अलोलुपता :- स्थिरादृष्टिवाले साधकों में भोगादि प्रवृत्तियों में लोलुपता

नहीं होती है। क्योंकि वे भोगों को सारहीन मानते हैं और वे उनका ध्येय भी नहीं होते हैं। उनका ध्येय तो आत्मगुणों की प्राप्ति होता है।

(२) स्वास्थ्य :- अनासक्ति भाव और मन की सौम्यता के कारण स्थिरादृष्टिवाले साधक को स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

(३) अनिष्टुरता :- इस दृष्टिवाले साधक का मन दयालु होता है। आसक्ति न होने से परिणाम निष्टुर नहीं होते हैं।

(४) शुभ गंध :- योग मार्ग की प्रवृत्ति के कारण शरीर में प्रायः शुभ गंध होती है। यह लक्षण एकांतिक नहीं है कर्मोदय से शरीर में शुभ गंध नहीं भी हो सकती है और इसके बावजूद योग मार्ग की परिणति प्राप्त हो सकती है।

(५) विष्टामूत्र की अल्पता :- योग मार्ग के साधकों की आहारादि की प्रवृत्ति अल्प मात्रा में होती है और उत्तम भावों के कारण आहारादि का अधिक परिणमन सप्त धातुओं के रूप में होता है। इसलिये विष्टा-मूत्र की अल्पता होती है।

(६) कांति :- योग मार्ग की साधना के कारण शरीर की सुंदरता बढ़ती है।

(७) प्रसाद :- स्थिरा दृष्टि के साधक का मन हमेशा प्रसन्नता से भरा होता है।

(८) स्वरसौम्यता :- इस दृष्टि के साधक के स्वर में योग साधना के परिणामस्वरूप सौम्यता प्रकट होती है।

- उपरोक्त आठ गुण योगमार्ग की साधना के प्रथम चिह्न हैं। स्थिरा दृष्टिवाले साधक योगमार्ग की जो साधना करते हैं, उसके फलस्वरूप सर्वप्रथम उपरोक्त आठ गुणों की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे योग साधना आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे जो नये गुण प्रकट होते हैं वे निम्नानुसार हैं -

(९) मैत्री आदि से युक्त मन :-

स्थिरादृष्टि के साधकों का मन मैत्री आदि चार भावनाओं से भावित होता है।

(१) वे सभी जीवात्माओं के प्रति मैत्री धारण करते हैं। जहां जीवात्माओं का

हित संभव हो, वहां हित करते हैं और ऐसी संभावना न हो तो वहां हित का परिणाम धारण करते हैं। (२) वे गुणवान् जीवात्माओं के प्रति प्रमोद भाव धारण करते हैं। (३) उन्हें दुःखी जीवात्माओं के प्रति करुणा भाव होता है। (४) उन्हें अयोग्य अविनयी जीवात्माओं के प्रति द्वेष नहीं होता, बल्कि उनके प्रति उपेक्षा भाव (मध्यस्थता का परिणाम) धारण करते हैं।

(१०) विषयों में अचेत :- विषयों की ओर मन आकर्षित नहीं होता है। स्थिरादृष्टि के साधक को कर्मयोग से कदाचित कोई विषय प्रवृत्ति हो, तो भी उसमें मन अचेतन जैसा रहता है अर्थात् मन निर्लिप्त रहता है।

(११) प्रभाववाला मन :- योगमार्ग की साधना से प्रभाववाला मन प्राप्त होता है। मानसिक शक्ति बढ़ती है।

(१२) धैर्य समन्वित :- स्थिरादृष्टि के साधक का मन धैर्ययुक्त होता है। योगसाधना में विघ्न आए तो भी उसके समक्ष अडिग रहता है और उसका मन विघ्नजय करके साधना को अखंड रखनेवाला धैर्ययुक्त होता है।

(१३) द्वंद्व अधृष्यता :- स्थिरा दृष्टि के साधक का मन शांता-अशांता, अनुकूल-प्रतिकूल भाव आदि के द्वंद्वों में आकुल-व्याकुल नहीं होता है। उनका मन किसी भी घटना-प्रतिघटना, क्रिया-प्रतिक्रियाओं में राग-द्वेषादि द्वंद्वों से आक्रांत नहीं होता है।

(१४) अभीष्ट लाभ :- योग साधना से इस प्रकार की पुण्य प्रकृतियां जाग्रत होती हैं, कि जिनसे उन्हें साधना प्रायोग्य इच्छित संपूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाती है।

(१५) जनप्रियत्व :- स्थिरादृष्टि के साधक की वृत्तियां उदात्त और प्रवृत्तियां औचित्ययुक्त होने के कारण लोगों में वे लोकप्रिय बनते हैं।

यह सात गुण दर्शाने के बाद अब जो योगी निष्पन्नयोगवाले हैं, उन्हें जो अन्य छह गुण प्राप्त होते हैं, वे दर्शाते हैं -

(१६) दोषव्यपाय (दोषों का विशेष अपगम) :- योग साधना के प्रभाव से रागादि दोषों का विशेष अपगम (नाश) होता है।

(१७) परम तृप्ति :- मन अत्यंत स्थिर होता है और इस कारण तारक योगों में अत्यंत घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। जिसका अनुसंधान आत्मा से होता है। इससे साधक को परम तृप्ति का अनुभव होता है।

(१८) औचित्य योग :- यह साधक सभी स्थलों पर औचित्यपूर्वक प्रवृत्त रहते हैं। प्रवृत्त रहते हैं सभी जगह लेकिन कहीं भी उनसे लिप्त नहीं होते हैं, यहां स्थित योगियों के पास ऐसा औचित्य होता है।

(१९) श्रेष्ठ समता :- उज्ज्वल बोध के प्रभाव से संसार और सांसारिक भावों का ममत्व नष्ट हो जाता है और तारक योगों में अत्यंत स्थिरता प्राप्त होती है। इसलिये उन्हें श्रेष्ठ कोटि की समता प्राप्त होती है।

(२०) वैरादि नाश :- योग साधना के बल से योगियों के सांनिध्य में आनेवाले हिंसक प्राणियों में भी वैरादि का नाश हो जाता है।

(२१) ऋतंभरा बुद्धि :- योग साधना के प्रकर्ष से ऋतंभरा प्रज्ञा प्रकट होती है। (जो प्रातिभ ज्ञान अथवा केवलज्ञान स्वरूप होती है।)

यहां सविशेष स्मरण रखना चाहिये कि, (१) पांचवीं दृष्टि से साधक को उपरोक्त गुण प्राप्त होते हैं और यह गुण आगे की दृष्टियों में क्रमशः अधिक खिलते हैं। (२) यह सभी गुण अकृत्रिम होते हैं अर्थात् पांचवीं दृष्टि से यह गुण अकृत्रिमतः प्राप्त होते हैं - वास्तविक रूप में प्राप्त होते हैं। (३) अंतिम छह गुण निष्पन्नयोगियों के हैं। यह पांचवीं दृष्टि में नहीं होते हैं। परन्तु वे भूमिका के बीजरूप में पांचवीं दृष्टि में भी होते हैं। इसीलिये अंत में कहा गया है कि यह अकृत्रिम गुणों का समुदाय पांचवीं दृष्टि से प्रकट होता है और आगे की दृष्टियों में क्रमशः बढ़ता जाता है।

● संक्षेप में...स्थिरा दृष्टि में...

- रत्न की प्रभा जैसा बोध होता है। यह बोध निरतिचार अवस्था में नित्य (अप्रतिपाती) है और सातिचार दशा में अनित्य है। इसके अलावा यह बोध प्रवर्धमान, निरपाय, अपर-अपरितापकृत्, परितोषहेतु और प्रणिधानादि योग-आशय की योनि है।

- इस दृष्टि में प्रत्याहार नामक पांचवां योगांग प्राप्त होता है। भ्रान्ति नामक दोष नष्ट होता है और सूक्ष्म बोध गुण की प्राप्ति होती है। **इस दृष्टि का साधक संप्राप्त परिपक्व श्रुतज्ञान के प्रभाव से संसार की सभी क्रियाओं को बालचेष्टा समान तुच्छ मानता है।** इसके अतिरिक्त उसे संसार के बाह्य पदार्थ मरीचिका, गन्धर्वनगर और स्वप्न समान लगते हैं। एकमात्र आंतर ज्योति (केवलज्ञान) ही निराबाध-निरामय होने से परम तत्त्व लगती है।

- स्थिरादृष्टि का साधक योगमार्ग में प्रगति के लिये विवेकी, धीर, प्रत्याहार में तत्पर होकर शुद्ध धर्म की प्राप्ति हेतु उसमें बाधक बननेवाले पाप कर्मों और कुसंस्कारों का उन्मूलन करने के लिये उल्लासपूर्वक यत्न करता है।

- स्थिरादृष्टि के साधक को संसार के भोग अनर्थकारी लगते हैं, इसलिये पाप के मित्र भोगों के प्रति आकर्षित नहीं होता है। शुद्ध धर्म से उपार्जित पुण्य द्वारा प्राप्त भोगों को भी अनात्म रूप में देखता है और इसलिये उनकी ओर भी उसे कोई आकर्षण नहीं होता है। भोग की प्रवृत्ति क्षण भर के लिये भोगेच्छा को खत्म करती है। परन्तु कालान्तर में पुनः भोगेच्छाएं तीव्र वेग से उत्पन्न होकर मन को आकुल-व्याकुल कर देती हैं, इस ज्ञान के कारण स्थिरा दृष्टि में साधक को पौद्गलिक सुखों का आकर्षण नहीं होता है और अनंत ज्ञानादि गुणों के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता जाता है। इसलिये उसे मोक्षसुख से अतिरिक्त तथा उसके साधनभूत ज्ञानादि के अतिरिक्त किसी भी जगह आनंद का अनुभव नहीं होता है। हालांकि अविरति आदि के कारण ज्ञानादि में पूर्णतः रमणता नहीं होती

है, लेकिन आंशिक रमणता जब प्राप्त होती है तब स्थिरा दृष्टि के साधक को यहां अविनाशी (मोक्ष) का अनुभव होता है - इस बात को दर्शाते हुए स्थिरा दृष्टि की सज्जाय में कहा गया है कि,

“अंशे होय इहां अविनाशी, पुद्गल जाल तमासी रे,
चिदानंदधन सुयशविलासी, केम होय जगनो आशी रे।” (५-६)

पूर्व में दर्शाए अनुसार क्षणभर के लिये अनुभव किये गये अविनाशी स्थिति के कारण पुद्गलजनित कोई भी विकार उसे एक प्रकार का तमाशा लगता है। इस दृष्टि में पुद्गल के बीच निरंतर रहने के बावजूद उससे निर्लिप्त रहने की शुरुआत होती है और मोक्ष में ही सर्वातिशय आनंद है, ऐसी मान्यता दृढ़ होने से मोक्ष और उसके साधनभूत ज्ञानादि से अतिरिक्त अन्य किसी जगह आनंद का अनुभव नहीं कर सकता, इसलिये वह मोक्ष का ही तीव्र अभिलाषी होता है और इस कारण जगत के किसी भी पदार्थ की उसे स्पृहा नहीं होती है।

- स्थिरादृष्टि के साधक को अलोलुपता आदि २१ गुण प्राप्त होते हैं। अन्य दर्शनकारों द्वारा वर्णित यह गुण ग्रंथकारश्री को (पू. आ. भ. श्री हरिभद्रसूरिजी म. को) भी मान्य हैं।

→ **टिप्पणकम्** :- 1. अनन्तरमवेद्यसंवेद्यपदजयात् कुतर्कनिवृत्तिर्भवति सैव च विधेयेत्युक्तम्, अथ तत्फलीभूताः सद्दृष्टिर्विवेचयन्नाह । (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका) 2. अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्पापे कर्मागसोऽपि हि । तत्तलोहपदन्यास-तुल्यावृत्तिः क्वचिद्यदि ।।७०।। वेद्यसंवेद्यपदतः संवेगातिशयादिति । चरमैव भवत्येषा, पुनर्दुर्गत्ययोगतः ।।७१।। (यो. इ. समु.) 3. दृष्टि स्थिरामांहे दर्शन नित्ये रत्नप्रभासम जाणो रे, भ्रांति नहि वली बोध ते सूक्ष्म प्रत्याहार वखाणो रे ।।११।। ए गुण वीर तणो न विसारुं संभारुं दिनरात रे, पशु टाली सुररूप करे जे समकितने अवदात रे ।।१२।। (योगदृष्टि की सज्जाय) 4. एतदेव विशेष्यते सूक्ष्मबोधसमन्वितं - ग्रन्थिभेदाद्वेद्यसंवेद्यपदोपपत्तेरिति ।।१५४।। (यो.इ.समु./टीका) 5. अतो ग्रन्थिविभेदेन विवेकोपेतचेतसाम् । त्रपायै भवचेष्टा स्याद् बालक्रीडोपमाखिला ।।१४-३।। (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका)

6. न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम् । तथा पापसखा लोके, देहिनां भोगविस्तरः ॥१५९॥
 धर्मादपि भवन् भोगः प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् । चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताशनः ॥१६०॥
 भोगात्तदिच्छाविरतिः स्कन्धभारापनुत्तये स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानतः ॥१६१॥ (यो.
 समु.) 7. व्यवहारतः सुशीलत्वकुशीलत्वाभ्यां द्वयोर्विभेदेऽपि निश्चयतः संसारप्रवेशकत्वेन
 कुशीलत्वाविशेषात् (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका - ५/ टीका) 8. अलोल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं । गन्धः
 शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् । कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च । योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥१॥
 मैत्र्यादियुक्तं विषयेष्वचेतः प्रभाववद्भैर्यसमन्वितं च । द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभीष्टलाभः जनप्रियत्वं तथा च
 परं स्यात् ॥२॥ दोषव्यपायः परमा च तृप्तिरौचित्ययोगः समता च गुर्वी । वैरादिनाशोऽथ ऋतम्भरा
 धीर्निष्प्रययोगस्य तु चिह्नमेतत् ॥३॥ इत्यादि इहाप्येतदकृत्रिमं गुणजातम् अत एवारभ्य विज्ञेयम् ।
 (योगदृष्टि समु. १६१/टीका)



प्रकरण - १४/१ : छठवीं कान्ता दृष्टि

स्थिरादृष्टि में प्राप्त नित्य दर्शनादि दृढ़-दृढतर बनने पर साधक 'कान्ता' नामक छठवीं दृष्टि में प्रवेश करता है। दृढतर हुए नित्य दर्शनादि अन्य की प्रीति के लिये बनते हैं। कान्ता दृष्टि के साधक की उपशम की परिणति और उससे होनेवाले औचित्यपूर्ण व्यवहारों के कारण वह सभी के लिये प्रिय बनता है। कांत अर्थात् मनोहर-प्रिय। सभी के लिये प्रिय बने, ऐसी अवस्था में साधक इस दृष्टि के कारण ही आता है। इसलिये इस दृष्टि का 'कान्ता' नाम सार्थक है। चौथे-पांचवें और छठवें गुणस्थानक में प्रवर्तमान साधक को इस छठवीं दृष्टि में तारे की कांति जैसा बोध प्राप्त होता है।

► तारे की कांति जैसा बोध :-

कान्तायां तु ताराभासमान एषः, अतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमात्रानुष्ठानं शुद्धोपयोगानुसारि विशिष्टाऽप्रमादसचिवं विनियोगप्रधानगम्भीरोदाराशयमिति ।

कान्ता दृष्टि में बोध तारे की कांति जैसा होता है। इसीलिये स्वभाव से वह बोध स्थिर होता है। यह बोध निरतिचार अनुष्ठान करानेवाला होता है, शुद्ध उपयोग का अनुसरण करनेवाला होता है, विशिष्ट कोटि के अप्रमाद से युक्त है और विनियोग प्रधान गंभीर-उदार आशयवाला होता है।

→ तारे की कांति जैसा बोध :-

स्थिरादृष्टि में बोध रत्न की प्रभा जैसा होता है। रत्न जहां होता है वहां प्रकाश देता है, दूर के क्षेत्र में प्रकाश नहीं देता है। जबकि तारे का प्रकाश काफी दूर तक जाता है। मनुष्य क्षेत्र से अतिदूर के क्षेत्र में होने के बावजूद यहां हमें मनुष्य क्षेत्र में दिखाई देता है, तारे का इतना अधिक प्रकाश होता है। इसलिये अन्य

करते हैं। उनकी हर प्रवृत्ति अन्य के हित-परोपकार के लिये होती है। विनियोग करने के लिये गंभीर-उदार मनवाला बनना पड़ता है। तो ही सामनेवाले के दोषों को पचाकर भी उस पर उपकार किया जा सकता है। कान्ता दृष्टिवाला साधक गंभीर-उदार मनवाला होने के कारण उसे विनियोग आशय प्राप्त होता है। अब कान्ता दृष्टि में प्राप्त होनेवाले गुणवैभव को (लक्षणों को) दर्शाते हुए योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।

अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसास्ति हितोदया ॥१६२॥

- कान्ता दृष्टि में ... पूर्व वर्णित नित्य दर्शनादि अन्य जीवात्माओं की प्रीति के लिये होता है।....‘धारणा’ नामक योग का अंग प्राप्त होता है...धारणा के प्रभाव से इस दृष्टि में ‘अन्यमुद्’ दोष का नाश होता है...और सम्यग्ज्ञान के परिणाम के रूप में हमेशा सद् विचारणा स्वरूप ‘तत्त्व मीमांसा’ गुण प्राप्त होता है।

- स्थिरादृष्टि में प्राप्त हुए नित्य दर्शन, प्रत्याहार, अभ्रान्त धर्मकृत्य और सूक्ष्मबोध - यह चारों भाव कान्ता दृष्टि में अधिक दृढ़ होते हैं। इससे स्थिरादृष्टिवाले साधकों की तुलना में कान्तादृष्टिवाले साधकों की उपशम की परिणति भी अधिक होती है। इसलिये उनके जीवन में औचित्य का पालन सविशेष होता है और इसलिये उनके निकट आनेवाले जीवात्माओं के लिये वे प्रीति का कारण बनते हैं। परन्तु किसी को उनके प्रति द्वेष नहीं होता है।

► **‘धारणा’ नामक योगांग की प्राप्ति :-**

स्थिरादृष्टि में ‘धारणा’ नामक योगांग प्राप्त होता है। विषयान्तर के परिहारपूर्वक शरीर के नाक के अग्रभागादि स्वरूप देश में मन को स्थिर करने को ‘धारणा’ कहा जाता है।¹

कान्ता दृष्टि में ‘धारणा’ गुण श्रेष्ठ कोटि का प्राप्त होने से साधक धर्मानुष्ठान को मन-वचन-काया की विशेष एकाग्रतापूर्वक करता है। इस दृष्टि में योगी

किन-किन गुणों से 'धारणा' योग को प्राप्त कर पाए हैं, इसे दर्शाते हुए सद् दृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि² ...

(१) कान्ता दृष्टि वाले साधकों का मन मैत्र्यादि चार भावनाओं से वासित होता है। इस कारण मन में स्वार्थ वृत्तियां अथवा जीवात्माओं के प्रति द्वेष भावना नहीं आती है। जिससे ‘धारणा’ अत्यंत दृढ़ होती है और वे सभी के लिये प्रिय बन जाते हैं।

(२) कान्ता दृष्टि के योगियों ने अहिंसादि यम तथा शौचादि नियमों को अच्छे ढंग से अभ्यस्त बनाया होता है।

(३) कान्ता दृष्टि के साधक में असद् तृष्णा का नामोनिशान नहीं होने से आसन की अच्छी स्थिरता प्राप्त होती है।

(४) कान्ता दृष्टिवाले योगियों ने प्राण विक्षेप का त्याग किया है। क्योंकि भावप्राणायाम के बल से शुभ भावों में आत्मा पूर्णतः स्थिर है और इससे ज्ञानादि भाव प्राणों का विक्षेप न हो, ऐसा स्थिरभाव यहां प्रवर्तमान होता है। पूर्व की दृष्टियों में प्राप्त हुए योगांग इस दृष्टि में अत्यंत विकसित अवस्था में होते हैं।

(५) इन्द्रियों का प्रत्याहार करके काया को ऋजुगामी-सरल बनाया है। इस दृष्टि में प्रत्याहार अत्यंत दृढ़स्तरीय प्राप्त हुआ है। इससे काया सहजता से सरल (सहज भाव में) रहती है।

(६) कान्ता दृष्टि के साधक राग-द्वेष, रति-अरति आदि द्वंद्वों को जीत चुके होते हैं। इसलिये उनका मन द्वन्द्वातीत होता है। इससे 'धारणा' में बहुत सुंदर सफलता मिलती है।

(७) कान्तादृष्टिवाले योगी संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास में (अर्थात् सातवें योगांग 'ध्यान' की प्राप्ति के अभ्यास में) प्रयत्नशील होते हैं। उपरोक्त गुणसंपदा से युक्त योगी 'धारणा' योगांग में सुस्थित होते हैं और जगत् के लोगों में

प्रिय बनते हैं।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, ज्ञानाभ्यास दृढ़ हो और ज्ञान में मग्न होने की अभिरुचि तीव्र हो तो 'धारणा' योगांग सरलता से प्राप्त होता है। कान्ता दृष्टि में सूक्ष्मबोधादि की अधिकता के कारण तीव्रता से तत्त्व रुचि-ज्ञान रुचि प्रकट होती है। इसी से मन ज्ञान-तत्त्व में स्थिरता प्राप्त करता है और इससे मन में अन्य श्रुत का (मिथ्यात्वियों के श्रुत का) संवास नहीं होता है, ऐसा योगदृष्टि की सज्जाय में कहा गया है।^३ सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होने से सहज रूप से अतत्त्व रूप अन्य श्रुतधर्म में उनका मन नहीं लगता है। तत्त्व-अतत्त्व का विचार करते समय अन्यश्रुत सामने आने के बावजूद कभी अतत्त्व में उपादेय भाव पैदा नहीं होता है। यह इस दृष्टि की विशेषता है अर्थात् तत्त्व-अतत्त्व का विवेक दृढ़-दृढ़तर करके श्रद्धा को मजबूत बनाने के लिये अन्य दर्शन की मान्यताओं की जांच की जाए, तब भी उन्हें कष-छेद-ताप की कसौटी पर लेकर तत्त्व का निष्कर्ष निकालता है। परन्तु उसमें अन्य श्रुत की एकांत मान्यताओं के प्रति उपादेय भाव जागृत नहीं होता है, ऐसी उसकी सम्यग्दर्शन की निर्मलता होती है।

► अन्यमुद् दोष का नाश :-

कान्ता दृष्टि में मन के 'अन्यमुद्' दोष का नाश होता है। अन्यमुद् अर्थात् प्रकृतकार्यान्यकार्यप्रीतिः । [षोडशक-१४/३] - प्रस्तुत कार्य (प्रारम्भ किये कार्य को) छोड़कर अन्य कार्य में प्रीति होती है, उसे 'अन्यमुद्' दोष कहा जाता है। जैसे कि, चैत्यवन्दन करने के अवसर पर श्रुताभ्यास में प्रीति उत्पन्न हो अथवा श्रुताभ्यास काल में चैत्यवन्दन में प्रीति उत्पन्न हो तो वह अन्यमुद् दोष होता है। इस दोष के कारण (अनुष्ठान की पालना के बावजूद) इष्ट अर्थ स्वरूप योग की सिद्धि पर अंगारों की वर्षा होने जैसा होता है, ऐसा योग ग्रंथों में कहा गया है।

कान्ता दृष्टि में अन्यमुद् दोष कैसे नष्ट होता है, इसका कारण दर्शाते हुए सद् दृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि,

“तथा स्थिरभावेन नान्यमुद् अर्थात् नान्यत्र हर्षः, तदा तत्प्रतिभासाभावात्।”

कान्ता दृष्टिवाले योगी धारणा योगांग के कारण सद् अनुष्ठान के अवसर पर स्थिर भाववाले बन जाते हैं। इस स्थिर भाव के कारण वे जो अनुष्ठान करते हैं, उससे अन्य अनुष्ठान में उन्हें प्रीति नहीं होती है। क्योंकि प्रारम्भ किये हुए अनुष्ठान में इस प्रकार का स्थिर भाव प्रवर्तमान होता है कि उस काल में अन्य अनुष्ठान का प्रतिभास भी नहीं होता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, क्षेप दोष तथा अन्यमुद् दोष में अंतर है। अप्रशस्त स्थानों में मन का चले जाना क्षेप दोष है। यह दोष तीसरी दृष्टि में नष्ट हो जाता है। एक विहित क्रिया करते समय अन्य विहित क्रिया में प्रीति उत्पन्न हो जाना अन्यमुद् दोष है। स्थिरा दृष्टि में क्षेपदोष नहीं होता है, बल्कि अन्यमुद् दोष होता है। जबकि कान्ता दृष्टि में दोनों का ही अभाव होता है। इससे अनुष्ठान में बहुत एकाग्रता होती है।

► तत्त्वमिमांसा गुण की प्राप्ति :-

हितोदया अर्थात् सम्यग्ज्ञानफला मीमांसा च सद्भिचारात्मिका भवति । (सद्दृष्टि-द्वात्रिं०) - कान्ता दृष्टि में सम्यग्ज्ञान के फलस्वरूप सद् विचारात्मक मिमांसा गुण प्रकट होता है।

सम्यग्ज्ञान (सम्यग्बोध) प्रकट होने के बाद जो तात्त्विक विचार प्रवर्तमान होता है, उसे ‘मिमांसा’ कहा जाता है।⁴ श्रुत ज्ञान होने के बाद यदि तत्त्व-अतत्त्व के सूक्ष्म विचाररूपी मिमांसा प्रकट न हो तो श्रुत ज्ञान सफल नहीं होता है।⁵ तत्त्वमिमांसा हित की परम्परा का सृजन करती है। क्योंकि इससे तत्त्व-अतत्त्व का सच्चा विवेक प्रकट होता है और इससे अतत्त्व की निवृत्ति और तत्त्व की प्रवृत्ति अधिक परिणामदायी बनती है। कान्ता दृष्टि के साधकों के नित्यदर्शनादि अन्य की प्रीति के लिये होते हैं, यह पूर्व में कहा था, इसकी स्पष्टता करते हुए योगदृष्टि ग्रंथ में कहा गया है कि,

अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः ।

प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥१६३॥

- कान्तादृष्टि में धर्म का माहात्म्य होने से आचरण की विशुद्ध हो जाने के कारण साधक जीवात्माओं में प्रिय बनता है और धर्म में उसका मन एकाग्र बनता है अर्थात् कान्ता दृष्टि के साधक को प्राप्त धर्म की महिमा से आचरण की शुद्धि होती है। इससे उसका मन धर्म में एकाग्र बनता है और उसकी वृत्तियां उदात्त-उदार बनती हैं तथा उसकी धार्मिक प्रवृत्तियां अत्यंत औचित्यपूर्ण होती हैं। इसलिये वह सभी को प्रिय होता है।

‘तत्त्वमिमांसा’ गुण से कभी असमंजस प्रवृत्ति नहीं होती है, इस बात को दर्शाते हुए सद्दृष्टि बन्नीसी में कहा गया है कि,

मीमांसा दीपिका चास्यां मोहध्वान्तविनाशिनी ।

तत्त्वालोकेन तेन स्यान्न कदाप्यसमञ्जसम् ॥१६॥

- कान्ता दृष्टि में तत्त्व का प्रकाश होने से अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करनेवाले सद् विचाररूप मिमांसा दीपिका होती है। इससे कभी असमंजस प्रवृत्ति नहीं होती है।

कान्ता दृष्टि में अज्ञाननाशक मिमांसा गुण होने से अज्ञान निमित्तक एक भी असमंजस प्रवृत्ति नहीं होती है और इससे उसके योगमार्ग को कोई बाधा नहीं पहुंचती है। कान्ता दृष्टि के साधक प्रमाद के वशीभूत होकर भोगों में प्रवृत्ति नहीं करते हैं। बल्कि कर्म आक्षिप्त (कर्म से खिंचकर आई) भोग प्रवृत्ति होती है। इससे वहां भी उनकी असमंजस प्रवृत्ति नहीं होती है। जो प्रवृत्ति योगमार्ग की साधना को बाधा पहुंचाए, धर्म की अपभ्राजना का निमित्त बने, औचित्य की हानि करे, अन्य को दुःख पहुंचाए, ऐसी प्रवृत्ति असमंजस प्रवृत्ति कहलाती है।

► कान्ता दृष्टि की विशिष्ट सिद्धि :-

कान्ता दृष्टिवाला साधक धर्म में एकाग्र मनवाला होने से उसे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसे दर्शाते हुए योगदृष्टि ग्रंथ में कहा गया है कि,

“श्रुतधर्म मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते ।

अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ॥१६४॥”

(१) कान्ता दृष्टि के साधक का मन हमेशा श्रुतधर्म में होता है और उसकी काया ही अन्य जगह पर प्रवृत्ति करती है। तथा (२) इसलिये श्रुतधर्म में मन आक्षिप्त (लगा) रहे ऐसा आक्षेपक ज्ञान होने से भोग संसार का कारण नहीं बनते हैं - (कान्ता दृष्टि में यह दो सिद्धियां प्राप्त होती हैं।) दृष्टांतपूर्वक इसी बात को सरल भाषा में दर्शाते हुए योगदृष्टि की सज्झाय में कहा गया है कि,

“मन महिलानुं रे वाहला उपरे, बीजा काम करंत,

तेम श्रुतधर्मे रे एहमां मन धरे ज्ञानाक्षेपकवन्त । (६-६)

एहवे ज्ञाने रे, विघन-निवारणे भोग नहि भवहेत,

नवि गुण दोष न विषयस्वरूपथी मन गुण-अवगुण खेत ।” (६-७)

जैसे संसार में रहनेवाली सती स्त्री कोई भी काम करती हो, फिर भी उसका मन जिस तरह अपने पति में ही लगा रहता है, उसी प्रकार अविरति आदि की तीव्रता के कारण कान्ता दृष्टिवाला (संसार में रहनेवाले) साधक भी संसार के अन्य कार्य करते होने के बावजूद उनका मन तो श्रुतधर्म में ही लीन रहता है। क्योंकि कान्ता दृष्टिवाले साधक के पास श्रुतधर्म में ही मन लगाकर रखनेवाला आक्षेपक ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रभाव से काया कोई भी कार्य करती हो, लेकिन मन का अनुसंधान तो श्रुतधर्म में ही होता है। जो ज्ञान मन को अन्य स्थलों से दूर करके श्रुत धर्म में खींच लाता है-स्थिर रखता है, उस ज्ञान को आक्षेपक ज्ञान कहा जाता है।

कान्ता दृष्टि के साधक की एक ही उम्मीद होती है कि, मुझे चारित्र प्राप्त हो। इसलिये स्वयं को प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का पूरा उपयोग करके चारित्र धर्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है। कान्ता दृष्टि के साधक को जो साधन प्राप्त हुए हैं, उनसे उत्कृष्ट साधन प्राप्त करके सिद्धि का वरण करने की उत्सुकता होती है। **यद्यपि संसार में रहनेवाले कान्ता दृष्टि के साधक अविरति कर्म के उदय से जिन भोगों में प्रवृत्ति करता है, वह भोगप्रवृत्ति भी उसे प्राप्त हुए आक्षेपक ज्ञान के कारण उसके लिये संसार का (क्लिष्ट कर्मबंध का) कारण नहीं बनती है। योगदृष्टि की सज्जाय में कहा गया है कि, कान्ता दृष्टि में आक्षेपक ज्ञान होने से मोक्षसाधना में आनेवाले विघ्नों का अत्यंत सरलता से निवारण हो जाता है। भूतकाल में उपार्जित कर्मों के उदय से होनेवाली संसार की भोगप्रवृत्ति उसके लिये संसार का कारण नहीं बनती है अर्थात् वह भोगप्रवृत्ति मोक्ष साधना में विघ्न नहीं बनती है।**

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, मात्र कायिक विषयप्रवृत्ति संसार का कारण नहीं बनती है। बल्कि उसमें मन लीन हो जाए तो वह विषयप्रवृत्ति संसार का कारण बनती है। कान्ता दृष्टि में साधक का मन आक्षेपक ज्ञान के प्रभाव से श्रुतधर्म में लीन होता है, इसलिये उसकी कायिक विषयप्रवृत्ति संसार का कारण नहीं बनती है। यद्यपि मात्र विषय की प्रवृत्ति आत्मगुणों की बाधक नहीं और मात्र विषय की निवृत्ति आत्मगुणों की साधक नहीं है। विषय की स्वरूपतः प्रवृत्ति या निवृत्ति में दोष या गुण उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती है। बल्कि विषय की प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ मन के अशुभ या शुभ अध्यसाय मिलने पर वह प्रवृत्ति आत्मगुण की घातक या साधक बनती है। (नवि गुण दोष न विषयस्वरूपथी मन गुण-अवगुण खेत।) इसलिये मन के अनुसंधान रहित मात्र विषय की प्रवृत्ति या निवृत्ति दोष या गुण का कारण नहीं। बल्कि विषय में आसक्त मन और अनासक्त मन ही वास्तव में अवगुण और गुण का कारण है।

संक्षेप में, कान्ता दृष्टि के साधक का मन आक्षेपक ज्ञान के प्रभाव से श्रुत धर्म में लीन होने के कारण अत्यंत निर्मल होता है। इससे संसार के भोग भी संसार का कारण नहीं बनते हैं।

⇒ कान्तादृष्टि के साधक का भोग सम्बंधी पारमार्थिक दर्शन :-

कान्ता दृष्टि के साधक के लिये भोग संसारवर्धक नहीं बनते हैं, इसके लिये उसका भोग सम्बन्धी पारमार्थिक दर्शन कारणभूत होता है। वे भोगों को कैसे देखते हैं, यह दर्शाते हुए **योगदृष्टि समुच्चय** ग्रंथ में कहा गया है कि,

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।

तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः ॥१६५॥

भोगान्स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।

भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥१६६॥^६

- जैसे, परमार्थ से माया रूपी पानी को मायाजल के रूप में ही देखकर, उससे उद्विग्न न होकर, किसी भी प्रकार के व्याघात के बिना यात्री मायाजल के बीच से शीघ्र गुजर जाता है, वैसे ही मायाजल की (जल नहीं बल्कि आभासीजल की) उपमावाले भोगों को स्वरूप से देखकर (और) उन भोगों को भोगने के बावजूद असंग्रह रहकर कान्ता दृष्टि का साधक मोक्ष की ओर ही बढ़ता है।

कान्ता दृष्टि के साधक को मिथ्यात्व मोहनीय का विशिष्ट क्षयोपशम होने के कारण तथा श्रुतधर्म में ही मन स्थिर होने से भगवान ने जगत के पदार्थों को जैसा बताया है, वैसे ही उसे दिखाई देते हैं। इसलिये इन योगियों को भोग कैसे दिखाई देते हैं, यह दर्शाते हुए पूर्वोक्त श्लोक में कहा गया है कि, जैसे आभासी जल को आभासी जल के रूप में देखनेवाला व्यक्ति अर्थात् ग्रीष्मऋतु के मध्याह्न में वृक्ष की छाया में दिखाई देनेवाले आभासी जल को अथवा पानी का प्रतिभास को, ऐसे स्फटिक में दिखाई देनेवाले आभासी पानी को आभासी जल के रूप में देखनेवाला यात्री बिना घबराए उससे गुजर जाता है, वैसे ही कान्ता दृष्टि का

साधक भी पौद्गलिक सुखों को (भोगों को) सुखाभास के रूप में देखकर उनसे गुजर जाता है। वहां रुकता नहीं है - उनमें आसक्त नहीं होता है। बल्कि अनासक्तिपूर्वक उन्हें भोगते हुए भी असंग रहकर मोक्ष की ओर ही आगे बढ़ता है। भोगों का तात्त्विक दर्शन होने से भोगप्रवृत्ति मोक्ष की ओर प्रयाण में स्थलना उत्पन्न नहीं करती है, इससे साधक अविरति आदि कर्म से आक्षिप्त भोगों में प्रवृत्ति करे तो भी उसकी मनः शुद्धि का हनन नहीं होता है।

जबकि जो यात्री मायाजल को सच्चे जल के रूप में देखता है, तब वह जहां होता है वहीं पर पानी के डर से रुक जाता है और आगे जाएं या नहीं ऐसी असमंजस की स्थिति में वहीं का वहीं खड़ा रह जाता है। इसी प्रकार संसार में पुण्य उदय से प्राप्त भौतिक सुखों को जो व्यक्ति सच्चा सुख मानता है और उसके लालच में आता है, वह व्यक्ति वे सुख भोगने के लिये संसार में रुक जाता है - भोगों में आसक्त हो जाता है और संसार में फंस जाता है। कान्ता दृष्टि का साधक संसार के भोगों को झूठा मानता है, इसलिये कर्मयोग से उसमें प्रवृत्ति करनी पड़े तो भी उसमें वह फंसता नहीं है, बल्कि असंग रहकर (फंसे बिना) भवसागर से पार उतर जाता है।

प्रश्न :- भोग की प्रवृत्ति के समय असंग भाव कैसे रह सकता है ? और भोग की प्रवृत्ति तो मोक्ष की विरोधी है। मोक्ष की अनुकूल धार्मिकप्रवृत्ति ही जीवात्मा को असंगभाव में रखकर मोक्ष की ओर ले जाती है, परन्तु मोक्ष की विरोधी भोगप्रवृत्ति उसे कैसे मोक्ष की ओर ले जा सकती है ?

उत्तर :- इस प्रश्न का जवाब सद् दृष्टि बत्रीसी और अध्यात्म सार में अच्छे ढंग से दिया गया है। वहां कहा गया है कि,

धर्मशक्तिं न हन्त्यस्यां भोगशक्तिर्बलीयसीम् ।

हन्ति दीपापहो वायुर्ज्वलन्तं न दवानलम् ॥२४-१५॥

कान्ता दृष्टि में बलवान भोगशक्ति भी धर्मशक्ति का हनन नहीं करती है।

(क्योंकि) दीपक को बुझा देनेवाली वायु भी विराट ज्वालावाले दावानल का हनन नहीं कर सकती है।

कान्ता दृष्टि में कर्म से आक्षिप्त भोग होने से (अर्थात् स्वयं को भोगों में रुचि है, इसलिये भोग प्रवृत्ति नहीं, बल्कि भूतकाल में उपार्जित कर्मों से आक्षिप्त भोग होने से) भोगशक्ति कमजोर होती है। जबकि धर्मशक्ति बलवान होती है। क्योंकि, साधक का मन निरंतर श्रुत धर्म में होता है और उसकी वह प्रवृत्ति स्वारसिक होती है और इसीलिये बलवान होती है। **इसलिये भोगशक्ति कमजोर होती है और धर्म शक्ति बलवान होती है।** भोगशक्ति भले ही मोक्ष की विरोधी हो, परन्तु धर्म शक्ति उससे बलवान होने के कारण निर्बल भोग शक्ति अकिंचित्कर बन जाती है - मोक्ष की ओर प्रयाण को रोकने में समर्थ नहीं होती है अर्थात् साधक के असंगभाव को तोड़ने में समर्थ नहीं होती है।

यहां उदाहरण देकर समझाया गया है कि, जैसे दीपक को बुझा देनेवाली वायु भी देदीप्यमान दावानल को नहीं बुझा सकती है। बल्कि वही वायु दावानल को और प्रबल बनने में मदद करती है, इसी प्रकार अवश्य भोगने योग्य कर्म के क्षय में जो धर्मशक्ति काम में लगाई जाती है, उस बलवान धर्मशक्ति को भोगशक्ति भी मदद करती है। भोगशक्ति निर्बल होने से धर्मशक्ति का हनन नहीं करती है, बल्कि उसकी मदद करती है।

प्रबल धर्मशक्ति के कारण यहां चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता जाता है और उस समय उस प्रकार की भोग प्रवृत्ति भी चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने में सहायभूत बनती है। धर्म प्रवृत्ति में वह व्याघात नहीं पहुंचाती है। (यह वर्णन सदृष्टि बत्तीसी-२४/गाथा-१५ की टीका में है।)

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, स्थिरादृष्टि में भी भोग को सारहीन (अतत्त्वभूत) मानने के लिये परिपूर्ण ज्ञान होता है। उसके ज्ञान में भी भोग अकिंचित्कर - व्यर्थ ही लगते हैं। फिर भी स्थिरा दृष्टि में भोग प्रमाद का

⇒ चतुर्थ गुणस्थानक का उपसंहार :-

- योगग्रंथों में पांच प्रकार की धर्मयोनियां दर्शाई गई हैं।

प्रथम गुणस्थानक में प्राप्त होनेवाली योग की चार दृष्टियों में क्रमशः एक-एक ऐसे चार धर्मयोनियां प्राप्त होती हैं और चतुर्थ गुणस्थानक में पांचवीं दृष्टि में पांचवीं धर्मयोनि की प्राप्ति होती है।⁸ **प्रथमदृष्टि में वृत्ति अर्थात् परिणाम,** नामक धर्मयोनि प्राप्त होती है। खेद आदि दोषों का नाश होने से मन की स्वस्थता प्राप्त होती है। इससे आत्महितकर धर्मप्रवृत्ति करने का परिणाम उत्पन्न

होता है। एकमात्र धर्म ही करने योग्य है - ऐसी मन की धारणा (धृति) होती है। दूसरी दृष्टि में 'श्रद्धा' नामक धर्मयोनि प्राप्त होती है। मोक्ष साधक धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है। एकमात्र धर्म ही करने योग्य लगता है। तत्त्व रुचि पैदा होती है। तीसरी दृष्टि में सुखा अर्थात् आनंद नामक धर्मयोनि प्राप्त होती है। धर्म प्रवृत्ति में अत्यंत आनंद आता है। चौथी दृष्टि में विविदिषा नामक धर्म योनि प्राप्त होती है। धर्म प्रवृत्ति शुद्ध-शुद्धतर कैसे बने, ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। पांचवीं दृष्टि में विज्ञप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन नामक धर्मयोनि प्राप्त होती है। मोक्ष ही परमार्थभूत है। संयम ही अर्थभूत है और संसार ही अनर्थभूत है, इस प्रकार का स्थिर ज्ञान यहां प्राप्त होता है।

⇒ पुरुषार्थ की दिशा :-

→ चतुर्थ गुणस्थानक में अविरति कर्म का प्रगाढ़ उदय प्रवर्तमान होता है। वह दूर न हो तब तक सम्यग्दृष्टि की चारित्र की आकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये इस गुणस्थानक के साधकों को चारित्राकांक्षा पूर्ण करने के लिये अविरति कर्म की निर्जरा करना आवश्यक है, इसके लिये जीवन में अणुव्रतों का पालन, नियम-अभिग्रहों का पालन, चारित्रधरों की भक्ति और अधिक से अधिक सामायिक करना इत्यादि कार्य करने चाहिये।

→ इसके अलावा योग की दृष्टियों में विकास हो ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये। यहां प्राप्त हुई पांचवीं-छठवीं दृष्टि का बोध अधिक तेजस्वी बनने पर **क्रमशः पांचवें और छठवें गुणस्थानक में** यह बोध अधिक खिलता है और इस कारण गुणों की प्राप्ति तथा दोषों का नाश अधिक होता है और अप्रमत्त दशा खिलती जाती है तथा अध्यवसायों की निर्मलता बढ़ती जाती है।

→ **टिप्पणकम् :-** 1. देशबन्धो हि चित्तस्य धारणा तत्र सुस्थितः । प्रियो भवति भूतानां धर्मकाग्रमनास्तथा ॥२४-९॥ **टीका** - देशेति-देशे - नाभिचक्रनासाग्रादौ, बन्धो - विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा, हि चित्तस्य धारणा, यदाह - देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (यो.सू.

३.१७) । (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका-) 2. तत्र धारणायां सुस्थितः मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणतया, स्वभ्यस्तयमनियमतया, जितासनत्वेन परिहृतप्राणविक्षेपतया, प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामत्वेन ऋजुकायतया, जितद्वन्द्वतया, संप्रज्ञाताभ्यासाविष्टतया च सम्यगव्यवस्थितः, भूतानां - जगल्लोकानां प्रियो भवति, तथा धर्मेकाग्रमना भवति ।।२४-९।। (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका) 3. छट्टी दिट्टी रे हवे कान्ता कहुं, तिहां ताराभप्रकाश, तत्त्वमीमांसा रे दृढ होये धारणा, नहिं अन्यश्रुत सहवास (६-५) 4. मीमांसा - बोधानन्तरभावितत्त्वविचाररूपा (षोडशक - १६/१४) 5. यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः । न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ।। (महाभारतसभाष्य-५५/४) 6. मायापाणी रे जाणी तेहने, लंघी जाये अडोल, साचुं जाणी रे ते बीहतो रहे, न चले डामाडोल (६-८) भोगत्वनो रे ए भय नवि टले, जुठा जाणे रे भोग, ते ए दृष्टि रे भवसायर तरे लहे वली सुयशसंयोग (६-९) (योगदृष्टि की सज्जाय) 7. यद्यपि स्थिरायामपि ज्ञानापेक्षया भोगानामकिञ्चित्करत्वमेव तथापि तदांशे प्रमादसहकारित्वमपि तेषां, कान्त्यां तु धारणया ज्ञानोत्कर्षाच्च तथात्वमपि तेषां, गृहिणोऽप्येवंविधदशायामुपचारतो यतिभाव एव चारित्रमोहोदयमात्रात्केवलं न संयमस्थानलाभः, न तु तद्विरोधिपरिणामलेशतोऽपीत्याचार्याणामाशयः ।।१५।। (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका) 8. “वृत्तिः (धृतिः) श्रद्धा सुखा विविदिषा विज्ञप्तिरिति धर्मयोनयः” इति वचनात् । (यो.द्व.समु. - ३७ / टीका)



प्रकरण - १५ : पांचवां (देशविरति) गुणस्थानक

साधक चतुर्थ गुणस्थानक से पांचवें गुणस्थानक में कैसे आता है, यह दर्शाते हुए 'श्रावक-धर्म विंशिका' में कहा गया है कि,

सम्मा पलियपुहुत्तेऽवगए कम्माण एस होइ त्ति ।

सो वि खलु अवगमो इह विहिगहणाइहिं होइ जहा ॥५॥

- सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद (सम्यक्त्व के काल में जो कर्म स्थिति होती है, उसमें से) कर्मों की २ से ९ पल्योपम स्थिति घटे, तब देशविरति धर्म (श्रावक धर्म) प्राप्त होता है। यहां संसार में श्रावक धर्म की प्राप्ति में कारणभूत कर्मों का अपगम (कटौती) भी विधि ग्रहणादि से होता है अर्थात् विधिपूर्वक व्रतों को ग्रहण करने से इन कर्मों का अपगम होता है।^A

पूर्वनिर्दिष्ट कर्म स्थिति का हास विधिपूर्वक व्रतों को ग्रहण करके अच्छे ढंग से पालन करने से होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि,

गुरुमूले सुयधम्मो संविग्गो इत्तरं व इयरं वा ।

गिण्हइ वयाइं कोइ पालइ य तहा निरइयारं ॥६॥

^Aसम्यक्त्व काल में जो कर्म स्थिति हो, उसमें से कर्मों की २ से ९ पल्योपम स्थिति घटने पर देशविरति गुणस्थानक प्राप्त होता है। (एक पल्योपम अर्थात् असंख्य वर्ष) देशविरति गुणस्थानक के असंख्य अध्यवसाय स्थान हैं। उत्तरोत्तर अध्यवसाय स्थानों को प्राप्त करने के लिये कर्म स्थिति का अधिक से अधिक हास होना अनिवार्य है। यद्यपि देशविरति गुणस्थानक प्राप्त हो तब देशविरति के परिणाम हेतु आवश्यक चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम भी प्राप्त होता है। फिर भी यहां उस चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से जुड़े पूर्व निर्दिष्ट कर्म स्थिति का हास होने पर देशविरति का परिमाण प्राप्त होता है। इसी अपेक्षा से विंशति विंशिका ग्रंथ में यह प्रस्तुतिकरण किया गया है। इसके अलावा अप्रत्याख्यानीय कषाय का क्षयोपशम होने से देशविरति गुणस्थानक प्राप्त होता है। इस क्षयोपशम के लिये जीवात्मा यथाप्रवृत्तकरण तथा अपूर्वकरण सहित दो करणों के माध्यम से तादृश क्षयोपशम करके देशविरति के परिणाम को प्राप्त करता है।

- गुरु के समक्ष श्रुत धर्मवाला साधक संविग्न (सम्यग्दृष्टि जीवात्मा) इत्वर कालिक (अल्प काल के लिये) अथवा यावत्कालिक (यावज्जीव के लिये) व्रतों को ग्रहण करता है और निरतिचार पालन करता है, इससे इन कर्मों का अपगम (हास) होता है।

जो (सम्यग्दृष्टि जीवात्मा) गुरु से देशविरति धर्म का स्वरूप अच्छे ढंग से समझ लेता है, ऐसा जीवात्मा तीव्र संवेगपूर्वक अपनी शक्ति के अनुसार इत्वर कालिक अथवा यावज्जीव व्रतों को ग्रहण कर लेता है और ग्रहण करने के बाद गुरु से जिन अतिचार आदि का ज्ञान प्राप्त करता है, उस ज्ञान के अनुसार अतिचारों को टालकर निरतिचार पालन करता है, इससे उस जीवात्मा की कर्म की स्थिति घटती है और उसमें देशविरति का परिणाम प्रकट होता है अर्थात् अल्पांश में पाप की विरति का परिणाम प्रकट होता है।

यहां उल्लेखनीय है कि, पूर्व में दर्शाए अनुसार व्रत-ग्रहणादि से देशविरति का परिणाम प्रकट होता है, ऐसा जो कहा है, **उसका सार यह है कि** - कोई जीवात्मा तीव्र संवेगपूर्वक देशविरति धर्म को सुनता हो तब भी उसमें देशविरति का परिणाम प्रकट होने की संभावना होती है। जबकि अन्य जीवात्मा को बार-बार उस पर चिंतन करने से व्रत का परिणाम प्रकट होता है। अन्य जीवात्मा ऐसे भी होते हैं कि व्रतों को ग्रहण करने के बाद निरतिचार पालन करें, इसके बाद उनमें व्रत का परिणाम प्रकट होता है। किसी में व्रतग्रहण की विधि के समय में भी व्रत का परिणाम प्रकट हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं में व्रत का परिणाम प्रकट करने में कर्मों की पूर्व निर्दिष्ट स्थिति का हास कारणभूत है।

► व्रत संरक्षण के उपाय :-

हालांकि, व्रत का परिणाम एक बार प्राप्त होने के बाद कर्म के उदय से चला भी जाता है। इसलिये व्रत को स्थिर रखने के लिये सात उपाय दर्शाते हुए **श्रावक धर्म विंशिका** में कहा गया है कि,

तम्हा निच्चसईए बहुमाणेणं च अहिगयगुणंमि ।

पडिवक्खदुगुंछाए परिणइयालोयणेणं च ॥८॥

तित्थंकरभत्तीए सुसाहुजणपज्जुवासणाए य ।

उत्तरगुणसद्धाए इत्थ सया होइ जइयव्वं ॥१॥

- (प्राप्त हुआ देशविरति का परिणाम भी कर्म के उदय से चला जाता है।) इसलिये (१) नित्य स्मृति से, (२) स्वीकृत गुण के सन्मान से, (३) प्रतिपक्ष की जुगुप्सा से, (४) परिणति के आलोचन से, (५) तीर्थंकर की भक्ति से, (६) सुसाधुजन की पर्युपासना से और (७) उत्तरगुण में श्रद्धा से - इन सात उपायों के सेवनपूर्वक व्रत को स्थिर रखने के लिये हमेशा प्रयत्न करना चाहिये। नित्य स्मृति आदि के सेवनपूर्वक व्रत में हमेशा उद्यमशील रहना चाहिये। इससे देशविरति के परिणाम प्राप्त नहीं हुए होंगे तो होंगे और प्राप्त हुए होंगे तो वे स्थिर रहेंगे और बढ़ेंगे - आगे के विशुद्ध अध्यवसाय स्थानों की प्राप्ति करवाकर सर्वविरति तक पहुंचाएंगे। नित्य स्मृति आदि सात उपायों का वर्णन पूर्व में आ चुका है, इसलिये यहां उसका दोबारा उल्लेख नहीं किया है।

■ **भावश्रावक का गुणवैभव :-**

पूर्व निर्दिष्ट कर्मस्थिति का हास होने से देशविरति का परिणाम प्रकट होता है, तब भाव श्रावकता प्राप्त होती है। भाव श्रावक का गुण वैभव दर्शाते हुए श्रावकधर्मविशिका में कहा गया है कि,

धम्मोवग्गहदाणाइसंगओ सावगो परो होइ ।

भावेण सुद्धचित्तो निच्चं जिणवयणसवणरई ॥१॥

- धर्मोपग्रहकर दानादि से^A युक्त, भाव से शुद्ध मनवाला, हमेशा जिनवचन के श्रवण में रतिवाला श्रेष्ठ श्रावक होता है।

^Aदान के तीन प्रकार हैं। (१) ज्ञानदान, (२) अभयदान और (३) धर्मोपग्रहकर दान। सुपात्रदान धर्मोपग्रहकर दान है। अनुकंपा दान धर्मोपग्रह का कारण है। श्रावक सुपात्रदान और अनुकंपा दान दोनों दान शुभभावपूर्वक (शुद्ध मन से) हमेशा करे। क्योंकि उसे सर्वविरति को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा होती है।

श्रेष्ठ श्रावक हमेशा सुपात्रदान और अनुकंपादान करता है। भाव से शुद्ध मनवाला होता है और हमेशा जिनवचन के श्रवण में रतिवाला होता है। शास्त्र के अर्थों को सुने वह श्रावक, यह श्रावक शब्द की परिभाषा है। इसके अनुसार वह हमेशा जिनवचन के श्रवण में रतिवाला होता है।

► देशविरति के लिंग :-

भाव श्रावक (देशविरति) के लिंग बताते हुए श्रावक धर्म विंशिका में कहा गया है कि,

“मग्गाणुसारी^१ सङ्खो^२ पन्नवणिज्जो^३ कियापरो^४ चेव ।

गुणरागी^५ सक्कारंभसंगओ^६ देसचारिती ॥२॥”

→ मार्गानुसारी :

देशविरतिधर श्रावक मार्गानुसारी होता है अर्थात् मोक्ष मार्ग का (भाव मार्ग का) अनुसरण करनेवाली परिणतिवाला होता है। यह निर्मल परिणति चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है। (अपुनर्बन्धकादि में जो मार्गानुसारिता होती है, वह स्थूल से-द्रव्य से होती है। क्योंकि वहां मिथ्यात्व मंद होने के बावजूद मिथ्यात्व-चारित्र मोहनीय का औदायिक भाव प्रवर्तमान होता है। इसलिये द्रव्य से मार्गानुसारिता होती है।) चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम तत्त्वप्राप्ति का अनन्य कारण है। सम्यग्दृष्टि श्रावक का लक्ष्य एकमात्र मोक्ष है और उसके लिये उसे संयम जीवन स्वीकार करना होता है। कर्मयोग या संयोग विशेष से संसार में रहता है। परन्तु उसे वहां रहना पसंद नहीं होता है। उसे तो मोक्षमार्ग पर प्रगति करनी होती है। इसलिये उसकी परिणति सदा के लिये मोक्षमार्ग का अनुसरण करती है।

→ श्राद्ध :

श्रावक वीतराग परमात्मा के वचन में तीव्र रुचिरूप श्रद्धा से युक्त होता है। क्योंकि तत्त्व और जिनवचन के प्रति अश्रद्धा करानेवाले क्लेशों का उसमें

अत्यंत हास होता है।^A

→ प्रज्ञापनीय :

श्रावक प्रज्ञापनीय होता है। अनाभोग से कहीं विपरीत बोध रखता हो या विपरीत प्रवृत्ति करता हो तो भी उसमें मार्ग के प्रति तीव्र श्रद्धा होने के कारण वह सद्गुरु द्वारा उस विपरीत बोध या प्रवृत्ति से वापसी करनेवाला प्रज्ञापनीय होता है। परन्तु स्वयं से कुछ गलत हो रहा हो, तो उसी पर अडिग रहनेवाला नहीं होता है। मार्ग के प्रति श्रद्धा का फल ही प्रज्ञापनीयता है। जिसमें मार्ग के प्रति श्रद्धा हो उसमें उन्मार्ग छोड़ने और सच्चा मार्ग पकड़ने की पूर्ण तैयारी होती है।^B

→ क्रिया में तत्पर :-

मार्गानुसारिता और तीव्र श्रद्धा के कारण श्रावक मोक्ष प्राप्ति के लिये अपनी भूमिका के अनुरूप सभी क्रियाएं करने में तत्पर होता है। उसकी मान्यता होती है कि, मुझे जो श्रद्धा और बोध है, वे क्रिया द्वारा ही सफल होंगे। मार्ग की श्रद्धा हो और बोध हो, परन्तु यदि मार्ग पर न चला जाए तो इष्ट स्थान पर नहीं पहुंचा जा सकता है, इस बात की उसे पूरी जानकारी होती है। इसलिये मोक्ष मार्ग की उत्तरोत्तर भूमिकाओं को प्राप्त करने के लिये वह विभिन्न प्रकार की शुभ क्रियाओं में तत्पर रहता है।

श्रावक को संसार की क्रियाएं परवश होकर करनी पड़ती है, इसलिये उनमें उसे कोई उत्साह नहीं होता है, जबकि मोक्ष मार्ग की क्रियाओं में उसे जबरदस्त उत्साह होता है।

^Aश्रावक के पास संसार अनर्थभूत है, संयम-चारित्र्य अर्थभूत है और मोक्ष ही परमार्थभूत है, ऐसी तीव्र श्रद्धा होती है। इसलिये उसमें संयम-मोक्ष के स्वरूप को समझानेवाले श्री जिनवचन के प्रति भी तीव्र श्रद्धा होती है। चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती सम्यग्दृष्टि के पास जैसी श्रद्धा होती है, उससे भी तीव्र श्रद्धा देशविरतिधर श्रावक में होती है। क्योंकि, श्रावक को मिथ्यात्व के साथ चारित्र्य मोहनीय का क्षयोपशम भाव प्राप्त होता है। श्रावक की श्रद्धा आंशिक प्रतीतिपूर्वक की होती है। (साधु की श्रद्धा तो श्रावक से भी अधिक प्रतीतिवाली होती है।)

^Bजो असत्य को, उन्मार्ग को और अवधि को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता है, वह प्रज्ञापनीय नहीं होता है। प्रज्ञापनीयता के बिना भावश्रावकता या भावसाधुता नहीं आती है।

क्रिया की तत्परता मार्गानुसारिता का फल है। जिसे मार्गानुसारी परिणति प्राप्त होती है, उसे मार्ग पर प्रगति करानेवाली क्रियाओं का सेवन करने के प्रति तत्परता होगी ही। जिसे मार्ग के प्रति प्रीति होती है और मार्गानुसारी क्रियाओं के प्रति प्रीति न हो, ऐसा कभी नहीं होता है। ऐसा हो तो समझना चाहिये कि मार्ग के प्रति प्रीति सच्ची नहीं है।^A

→ गुणरागी :-

श्रावक के आशय विशुद्ध होते हैं, उसे तत्त्व के प्रति तीव्र राग होता है, वह गुणों का अर्थी होता है। इसलिये वह गुणों का रागी होता है और इसी कारण विविध गुण विकसित करने का कारण बनें, ऐसी क्रियाएं करने में तत्पर होता है। वह समझता है कि मार्गानुसारिता तथा श्रद्धा की प्राप्ति होने के बाद मार्ग पर प्रगति करने के लिये गुणसमृद्धि की बहुत आवश्यकता होती है। इस कारण वह गुणों का रागी होता है और दोषों तथा गुण की नाशक पाप क्रियाओं के प्रति उसे घृणा होती है। उसका शुद्ध पक्षपात मात्र गुणों और गुणप्रापक सद् क्रियाओं के प्रति ही होता है।^B

→ शक्यारंभी :-

श्रावक शक्य आरम्भ से (शुभ प्रवृत्तियों से) युक्त होता है। श्रावक गुणों का अर्थी होता है। सर्वविरति धर्म का इच्छुक होता है। इसलिये ज्ञानादि गुणों और सर्वविरति धर्म जल्दी प्राप्त हो तथा उसमें अवरोधक बननेवाले कर्म जल्दी नष्ट हों, इसके लिये वह शक्य आरम्भ से (शुभ प्रवृत्तियों से) युक्त होता है। इसमें वह प्रमाद नहीं करता है। जिस क्रिया से गुण प्राप्ति, दोष नाश और अवरोधक कर्मों का क्षय हो, ऐसी क्रिया में प्रयत्न करने को शक्यारम्भ अर्थात् शक्य आरम्भ कहा जाता है। साथ ही जिससे गुणों का नाश हो, दोषों का पोषण

^A कदाचित् ऐसे संयोगों के कारण धर्म क्रियाएं न कर सकता हो, तो भी उसका प्रतिबंध तो वहीं होता है और नहीं कर सकने की पीड़ा होती है।

^B साथ ही गुणवान पुरुषों के प्रति अनुराग होता है और उनके प्रति सन्मानभाव-भक्तिभाव होता है।

हो और पाप कर्म मजबूत बनें, ऐसी प्रवृत्तियों में श्रावक प्रवृत्त नहीं रहता है और अपनी शक्ति का प्रामाणिकता से समालोचन करके शक्य में (शुभ प्रवृत्ति में) यथाशक्ति प्रवृत्त हुए बिना नहीं रहता है।

देशचारित्रि श्रावक पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, योगशतक ग्रंथ में पूर्वोक्त छह गुण देशचारित्रि और सर्वचारित्रि दोनों के कहे गये हैं। इसलिये सर्वविरतिधर साधु भगवंत भी पूर्वोक्त छह गुणवाले होते हैं। श्रावकों को चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम अल्प होने से आंशिक पाप की निवृत्ति होती है और साधु भगवंतों में चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम तीव्र होने से संपूर्ण पाप की निवृत्ति होती है। इसलिये साधु भगवंतों में पूर्वोक्त छह गुण अतिशय खिले होते हैं और अधिक दृढ़तावाले होते हैं।

➡ भाव श्रावक के अन्य लिंग :-

उपदेशरहस्य ग्रंथ में देशविरतिधर श्रावक की पहचान करानेवाले अन्य लिंग भी दिये गये हैं। जो इस प्रकार हैं -

पच्चखाणविहाणं जाणंतो थूलपावओ विरओ ।

आणासुद्धे जोगे वट्ठतो देसचारित्ती ॥२४॥

- जो (१) पच्चक्खाण के विधान का जानकार हो, (२) स्थूल पाप से विरत हो - विराम प्राप्त हो और (३) आज्ञा शुद्ध योग में प्रवृत्त हो, वह देशचारित्रि श्रावक कहलाता है।

श्रावक अपने जीवन में स्थूल पापों की निवृत्ति प्रतिज्ञापूर्वक करता है। वह स्थूल पापों का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करनेवाला श्रावक भूतकाल में हुए हिंसादि पापों की निंदा करके उनसे वापसी करता है। वर्तमान काल में स्वयं से होनेवाली संभवित हिंसा का संवरण-निवारण करता है और भविष्य में पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है।

श्रावक में प्रभु की शुद्ध आज्ञा के प्रति तीव्र सन्मान भाव होता है और आज्ञा

करने से जघन्य देशविरति होते हैं। इसलिये शास्त्रों में कहा गया है कि जो जीव (१) आकुट्टि से होनेवाली स्थूल हिंसादि का त्याग करनेवाला, (२) मद्य-मांसादि का त्याग करनेवाला और (३) नमस्कार महामंत्र का जाप करने का नियम धारण करनेवाला होता है, वह जीवात्मा जघन्य श्रावक कहलाता है।

→ मध्यम देशविरति श्रावक :-

“तथा मध्यमा विरतिरक्षुद्रादिभिर्न्यायसंपन्नविभवइत्यादिभिर्वा धर्मयोग्यता-
गुणैराकीर्णस्य गृहस्थोचितषट्कर्मनिरतस्य द्वादशव्रतपालकस्य सदाचारस्य
भवति, यदाह - धम्मजुग्गगुणाइण्णो, छक्कम्मो बारसव्वओ । गिहत्यो य
सयायारो, सावओ होइ मज्झिमो ॥१॥”

[गुणस्थानक क्रमारोहः-२४/टीका]

- जो श्रावक (१) अक्षुद्रतादि २१ गुणों से युक्त है अथवा (२) धर्म की योग्यता प्राप्त करानेवाले मार्गानुसारिता के न्यायसम्पन्नविभवादि ३५ गुणों से सम्पन्न है, (३) गृहस्थ के उचित षट्कर्म में रत है और (४) बारह व्रतों का पालन करनेवाला है तथा सदाचारों से युक्त है, वह मध्यम देशविरति श्रावक होता है। अब क्रमशः २१ गुणों आदि का विचार करते हैं।

⇒ अक्षुद्रतादि २१ गुण :-

मध्यम देशविरतिधर श्रावक अक्षुद्रतादि २१ गुणों से युक्त होता है।^A श्रावक के इन २१ गुणों को अब क्रमशः देखेंगे। (यहां स्मरण रखना चाहिये कि, जो अक्षुद्रतादि २१ गुणों से युक्त होता है, वह धर्मपालन में समर्थ बनता है और जो देशविरति या सर्वविरति धर्म को अंगीकार करता है, वह इन गुणों से युक्त होना चाहिये।)

^Aअक्षुद्रतादि २१ गुण धर्मरत्न को प्राप्त करने की योग्यता के गुण हैं, ऐसा धर्मरत्न प्रकरण में कहा गया है। यहां धर्म से सर्वविरति और देशविरति दोनों प्राप्त करने हैं। देशविरतिधर श्रावक में यह २१ गुण होते हैं। सर्वविरतिधर में यही २१ गुण अतिशय खिले हुए होते हैं।

(१) अक्षुद्र :

तत्राक्षुद्रोऽनुत्तानमतिः १। श्रावक अक्षुद्र अर्थात् अनुत्तान मतिवाला होता है। अर्थात् तुच्छ मतिवाला नहीं होता है, अगंभीर नहीं होता है, निज-पर का उपकार करने में समर्थ अक्षुद्र-गंभीर होता है। श्रावक दूसरों के दोषों को पचानेवाला होता है। वह किसी के दोषों को देखकर उनका प्रचार नहीं करता है। उसकी दूसरों पर उपकार का भार लादने की वृत्ति नहीं होती है, बल्कि उसका कल्याण हो ऐसा आशय होता है। वह किसी के उत्कर्ष की ईर्ष्या या किसी के गुणों में दोषारोपण करने के रूप में असूया नहीं रखता है। इसके अलावा सूक्ष्मदर्शी होता है अर्थात् सूक्ष्म बातों को समझता है और कोई कार्य हित-अहित का विचार करके ही करता है। अल्प बुद्धि से कोई निर्णय नहीं करता है। इससे उसका कोई भी कार्य निज-पर के लिये उपकारक बनता है। इस गुण से श्रावक देशविरति धर्म के योग्य बनता है।

(२) रूपवान् :-

रूपवान् प्रशस्त रूपः स्पष्टपंचेन्द्रिय इत्यर्थः २। - रूपवाला अर्थात् परिपूर्ण पांच इन्द्रियवाला होता है - अखंडित अंगवाला होता है। परिपूर्ण अंगवाला जीवात्मा ही धर्म करने में समर्थ बन सकता है।

(३) सौम्य प्रकृतिवान् :-

प्रकृतिसोमः स्वभावतोऽपापकर्मा ३। - श्रावक स्वभाव से ही पापकार्यों से दूर रहनेवाला होने से सौम्य स्वभाववाला होता है। स्वभाव से शांत प्रकृतिवाला जीवात्मा प्रायः पाप से भरे कार्यों में प्रवर्तमान नहीं होता है और इसलिये सौम्य आकृतिवाला वह सभी के विश्वास का धाम बनता है और दूसरों को शांति देनेवाला बनता है। श्रावक के कषाय शांत हो चुके होते हैं और उसमें विषयों की आसक्ति नहीं होती है। कषायाधीनता और विषयासक्ति टलने के कारण वह शांत स्वभाववाला, निर्लोभी, निष्कपटी और मृदु होता है। इससे वह सभी को शांति प्रदान करनेवाला बनता है। श्रावक के हृदय में सत्ता-पदादि की महत्त्वाकांक्षा रमण

(५) अक्रूर :-

अक्रूरोऽक्लिष्टचित्तः ५। - श्रावक का मन अक्रूर होता है अर्थात् मन में मत्सरादि क्लिष्ट भाव नहीं होते हैं। जिसका मन क्लिष्ट भावों से रहित होता है, वही शुद्धधर्म के लिये योग्य होता है।^२ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, प्रद्वेष (अन्य के प्रति तीव्र डंख), क्रूरता, वक्रता, तीव्र मूर्च्छा, निर्ध्वंसता, कपट वृत्ति आदि मन के क्लिष्ट भाव हैं। श्रावक में कषायों का अच्छा क्षयोपशम होने से और उसका मन मैत्री आदि भावनाओं से परिप्लावित होने से उसमें मत्सरादि क्लिष्ट भाव नहीं होते हैं। इससे वह देशविरति धर्म के पालन के लिये समर्थ बनता है।

(६) भीरू :-

भीरूरैहिकामुष्मिकापायभीलुकः ६। - श्रावक आलोक तथा परलोक के अपाय (नुकसान) से भयभीत होता है।

जो आलोक और परलोक के संकटों-दुःखों का विचार करके पापकार्यों में प्रवृत्त नहीं होता है और अपयश के कलंक से डरता है, वह भीरू कहलाता है और भीरू आत्मा ही धर्म करने के योग्य होती है।^३ भीरू आत्मा लगातार पाप से और पाप से मिलनेवाली दुर्गति से डरती है। **भीरू आत्मा का एक ही ध्येय होता है कि,** अतिशय दुर्लभ मनुष्य जन्म व्यर्थ न चला जाए और भविष्य अंधकारमय न हो जाए तथा दुर्गतियों की परम्परा उत्पन्न न हो जाए।

(७) अशठ :-

अशठः परावंचकः ७। - श्रावक कभी दूसरों को ठगता नहीं है। जो दूसरों को ठगता नहीं है, अन्य के विश्वास का दुरुपयोग नहीं करता है, निष्कपट भाव रखता है, हृदय में तथा बोलने में विसंवाद धारण नहीं करता है, स्वदोष के आच्छादन के लिये पाखंड नहीं करता है, वह अशठ होता है और वही धर्म करने के योग्य होता है। अशठ व्यक्ति ही स्वस्थतापूर्वक भावपूर्वक धर्म का उद्यम कर सकता है। शास्त्रों में कहा गया है कि, कपटी मनुष्य यदि

कोई अपराध न भी करता हो, तो भी अपने इस दोष के बल से सर्प की भांति हमेशा विश्वास करने योग्य नहीं बनता है।⁴

(८) सुदाक्षिण्य :-

सुदाक्षिण्यः प्रार्थनाभंगभीरुरिति ८। - श्रावक सुदाक्षिण्यता गुणवाला होता है। सुदाक्षिण्य अर्थात् किसी की भी प्रार्थना (मांग) को भंग करने से डरता है। सुदाक्षिण्यता गुणवाला श्रावक किसी भी व्यक्ति की मांग या किसी के भी कार्य को अच्छी तरह से करता है, उसे नकारता नहीं है। वह अपने स्वार्थ-कार्य को गौण करके भी दूसरों पर उपकार करता रहता है। इससे उसका वाक्य सभी लोग मान्य रखते हैं और सब उसका अनुसरण करते हैं। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, इस गुणवाला श्रावक अन्य के परलोक के हित के विषय में ही उपकार करने के लिये तत्पर होता है। परन्तु अन्य के पाप के कार्यों में उपकार करने के लिये तत्पर नहीं होता है। यह दर्शाने के लिये ही 'दाक्षिण्य' के आगे 'सु' शब्द रखा गया है।⁵ संक्षेप में किसी भी स्वार्थ के बिना दूसरे का परलोक हितकारी कार्य कर देना 'सुदाक्षिण्यता' है।

(९) लज्जावान् :- लज्जालुरकार्यवर्जकः ९।

श्रावक 'लज्जा' गुणवाला होता है। अकार्य करने में लज्जा का अनुभव करता है और अकार्यों का त्याग करता है, उसे 'लज्जावान्' कहा जाता है। लज्जावान् पुरुष छोटे से छोटे अकार्य को (अपनी भूमिका में कलंक लगाए और आगे की भूमिका की प्राप्ति में अवरोधक बने ऐसे अकार्य को) दूर से ही त्याग देता है और इसलिये वह हमेशा सदाचार का आचरण करता है और स्वीकृत नियम-अभिग्रह-व्रतों को कभी नहीं छोड़ता है।⁶

(१०) दयालु :- दयालुः सत्त्वानुकंपकः १०। -

श्रावक दयालु होता है अर्थात् जीवात्माओं पर अनुकंपा रखता है। श्रावक छोटे-बड़े सभी जीवात्माओं के प्रति हृदय में दया धारण करता है। उसे किसी को

भी दुःख देना पसंद नहीं आता है। इसलिये जयणा के पालनपूर्वक धर्म करता है और निंदादि के त्यागपूर्वक जीवात्माओं के प्रति मैत्री आदि विशुद्ध भाव मन में धारण करता है।

दया धर्म का मूल है। श्री जिनेश्वर के शासन में सभी अनुष्ठानों को दया के अनुकूल ही बताया गया है। (इसलिये देशविरति या सर्वविरति धर्म की प्राप्ति करनी हो, उसे दयालु बनना ही होता है।) इसलिये यहां दयालुता की मांग की गई है। 'दया' ही परम धर्म है। श्री तीर्थंकर परमात्मा ने 'दया' की रक्षा के लिये ही सभी व्रत-नियमादि बताये हैं। (यतोऽस्या एव रक्षार्थं शेषव्रतानि) इसलिये परम पवित्र कल्पसूत्र में कहा गया है कि, दयारूपी नदी के किनारे धर्म रूपी बीज का अंकुर विकसित होता है।

हिंसा जैसा कोई भयंकर पाप नहीं और दया जैसा कोई धर्म नहीं। क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा को अपने प्राण अति प्रिय होते हैं और उससे वियोग कोई नहीं चाहता। हिंसा से जीवात्माओं के प्राणों का नाश होता है। यह हिंसा जीवात्माओं के लिये भयंकर दुःख में परिणत होती है, इसलिये उसके जैसा भयंकर कोई पाप नहीं है और जीवात्माओं के प्राणों की रक्षा से जीवात्माओं को परम शांता प्राप्त होती है, जो उनके लिये सुख में परिणत होती है, इसलिये उसके जैसा कोई धर्म नहीं।

जीवात्माओं के इन्द्रियादि द्रव्य प्राणों का नाश करना **द्रव्यहिंसा** है और ज्ञानादि भाव प्राणों का नाश करना **भाव हिंसा** है। द्रव्य प्राणों की रक्षा करना **द्रव्य दया** है और भाव प्राणों की रक्षा करना **भावदया** है। **भावदया श्रेष्ठ है। इसका कारण द्रव्यदया है। इसलिये वह भी अवश्य ही आदरणीय है।** श्रावक का हृदय भावदया से भावित होता है। इसलिये वह जीवात्माओं के विषय में दोनों प्रकार की दया धारण करता है। किसी के प्राण हरना या किसी की निंदादि करना हिंसा के ही प्रकार हैं। इन सभी का त्याग हो तो ही तात्त्विक कोटि की दया प्राप्त हो सकती है।

(११) मध्यस्थ :-

मध्यस्थो रागद्वेषरहितोऽत एवासौ सोमदृष्टिर्यथावस्थितविचारवित्त्वात् दूरं दोषत्यागी ११। - श्रावक राग-द्वेष रहित मध्यस्थ होता है, इसलिये सौम्य दृष्टि अर्थात् यथावस्थित रूप से (जिस ढंग से विचार करना हो उस ढंग से) धर्म का विचार करता होने से दोष को दूर करनेवाला होता है। (यहां मध्यस्थ और सौम्यदृष्टि इन दो पदों से एक ही गुण समझना है।) मध्यस्थ सौम्य दृष्टिवाला पुरुष सच्चे धार्मिक विचार को सुन सकता है और गुणों के साथ जुड़कर दोषों का त्याग कर सकता है।^१ मध्यस्थ अर्थात् किसी भी दर्शन में पक्षपात रहित और प्रद्वेष नहीं होने से तत्त्व को देखने की सौम्य दृष्टि हो वह मध्यस्थ सौम्यदृष्टिवाला जीवात्मा धर्म को अच्छे ढंग से सुन सकता है और सार-सारहीनता को पकड़ सकता है। इससे गुणों को स्वीकार करने और दोषों का त्याग करने के लिये समर्थ बनता है और इसलिये धर्म करने के लिए योग्य बनता है।

धर्म-के रहस्यों को पाने के लिये धर्म का श्रवण आवश्यक है। तत्त्वजिज्ञासा-शुश्रूषापूर्वक धर्मश्रवण किया जाए तो इससे हेय-उपादेय तत्त्वों का विवेक प्राप्त होता है। हालांकि, शुश्रूषापूर्वक धर्म श्रवण के समय मध्यस्थता रखना अत्यंत आवश्यक है। मध्यस्थता हो तो ही तत्त्व का यथावस्थित विचार किया जा सकता है और सत्य-असत्य के निर्णय पर आया जा सकता है। साथ ही साथ सत्य-गुण को स्वीकार करना और असत्य-दोष का त्याग करना संभव होता है।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, सत्य-असत्य का निर्णय करने में मध्यस्थता रखनी है। परन्तु एक बार सत्य-असत्य का निर्णय हो जाने के बाद सत्य को स्वीकार और असत्य का त्याग करना होता है। इसमें मध्यस्थता नहीं चलती है। जैसे न्यायाधीश पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों को सुनता है, तब मध्यस्थ रहता है। परन्तु फैसला सुनाता है तब दोनों में से एक को सत्य-निर्दोष और दूसरे को असत्य-दोषी के तौर पर स्पष्ट रूप से घोषित करता है। वैसे ही यहां भी तत्त्व निर्णय के लिये पक्षपात रहित बनकर मध्यस्थ रहना है। परन्तु तत्त्व-अतत्त्व का

निर्णय हो जाने के बाद गुण का स्वीकार और दोष का त्याग करते समय मात्र और मात्र तत्त्व (सत्य) का ही अनुसरण करना है।

(१२) गुणरागी :-

गुणरागी गुणपक्षपाती १२। - श्रावक गुणों का रागी अर्थात् गुणों का पक्षपाती (गुणों की ओर ढलनेवाला) होता है।

श्रावक गुणों का अर्थी होता है। अपनी मोक्ष यात्रा को वेगवान बनाने के लिये गुणसमृद्धि की कदम-कदम पर जरूरत पड़ती है, यह उसे ज्ञात होता है। इसलिये गुणसमृद्धि को प्राप्त करने के लिये गुणों का पक्षपात रखता है, गुणवान् पुरुषों का सन्मान करता है, निर्गुणियों की निंदा नहीं करता है बल्कि उनकी उपेक्षा करता है, गुणों का संग्रह करने में तत्पर रहता है और प्राप्त गुणों को मलीन नहीं होने देता है।^९

श्रावक का मन संक्लिष्ट नहीं होता है। इसलिये वह गुणवान के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नहीं रखता है और निर्गुणियों की भी निंदादि नहीं करता है, बल्कि उपेक्षा करता है, किसी के विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों का गान करने या सुनने से हमें कोई गुण प्राप्त नहीं होता है, दोषों का गान करने से वैर की वृद्धि होती है और सुनने से कुबुद्धि आती है। इसलिये श्रावक किसी के दोषों का गान नहीं करता है और न ही सुनता है।

(१३) सत्कथक :-

सती धर्मकथाभीष्टा यस्य सः सत्कथः १३। - श्रावक अच्छी कथा-धर्मकथा जिसे अभीष्ट हो उसे कहता है। श्रावक जिससे धर्म-विवेक प्राप्त हो ऐसी श्री तीर्थकरादि महापुरुषों के चरित्रों की बात करता है, परन्तु जिससे विवेक का नाश हो और विषयासक्ति तथा कषाय-नोकषाय बढ़ते हों, ऐसी बातें नहीं करता है। धर्मरत्न प्रकरण में कहा गया है कि, अशुभ कथा के प्रसंग से मन मलीन होता है और उससे विवेकरत्न का नाश होता है। धर्म तो विवेक

प्रधान है। इसलिये धर्मार्थी जीवात्मा को सत्कथक (अच्छी कथा कहनेवाला) बनना चाहिये।¹⁰

वचनयोग और श्रवणयोग दोनों आत्मा में गहरा असर छोड़ते हैं। इन दोनों में आत्मस्थ विषय-कषाय के संस्कारों को जागृत-उत्तेजित करने की शक्ति होती है। इसके अलावा विवेक-अविवेक की प्राप्ति में भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिये आत्मस्थ कुसंस्कारों को उत्तेजित न होने देना हो और उनका अंदर ही अंदर नाश करना हो तथा अविवेक को तिलांजलि देकर विवेक को उजागर करना हो, तो उस साधक को दोनों योगों को शुभ बनाना चाहिये।

(१४) सुपक्षयुक्त :-

सुपक्षयुक्तः सुशीलानुकूलपरिवारोपेतः १४। - श्रावक सुशील (सदाचार से युक्त) और धर्म में अवरोध पैदा न करे, ऐसे अनुकूल परिवारवाला होता है। जिसका परिवार अनुकूल और धर्मशील-सदाचारयुक्त हो, वह पुरुष सुपक्ष कहलाता है और सुपक्षयुक्त पुरुष निर्विघ्न धर्म कर सकता है।¹¹

(१५) सुदीर्घदर्शी :-

सुदीर्घदर्शी सुपर्यालोचितपरिणामसुंदरकार्यकारी १५। - श्रावक अच्छे से विचार करके परिणामतः सुंदर हों, ऐसे कार्य करता है। जिसमें कार्य के परिणाम का पर्याप्त विचार किया जाता है, वह सुदीर्घदर्शिता होती है। श्रावक गंभीर होता है, इसलिये निज-पर के हित को ध्यान में रखकर परिणामतः सुंदर हों, ऐसे कार्य करता है। वर्तमान में तत्काल लाभदायी दिखनेवाले कार्य भी परिणामतः नुकसानकारक हों तो ऐसे कार्य श्रावक नहीं करता है। **धर्मरत्न प्रकरण में कहा गया है कि,** दीर्घदर्शी पुरुष जो कार्य परिणामतः सुंदर हों, बहु लाभदायी और अल्प क्लेशवाला हों तथा अनेक लोगों की प्रशंसा योग्य हों वे ही कार्य शुरू करता है।¹²

(१६) विशेषज्ञ :-

विशेषज्ञोऽपक्षपातित्वेन गुणदोषविशेषवेदीति १६। - श्रावक अपक्षपाति होने के कारण गुण-दोषों की विशेषताओं को जानता है। विशेषज्ञ पुरुष अपक्षपाति होने के कारण किसी भी वस्तु या किसी भी कार्य के गुण-दोष को जान सकता है। इस कारण विशेषज्ञ पुरुष उत्तम धर्म के योग्य है।¹³

श्रावक सत्य का आग्रही होता है। इसलिये पक्षपात रहित होता है। वह अपक्षपाती होने के कारण किसी भी विषय में गुणों को दोषरूप में या दोषों को गुणरूप में मानने की भूल नहीं करता है और ऐसा आग्रह भी उसमें नहीं होता है। पक्षपाती व्यक्ति किसी के गुण-दोष की सच्ची परीक्षा नहीं कर सकता है। दुराग्रह के चश्मे पहनकर वस्तु को देखा जाए तब अनेक गुणवाली वस्तु में दोष ही दिखाई देते हैं और अनेक दोषोंवाली वस्तु में गुण ही दिखाई देते हैं। इस कारण गुणयुक्त वस्तु को स्वीकार करना और दोषयुक्त वस्तु का त्याग करना संभव नहीं होता है। इसलिये विशेषज्ञ ही धर्म को स्वीकार करने से पहले वस्तु की परीक्षा कर सकता है। अतः विशेषज्ञ ही धर्म के लिये योग्य होता है।

(१७) वृद्धानुग :-

वृद्धानुगः परिणतमतिपुरुषसेवकः १७। - श्रावक वृद्ध पुरुषों का अनुसरण करता है। अर्थात् परिणतबुद्धिवाले पुरुषों का अनुकरणकर्ता होता है। उनके कथनानुसार जीनेवाला होता है।

वृद्ध पुरुष परिणत ज्ञानी होने से पापाचार में प्रवृत्त नहीं होते हैं। उन वृद्धपुरुषों का अनुसरण करनेवाले भी पापाचार में (पापाचरण में) प्रवृत्त नहीं होंगे। क्योंकि संग के अनुसार गुण आते हैं।¹⁴ धर्मरत्न प्रकरण की टीका में तप, श्रुत, धैर्य, ध्यान, विवेक, यम और संयम से जो वृद्ध (समृद्ध) हों, उन्हें वृद्ध कहा गया है। उम्र से वृद्ध हो, उन्हें नहीं। जीवात्मा आलंबनवासी है। उसे जैसा

गुण-दोषवाला आलंबन मिलेगा, वैसे ही गुण-दोषवाला उसका जीवन बनेगा। इसलिये श्रावक अपने व्रतों की रक्षार्थ तप-ज्ञान-संयमादि से समृद्ध वृद्धपुरुषों के सान्निध्य में रहना पसंद करता है।

(१८) विनीत :-

विनीतो गुणाधिकेषु गौरवकृत् १८। - श्रावक विनीत होता है अर्थात् अधिक गुणवालों के विषय में गौरव करनेवाला होता है - सन्मान देनेवाला होता है।

विनय सम्यग्ज्ञानादि सभी गुणों का मूल है और ज्ञानादि गुण ही सुख का मूल हैं। इसीलिये धर्म की योग्यता के विषय में विनीत को प्रशस्त माना गया है¹⁵ अर्थात् जो विनय गुणवाला होता है वही धर्म के लिये योग्य होता है और धर्म के फल को प्राप्त कर सकता है। जिसके द्वारा विशेषकर आठ कर्म दूर होते हैं - नष्ट होते हैं, उसे विनय कहा जाता है। श्रावक विनय गुण से युक्त होता है।

(१९) कृतज्ञ :-

कृतज्ञः परोपकाराविस्मारकः १९। - श्रावक कृतज्ञ होता है अर्थात् दूसरों का किया उपकार वह भूलता नहीं है।

कृतज्ञी पुरुष धर्मगुरु आदि को परमार्थ बुद्धि से परमोपकारी मानकर उन्हें सन्मान देता है। इससे गुणों की वृद्धि होती है। इसलिये कृतज्ञ ही अन्य गुण प्राप्त करने के लिये योग्य माना जाता है।¹⁶ कृतज्ञता गुण योग्यता का पैरामीटर है। कृतज्ञी पर सभी जीवात्मा उपकार करने के लिये तैयार होते हैं। क्योंकि वह कृतघ्नी नहीं बनेगा, यह उन्हें पता होता है।

(२०) परहितार्थकारी-परहित करनेवाला :-

परहितार्थकारी निरीहः सन् परार्थकृत् २०। - श्रावक पर हितार्थकारी अर्थात् निःस्वार्थभाव से अन्य के काम करनेवाले होते हैं।

सुदाक्षिण्यता और परहितार्थकारिता, इन दोनों गुणों में अंतर है। 'सुदाक्षिण्यता' गुण में जब सामनेवाला व्यक्ति मांग करे अथवा इच्छा दर्शाए तब उसका काम करने की सौजन्यता होती है। जबकि 'परहितार्थकारिता' गुण में अन्य व्यक्ति की मांग न हो-इच्छा न हो तो भी स्वयं सामने से उसका काम करने का उल्लास होता है।

संक्षेप में, श्रावक परोपकारी होता है। उसे पता होता है कि, मुझे मोक्षमार्ग पर लंबी यात्रा करनी है। इस मार्ग पर अनेक गुणवान लोगों का उपकार लेकर आगे बढ़ना है। मुझे भविष्य में उपकारीजन मिलते रहें और मेरा सब कुछ सानुबंध बने, इसलिये श्रावक निःस्वार्थभाव से (मान-सन्मान, सत्ता-पद आदि के स्वार्थ के बिना) परोपकार करता रहता है। परोपकार धार्मिक योगों को सानुबंध बनाने का श्रेष्ठ कार्य करते हैं। **धर्मरत्न प्रकरण में कहा गया है कि**, दूसरे लोगों का हित करने के लिये तत्पर रहनेवाला पुरुष धन्य है। क्योंकि वह धर्म के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह से समझता है, इसलिये निःस्पृह महासत्त्ववाला रहकर अन्य जीवात्माओं को भी इस मार्ग पर लाता है।¹⁷

(२१) लब्धलक्ष्य-सुशिक्षणीय :-

लब्ध इव-प्राप्त इव लक्ष्यो लक्षणीयो धर्मानुष्ठान व्यवहारयोगेन स लब्धलक्ष्यः- सुशिक्षणीयः २१। - श्रावक जानने योग्य (लक्ष्यभूत) धर्मानुष्ठानों के व्यवहारों से परिचित होता है अर्थात् श्रावक बुद्धिमान होता है, इसलिये उसे सुखपूर्वक धार्मिक व्यवहार सिखाए जा सकते हैं।

श्रावक के कर्म सामान्य (हलके) होते हैं। इसलिये उसे जो भी समझाना हो, वह जल्दी से समझाया जा सकता है। वह जल्दी से प्रशिक्षित हो जाता है। धर्मरत्न प्रकरण में कहा गया है कि, लब्धलक्ष्य पुरुष सुखपूर्वक समस्त धार्मिक कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह दक्ष होने से जल्दी से सब कुछ सीख लेता है।¹⁸

इस प्रकार श्रावक २१ गुणों से सम्पन्न होता है। विस्तारभय से प्रत्येक गुण की विस्तृत विवेचना नहीं की है। इस विषय में विस्तृत ज्ञान अन्य स्रोतों से प्राप्त कर लें। इन गुणों से श्रावक देशविरति धर्म को परिणत बनाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

इसी प्रकार श्रावक मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से भी सम्पन्न होता है। हालांकि यह ३५ गुण गृहस्थ के सामान्य धर्म स्वरूप होते हैं। ये प्रथम गुणस्थानक में मार्गानुसारिता में प्राप्त होते हैं। फिर भी यही गुण आगे की भूमिका में क्रमशः अधिक खिल जाते हैं। इसलिये श्रावक भी इन ३५ गुणों से सम्पन्न होता है। इन गुणों को अब धर्मबिन्दु ग्रंथ के आधार पर क्रमशः समझेंगे।

► मार्गानुसारिता के ३५ गुण^{१९} :-

श्रावक अक्षुद्रादि इक्कीस गुण अथवा न्यायसंपन्नविभवादि मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से युक्त होता है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, श्रावक या तो इन गुणों से युक्त होता है अथवा जिनवाणी के श्रवण से इन गुणों को प्राप्त करने की आंतरिक परिणति-योग्यतावाला होता है। दूसरी एक बात खास ध्यान रखनी चाहिये कि, मार्गानुसारिता के ३५ गुण गृहस्थ के सामान्य धार्मिक कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों में गृहस्थ अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो प्रयत्न करता है, उन प्रयत्नों में वह पाप का भार न बढ़ाए और धार्मिक भूमिकाओं को प्राप्त करता जाए, इस विषय का उपदेश दिया गया है। श्रावक की अविरति की क्रियाओं का उपदेश शास्त्रकार या प्रवचनकार कभी नहीं देते हैं, बल्कि वे तो अविरति की क्रियाओं का हेय रूप में वर्णन करके उन्हें त्यागने का ही उपदेश देते हैं। इसके बावजूद कर्मवश श्रावक के जीवन में अविरति की जो भी क्रियाएं होती हैं, उनमें से वह अनीति-हिंसा आदि के भयंकर पापों से कैसे बचे, इस विषय में उपदेश जरूर देते हैं। मार्गानुसारिता के गुणों के वर्णन में गृहस्थ

को जो प्राप्त न हुआ हो, ग्रंथकार का उसी के लिये विधान कराने का आशय होता है। जैसे कि, “न्यायसम्पन्नविभव” नामक प्रथम गुण में शास्त्रकारों का आशय विभव (धन) में ‘न्याय संपन्नता’ बताना है। गृहस्थ जीवन-निर्वाहार्थ धन कमाने के लिये तो जाएगा ही। वह तो उसे प्राप्त होगा ही। परन्तु पाप से बचने के लिये “न्याय-नीति का पालन करना चाहिये” यह उसे पता नहीं होता है - यह अप्राप्त है, इस अप्राप्त वस्तु का विधान ग्रंथकार करते हैं। प्रतिमा शतक ग्रंथ में इस विषय को स्पष्ट करने के लिये एक न्याय दिया गया है। (इसका विश्लेषण टिप्पणक-२१ में देखने की सलाह है।) अब क्रमशः संक्षेप में ३५ गुणों की चर्चा करेंगे।

(१) न्यायसंपन्नविभव :-

श्रावक न्याय-नीतिपूर्वक कुलक्रम से प्राप्त अनिन्दनीय व्यापारादि से धन प्राप्त करे। यहां न्याय-नीति का पालन, निन्दनीय व्यवसायों का त्याग आदि मार्गानुसारी का धर्म है। श्रावक धन को खराब-सारहीन ही माने। इसके बावजूद कर्म योग से संसार में होने से जीवन-निर्वाह के लिये उसे प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करे तब न्याय-नीति आदि का पालन करे। लोभादि कषाय समाप्त होने पर ही यह गुण जीवन में आ सकता है। न्याय-नीति से प्राप्त धन-वैभव से आलोक-परलोक दोनों सुधरते हैं। धर्म में भी न्याय-नीति का धन खर्च किया जाए तो ही उत्तम लाभ प्राप्त होता है। न्याय-नीति का पालन आत्मा को पाप के भार से मुक्त रखने-करने के लिये करना होता है। किन्तु व्यवसाय की साख बढ़ाने के लिये नहीं।

(२) उचित विवाह :-

समान कुल-शील और भिन्न गोत्रवाले पात्र के साथ विवाह करना चाहिये। यहां विवाह का विधान नहीं है। श्रावक सर्वविरति के लक्ष्यवाला होता है। इसके बावजूद सर्वविरति धर्म को स्वीकार करने का सामर्थ्य न हो, अविरति कर्म बाधक हो, तो बड़े अनर्थों के निवारण के लिये विवाह करना है। इसमें उसके धार्मिक संस्कारों का रक्षण हो और भविष्य में अविरति-संसार की कलण से बाहर निकल सके, इसलिये विवाह में औचित्य बताया गया है।

(३) दृष्ट और अदृष्ट उपद्रवों का भय रखना चाहिये :-

दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष दिखनेवाले और अदृष्ट अर्थात् अनुमान तथा आगम से पहचाना जाता हो वे अदृष्ट, इन दोनों का भय रखना चाहिये, यह गृहस्थ का सामान्य धर्म है। भय रखने से ही इन उपद्रवों के कारणों का त्याग करना संभव होता है। अन्याय से व्यवहार करना, जुआ खेलना, परस्त्रीगमन करना आदि दृष्ट उपद्रवों के कारण हैं। मांस भक्षण-मदिरापान आदि अदृष्ट उपद्रवों के कारण हैं। इन कारणों से नर्कादि में रौरव दुःख प्राप्त होते हैं। इसलिये दृष्ट-अदृष्ट उपद्रवों के कारणों से दूर रहना चाहिये।

(४) शिष्टाचारों की प्रशंसा :-

शिष्ट पुरुषों के लोकापवादभीरुत्व आदि सदाचारों की प्रशंसा करनी चाहिये। सदाचारों का वर्णन पूर्व में 'योग-पूर्वसेवा' प्रकरण में किया जा चुका है। शिष्टाचारों की प्रशंसा से गुणानुराग, गुणपक्षपात, गुणाकांक्षा, गुण-सन्मान, गुणवान का सन्मान होता है। इससे गुणप्राप्ति के द्वार खुल जाते हैं।

(५) इन्द्रियविजय :-

अरिषड्वर्गत्यागेनाविरुद्धार्थप्रतिपत्त्येन्द्रियजयः । - कामादि छह आंतरिक शत्रुओं के वर्ग के त्यागपूर्वक अविरुद्ध अर्थ (विषय) को स्वीकार करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। काम, क्रोध, अभिमान, लोभ, मद और हर्ष यह छह शिष्ट-गृहस्थों के लिये आंतरिक शत्रुओं का वर्ग है। इनका त्याग करना चाहिये। गृहस्थ अविरति से विराम नहीं पा सका है। उसका ध्येय तो वही है। इसके बावजूद जब कर्म प्रवृत्ति करवाता है तो धर्म और अर्थ पुरुषार्थ में बाधा न पहुंचे, इस प्रकार से रूप आदि विषयों में प्रवृत्ति करता है। यहां विषयों में अत्यंत आसक्ति के परिहारपूर्वक इन्द्रियों का निरोध करना ही इन्द्रिय-विजय है।

(६) उपद्रववाले स्थानों का त्याग करना :-

ग्राम-नगर आदि में श्रावक का स्थान स्वराज्य-परराज्य से उपद्रवित हो, दुष्काल

आदि से त्रस्त हो तथा जनविरोध आदि से अस्वस्थ हो, तो उस स्थान का त्याग करना चाहिये। ऐसा नहीं करने से धर्मादि पुरुषार्थ खंडित हो जाते हैं और इससे अनर्थ होता है।

(७) योग्य पुरुष का आश्रय :-

श्रावक को धर्म आदि में लाभ हो, ऐसे सुयोग्य पुरुष के आश्रय में रहना चाहिये। जैसे मूलरहित वृक्षों के विषय में किया गया प्रयत्न विफल हो जाता है, वैसे ही असमर्थ पुरुष का आश्रय लेने से लाभ के स्थान पर हानि होती है। इसलिये धार्मिक कुलाचार और उत्तम कुल से विशुद्ध, प्रतापी और न्यायी पुरुषों का ही आश्रय लेना चाहिये।

(८) उत्तम-सदाचारी पुरुषों का स्वीकार करना चाहिये :-

श्रावक को प्रधान और सदाचारी पुरुषों को ही स्वीकार करना चाहिये। प्रधान अर्थात् सुकुल के गुणों से युक्त और सौजन्य, दाक्षिण्य, कृतज्ञता आदि गुणों से उत्तम, सदाचार के आग्रहवाले पुरुष को साधु-श्रेष्ठ कहा जाता है। ऐसे पुरुष को स्वीकार करना चाहिये। क्षुद्र और असदाचारी पुरुष सर्पयुक्त आश्रय की भांति स्वीकार करने योग्य नहीं होते हैं। **यद्यपि आपने जीवन में किसे स्वीकार किया है, इसी आधार पर आप सदाचारी हैं या असदाचारी हैं, इसका अनुमान लगाया जाता है।** गुणवान पुरुषों को जीवन में स्वीकार करने से जगत में 'गुणवान' के रूप में यश प्राप्त होता है और असदाचारी पुरुषों को स्वीकार करने से जगत में 'असदाचारी' होने का अपयश प्राप्त होता है। गुणार्थी श्रावक भौतिक अनुकूलताओं का विचार करके किसी का संग नहीं करता है, बल्कि आध्यात्मिक विकास के अवसरों का विचार करके, वह अवसर जहां से प्राप्त होने की संभावना होती है, ऐसे ही लोगों का संग स्वीकार करता है।

(९) उचित घर :-

श्रावक का घर उचित स्थान पर होना चाहिये। अतिशय प्रकट और

अतिशय गुप्त तथा अयोग्य (व्यसनी) पड़ोसियोंवाला स्थान अनुचित स्थान माना गया है। ऐसे स्थान पर घर रखने से परिवार में अनेक प्रकार के दूषण प्रवेश कर जाते हैं। स्त्रीवर्ग के शील आदि पर जोखिम बना रहता है। चोर आदि का भी भय बना रहता है। **संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति ।** संसर्ग से गुण-दोष उत्पन्न होते हैं अर्थात् संसर्ग के कारण गुण-दोष उत्पन्न होते हैं। **उत्तम स्थान पर निवास करने से और उत्तम व्यक्तियों से परिचय रखने से गुणों की प्राप्ति होती है और अनुचित स्थान पर निवास से तथा असदाचारी व्यक्तियों का संग करने से दोष प्राप्त होते हैं।** इसलिये श्रावक को अनुचित स्थान का त्याग करना चाहिये।

(१०) वैभव के अनुरूप वेष :-

श्रावक को अपने वैभव के अनुरूप वेष धारण करना चाहिये, जिससे लोगों की ओर से किये जानेवाले उपहास आदि से बचा जा सके और अपने कुल तथा धर्म से विरुद्ध हो, ऐसे वेष का त्याग करना चाहिये। वेषभूषा देखकर अन्य लोगों के मन में काम-विकार के भाव उत्पन्न हों, सद्गृहस्थ को ऐसा अभद्र वेष धारण नहीं करना चाहिये और उसका त्याग करना चाहिये।

(११) आय के अनुसार व्यय करना :-

सद्गृहस्थ को आय के अनुसार ही व्यय करना चाहिये। व्यय अर्थात् पोष्यवर्ग का पोषण करना, अपना उपभोग, देवपूजा-अतिथिपूजा आदि कार्यों में धन का विनियोग करना जैसे रोग शरीर को कमजोर कर देता है, वैसे ही आय का अनुचित व्यय, पुरुष को सभी प्रकार के व्यवहारों में असमर्थ बना देता है। इसलिये आय के अनुसार ही व्यय करने से आर्त्तध्यान नहीं होता है और धर्म का भी अच्छे से पालन होता है।

(१२) प्रसिद्ध देशाचार का पालन :-

शिष्ट पुरुषों की सहमति से लंबे काल से रूढ़ हुए देश के आचार अर्थात्

भोजन और वस्त्र आदि की विविध परम्परागत क्रिया रूपी लोक-व्यवहारों का पालन करना चाहिये। प्रसिद्ध देशाचारों का उल्लंघन करने से उस देश के लोगों द्वारा विरोध किये जाने की संभावना रहती है और इससे अनर्थ होता है। इसलिये प्रसिद्ध देशाचारों का (जो धर्म से विरुद्ध न हो, उसका) पालन करना चाहिये।

(१३) निन्दनीय प्रवृत्तियाँ बिल्कुल न करें :- लोगों में तथा लोकोत्तर शासन में जो मांसाहार, परस्त्रीगमन आदि अनादरणीय और निन्दनीय प्रवृत्तियाँ मानी जाती हैं, ऐसी सभी प्रवृत्तियों का संपूर्ण त्याग करना चाहिये। ऐसी निन्दनीय प्रवृत्तियों से सदाचार नहीं टिकता है और अपयश मिलता है। उनसे आचार शुद्धि नहीं हो सकती है और धर्मारोधना में स्वस्थतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती है।

(१४) सभी की निंदा का त्याग :- जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, इस प्रकार किसी भी जीवात्मा की निंदा नहीं करनी चाहिये। इसमें भी अनेक लोगों में मान्य-स्वीकृत राजा-अमात्य आदि की निंदा तो कदापि नहीं करनी चाहिये। सामान्य लोगों की निंदा करने से उनमें हमारे प्रति द्वेषभाव उत्पन्न हो जाता है और विशिष्ट लोगों की निंदा करने से उनकी ओर से हम पर उपद्रव किया जाता है। दोनों से ही हमारी आराधना में बाधा उत्पन्न होती है और हमारा जीवन कठिन हो जाता है। इसलिये निंदा का त्याग करना चाहिये।

(१५) दुराचारी लोगों का संग नहीं करना चाहिये :- जो प्रवृत्ति आलोक-परलोक दोनों में अहित करती है उसे दुराचार कहा जाता है। जुआ आदि दुराचार है। इनका सेवन करनेवाला दुराचारी कहलाता है। ऐसे लोगों का संग कदापि नहीं करना चाहिये। उनके संग से हमारे जीवन में दूषण आते हैं और लोग हमारी निंदा करते हैं तथा इससे हमें अपयश मिलता है। इससे धर्म साधना को हानि पहुंचती है। इसलिये दुराचारियों का संग नहीं करना चाहिये।

प्राथमिक भूमिका में जीवात्मा किसी का संग किये बिना नहीं रह

सकता। धर्मबिन्दु में कहा गया है कि, संग करना ही हो तो सदाचारी पुरुषों का संग करना चाहिये। (संसर्गः सदाचारैः ॥१-३०॥ - सदाचारी का संग करने से जीवन में सदाचार आते हैं और इससे गुणवृद्धि होती है। साथ ही सदाचारों से लोगों में प्रिय बनते हैं। इसलिये लोकप्रियता प्राप्त होती है। शास्त्र में कहा गया है कि, “यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि । अथासज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ यदि तू सत्संग (सद्पुरुषों के संग) में तत्पर रहेगा तो (उत्तम-महान) बनेगा और दुर्जनों की टोली में सम्मिलित होगा तो पतित बनेगा।”) इसलिये दुराचारियों का त्याग करके सद्पुरुषों का संग करना चाहिये।

(१६) माता-पिता की पूजा :-

तीनों समय माता-पिता आदि गुरुवर्ग को प्रणाम आदि करके उनकी पूजा करनी चाहिये। इस विषय में पूर्व में ‘योग पूर्वसेवा’ प्रकरण में गुरुवर्ग की पूजा में विशेष वर्णन किया गया है।

(१७) उद्वेग का कारण न बने, ऐसी प्रवृत्ति करनी चाहिये :-

निज-पर को उद्वेग हो, ऐसी मन-वचन-काया की कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। दूसरे को उद्वेग हो, ऐसी प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष को कहीं भी समाधि की प्राप्ति नहीं होती है। क्योंकि, सभी प्रवृत्तियां उनके अनुरूप ही फल देती हैं अर्थात् जैसी हमारी प्रवृत्ति हो, वैसा ही हमें फल प्राप्त होता है। यदि हमारी प्रवृत्ति दूसरों को उद्वेग करानेवाली हो तो हमें भी उद्वेग ही प्राप्त होता है। ऐसी प्रवृत्ति से समाधि प्राप्त नहीं होती है। इसलिये समाधि के इच्छुक व्यक्ति को दूसरों को उद्वेग हो, ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये। मन की समाधि के बिना धर्माराधना अच्छे ढंग से नहीं हो सकती है। इसलिये समाधि के इच्छुक व्यक्ति को निज-पर की प्रसन्नता में कारण बननेवाली प्रवृत्ति ही करनी चाहिये। हालांकि, जैसे दूसरों को उद्वेग हो, ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, वैसे ही

स्वयं को उद्वेग हो, ऐसी मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों से भी दूर रहना है।

(१८) पोष्यवर्ग का पोषण करना चाहिये :-

जो पोषण करने योग्य हो, उसे पोष्य कहा जाता है। माता-पिता, अन्य आश्रित परिजन तथा दास-दासी आदि पोष्यवर्ग का पोषण करना चाहिये। इनमें माता-पिता, सती पत्नी और असमर्थ पुत्र, इन तीनों का अवश्य पालन करना चाहिये। वैभव की अधिक प्राप्ति हुई हो तो अन्य परिवारजनों आदि का भी पोषण करना चाहिये। हालांकि, पोष्य परिवार को यथायोग्य धर्मादि कार्यों में जोड़ना चाहिये, ताकि उनमें गलत व्यसन आदि न आएँ। उनके कार्यों की हमेशा चिंता करनी चाहिये और अनर्थों से उनकी रक्षा करनी चाहिये।

(१९) निंदनीय कार्य में ज्ञान-स्वगौरव की रक्षा करनी चाहिये :-

पोष्य परिवार में से किसी व्यक्ति ने अथवा सभी परिजनों ने कोई निंदनीय कार्य किया हो तो उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और अपने गौरव की रक्षा करनी चाहिये अर्थात् उस व्यक्ति ने निंदनीय कार्य (अनाचार) किया है या नहीं, इसकी सही जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। यदि निंदनीय कार्य हुआ हो तो अपने गौरव की रक्षा करनी चाहिये अर्थात् स्वयं के निमित्त से दोषी का सत्कार हो, ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, ताकि दोषी के दोष का अनुमोदन करने का दोष स्वयं को न लगे। इस प्रकार इस विषय में सर्वप्रथम जानकारी प्राप्त करनी चाहिये और इसके बाद दोष पता चले तो स्वयं को अनुमोदना का दोष न लगे, इसलिये उसका किसी भी प्रकार से सत्कार हो, ऐसी प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये।

(२०) देव-अतिथि-दीन की सेवा करनी चाहिये :-

सभी कर्म क्लेशों से मुक्त वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा देव हैं। अति-विशुद्ध अनुष्ठानों में निरंतर एकाग्रतापूर्वक प्रवृत्त रहने से जिनमें तिथि आदि के दिनों का विभाग नहीं होता है वह अतिथि कहलाता है। दीन अर्थात् क्षीण अर्थात् जिसकी धर्म-अर्थ-काम को सिद्ध करने की संपूर्ण शक्ति नष्ट हो गई है वह दीन

कहलाता है। ऐसे देव-अतिथि-दीन की सेवा करनी चाहिये। देव-अतिथि की सेवा भक्ति से करनी चाहिये और दीन की सेवा अनुकंपा से करनी चाहिये।

(२१) सात्म्य और काल में भोजन करना चाहिये :-

भूख लगे तब सात्म्य भोजन करना चाहिये। जिस के लिए प्रकृति से अविरोध आहार-पानी आदि सुख के लिये होते हैं, उसके लिए वह सात्म्य कहा जाता है। काल में अर्थात् जब भूख लगे तब भोजन करना चाहिये में बिना भूख ! खाया हुआ अमृत भी विष समान है।

(२२) लोलुपता का त्याग करना चाहिये :-

जब भूख लगे तब ही सात्म्य भोजन किया जाए, वह लोलुपता से नहीं करना चाहिये अर्थात् अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। अधिक भोजन करने से उल्टी, दस्त या मृत्यु इन तीनमें से कोई भी विकार पैदा हो सकता है।

(२३) अजीर्ण में अभोजन :-

अजीर्ण (एसीडीटी) हो तब भोजन नहीं करना चाहिये। अजीर्ण में भोजन करने से सभी रोगों के मूल समान अजीर्ण में वृद्धि होती है। जिससे रोगों की उत्पत्ति होती है और शरीर धर्माराधना का सामर्थ्य गंवा देता है।

(२४) अदेश-काल चर्या का त्याग करना चाहिये :-

जिस देश में और काल में रहते हों, उस देश और काल से विरोध आचरण नहीं करना चाहिये। अदेश-काल चर्या में रहा हुआ व्यक्ति को उसी प्रकार के चोर आदि सम्बंधी उपद्रव होते हैं और इसलिये नियमा आलोक और परलोक सम्बंधी अनर्थों का स्थान बनता है।

(२५) यथोचित लोकयात्रा :-

यथोचित लोकयात्रा करनी चाहिये अर्थात् जिसका जो उचित हो, उसको लोक यात्रा - लोगों के मन के अनुसार व्यवहार करना चाहिये। लोकयात्रा का उल्लंघन

किया जाए तो लोग नाराज होंगे अथवा विरोधी बन जाएंगे। इससे उनमें अनादेयता का परिणाम प्रकट होगा अर्थात् हमारी सच्ची-अच्छी बात भी वे स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होंगे और हमारे किसी भी अच्छे कार्य में भी वे साथ-सहयोग नहीं देंगे। **इसीलिये प्रशमरति ग्रंथ में कहा गया है कि,** “सभी धर्मात्माओं के लिये लोक आधार होता है। क्योंकि लोक में रहकर तथा लोगों के सहयोग से धर्म की साधना की जाती है। इसलिये प्रत्येक धर्मात्मा को लोक विरोधी और धर्म विरोधी कार्य का त्याग करना चाहिये।

(२६) अतिसंग का त्याग करना चाहिये²⁰ :-

सभी के साथ और इसमें भी गुणवान पुरुषों के साथ अतिशय परिचय नहीं करना चाहिये। क्योंकि अतिशय परिचय करने से गुणवान के प्रति भी अनादर पैदा हो जाता है। **अन्य स्थल पर कहा गया है कि,** “विशिष्ट वस्तु में भी अतिशय परिचय के कारण अवज्ञा होती है। प्रयाग में रहनेवाले लोग (गंगा की अवज्ञा करके) हमेशा कुंए में कुंए के पानी से स्नान करते हैं।²¹”

(२७) वृत्तस्थ और ज्ञानवृद्धों की सेवा करनी चाहिये :-

वृत्त अर्थात् असदाचार से निवृत्ति और सदाचार में प्रवृत्ति। **वृत्तस्थ** अर्थात् असदाचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त चारित्र सम्पन्न पुरुष। ऐसे वृत्तस्थ और ज्ञान से वृद्ध पुरुषों की सेवा करनी चाहिये। उनकी अच्छे ढंग से सेवा की जाए तो सदुपदेश आदि फल अवश्य मिलते हैं। उनसे हमें अनेक गुण प्राप्त होते हैं। **शास्त्र वार्ता समुच्चय में कहा गया है कि,** “हमेशा शुभ उपदेश प्राप्त होते हैं, धर्मात्माओं का दर्शन होता है और योग्य स्थान पर विनय होता है - ये साधुसेवा के महान फल हैं।²²”

(२८) परस्पर अनुबद्ध त्रिवर्ग का परस्पर बाध न हो, इस प्रकार उसका सेवन करना चाहिये :-

धर्म, अर्थ व काम, इन तीन पुरुषार्थों को **त्रिवर्ग** कहा जाता है। धर्म पुरुषार्थ

प्रधान है। इसके बावजूद गृहस्थ अविरति के कारण अर्थ-काम पुरुषार्थ करता है। इसमें विवेक को दर्शाते हुए कहा गया है कि, धर्म, अर्थ और काम तीनों को परस्पर बाधा न पहुंचे, इस प्रकार तीनों का सेवन करना चाहिये। अर्थ या काम को प्राथमिकता देकर धर्म की उपेक्षा करें तो धर्म पुरुषार्थ के अभाव में मनुष्य जन्म विफल हो जाता है। इसलिये अविरति का पोषण न हो, लोभ न बढ़े और धर्म का पालन हो, इस प्रकार गृहस्थ को त्रिवर्ग का सेवन करना चाहिये। काम पुरुषार्थ थोड़े समय के लिये ही इन्द्रियों को बहलाता है। अर्थ पुरुषार्थ भौतिक सुख के साधन उपलब्ध कराता है। परन्तु इन दोनों पुरुषार्थों से प्राप्त सामग्री परलोक में किसी काम नहीं आती है, यह सामग्री तो नाशवंत है। इसलिये धर्म पुरुषार्थ से परलोक सुधारना श्रावक को नहीं चूकना चाहिये। परलोक में साथ जानेवाला एक मात्र धर्म ही है।

(२९) बल-अबल का विचार करना चाहिये :-

बल अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का आत्म सामर्थ्य। बल का अभाव अबल होता है। गृहस्थ को कोई भी कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व अनुकूल द्रव्य-क्षेत्रादि और प्रतिकूल द्रव्य-क्षेत्रादि का विचार अवश्य करना चाहिये। बल का विचार किये बिना कार्य प्रारम्भ करने से विनाश होता है। इसलिये धर्मबिंदु की टीका में कहा गया है कि, “कौन-सा काल है ? कौन मित्र है ? कौन-सा देश है ? आय-व्यय कितना है ? मैं कौन हूं ? मेरी शक्ति कितनी है ? - इस प्रकार बार-बार विचार करना चाहिये।”

(३०) अनुबंध में प्रयत्न करना चाहिये :-

धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि, अनुबंध से रहित धर्म वन्ध्यास्त्री की तरह गौरव नहीं पाता है। बल्कि लघुता को पाता है।

(३१) उचित काल को चुनना चाहिये :-

जो काल जो वस्तु छोड़ने के लिये या स्वीकार करने के लिये उचित हो, उसका निपुण बुद्धि से विचार करके स्वीकार करना चाहिये अर्थात् छोड़ने योग्य

वस्तु को छोड़ देना चाहिये और स्वीकार करने योग्य वस्तु स्वीकार करनी चाहिये। यह निपुणबुद्धि का लक्षण होने से सर्वलक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

(३२) प्रतिदिन धर्म श्रवण करना चाहिये :-

धर्म का श्रवण हमेशा करना चाहिये। क्योंकि, धर्म शास्त्रों का श्रवण बहुत सारे गुणों का कारण है। धर्म श्रवण से हेय-उपादेय का बोध प्राप्त होता है, संवेग-निर्वेद के परिणाम उल्लसित होते हैं, श्रद्धा मजबूत होती है, नये-नये शुभ भाव प्रकट होते हैं, व्रत-नियम लेने का उल्लास पैदा होता है, धर्म में स्थिरता प्राप्त होती है, विवेक की प्राप्ति होती है और इन सबके कारण मोक्ष मार्ग में प्रगति होती है। धर्म श्रवण के फल का अन्य ढंग से वर्णन करते हुए धर्मबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि, (धर्म श्रवण द्वारा प्राप्त) सुभाषितों का उपयोग (चिंतन-मनन) करनेवाला मन, थका हुआ हो तो थकान दूर करता है, तपा हुआ हो तो उसे शांत होता है, अज्ञानी हो तो बोध प्राप्त करता है और व्याकुल हो तो स्थिरता प्राप्त करता है।²³ इसलिये श्रावक ने नित्य धर्म श्रवण करना चाहिये। धर्म परलोक प्रधान जीवन जीने का अंग है। इस धर्म के रहस्यों को समझने के लिये भवभीरू, गीतार्थ, संविग्न और महाशय सद्गुरु से धर्म श्रवण अवश्य करना चाहिये।

(३३) सभी जगह अभिनिवेश का त्याग करना चाहिये :-

किसी भी कार्य में प्रवर्तमान बुद्धिमान पुरुष को अभिनिवेश का त्याग करना चाहिये। दूसरों के अभिभव-पराभव करने के परिणामपूर्वक न्याय मार्ग से रहित कार्य का प्रारम्भ करना वह अभिनिवेश है और न्याय से रहित कार्य करने की इच्छा नीच पुरुष का लक्षण है। शास्त्र में कहा गया है कि, “जैसे प्रवाह के विरुद्ध तैरने से निष्फल करनेवाली मछलियों को कष्ट होता है, वैसे ही दर्प (अभिनिवेश) विफल और नीति रहित दुष्कर कार्य प्रारम्भ करवाकर नीच पुरुषों को थका देता है।”

(३४) गुणों में पक्षपात करना चाहिये :-

गुणों में पक्षपात करना चाहिये। गुण अर्थात् निज-पर के उपकार के कारणभूत

दाक्षिण्यता, सौजन्यता, उदारता, स्थैर्य, प्रियवचन और पूर्वाभाषण आदि आत्मधर्म। ऐसे गुणों में पक्षपात करना अर्थात् गुणवान पुरुषों के प्रति सन्मान भाव रखना चाहिये, उनकी प्रशंसा करनी चाहिये, उनकी सहायता करनी चाहिये। इस प्रकार अनुकूल प्रवृत्ति करनी चाहिये। गुण पक्षपातवाले जीवात्माओं को सन्मान देने से अवश्य फल देनेवाले पुण्यकर्मों का उपार्जन होता है। इनके सामर्थ्य से नियमा जीवात्मा आलोक तथा परलोक में उज्ज्वल गुण-समूह को प्राप्त करता है। क्योंकि धर्मबिंदु ग्रंथ में कहा गया है कि, गुणों में बहुमान सन्मान का आशय चिंतामणि रत्न से भी अधिक शक्तिशाली होता है।

(३५) ऊह-अपोह आदि बुद्धि के आठ गुणों का योग करना चाहिये :

बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार हैं। (१) शुश्रूषा (तत्त्व सुनने की इच्छा), (२) श्रवण (सुनना), (३) ग्रहण (शास्त्र के अर्थ को (तत्त्व को) स्वीकार करना), (४) धारणा (सुने हुए पदार्थों को याद रखना), (५) विज्ञान (अनध्यवसाय, संशय तथा विपर्यय से रहित ज्ञान अर्थात् विज्ञान), (६) ऊह (ज्ञात हुए पदार्थों के विषय में विर्तक करना), (७) अपोह (आगम तथा युक्ति से विर्तक का परिहार करना) और (८) तत्त्व-अभिनिवेश (विज्ञान, ऊह, अपोह से विशुद्ध “यह इसी प्रकार है” ऐसा निर्णय तत्त्व-अभिनिवेश है।) इन आठ गुणों के साथ धर्म श्रवण करने से धर्म के तात्पर्य को प्राप्त किया जा सकता है - इस प्रकार मध्यम श्रावक के ३५ गुण, कि जो गृहस्थ के सामान्य धर्म हैं, वे पूर्ण होते हैं।

► षट्कर्म :-

मध्यम श्रावक देवपूजा आदि छह कर्तव्यों में अवश्य प्रवृत्त होता है। यह छह कर्तव्य दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह गाथा-२५ की टीका में कहा गया है कि,

देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

- देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान, यह गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करने योग्य छह कर्म हैं।

(१) **देवपूजा :-** श्रावक त्रिकाल देवपूजा करे।

(२) **गुरुभक्ति :-** सद्गुरु भगवन्तों को आहार-पानी बोहराए, औषधि प्रदान करे, स्थान-वसति प्रदान करे, विश्रामणा करे - वैयावच्च करे।

(३) **स्वाध्याय :-** वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा यह पांच प्रकार का स्वाध्याय करे।

(४) **संयम :-** इन्द्रियों के संयम का पालन करे और अणुव्रतों का पालन करे,

(५) **तप :-** बाह्य-आंतरिक १२ प्रकार के तप करे।

(६) **दान :-** श्रावक नित्य सुपात्र दान और अनुकंपा दान करे। (इन सभी छह विषयों का वर्णन भिन्न-भिन्न स्थानों पर पूर्व में किया जा चुका है। इसलिये यहां विस्तार नहीं करते हैं। इन सभी छह कर्तव्यों के भेद-प्रभेद अन्य स्थलों से ज्ञात कर लेना।)

► **बारह व्रतों का स्वीकार :-**

मध्यम श्रावक १२ व्रतों को स्वीकार करता है और बारह व्रतों में पांच अणुव्रत हैं। तीन गुणव्रत हैं और चार शिक्षाव्रत हैं।²⁴ स्थूल हिंसादि पापों से विराम पाना अणुव्रत कहलाता है। श्रावक स्थूल हिंसादि पापों से विराम पाने के कारण (साधु की अपेक्षा से) उसे अणुव्रत होते हैं। अणुव्रतों के गुण-उपकारों के लिये (अणुव्रतों की शुद्धि के लिये) जो स्वीकार किया जाता है उसे **गुणव्रत** कहा जाता है। जिससे साधुधर्म का अभ्यास हो उसे **शिक्षापद** (शिक्षाव्रत) कहा जाता है। श्रावक साधुधर्म का परिभावन करता है। इसमें चार शिक्षापद उपकारक सिद्ध होते हैं। अब क्रमशः बारहों व्रतों का आंशिक स्वरूप देखते हैं।

(१) **स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत :-**

पंचाशक ग्रंथ में 'श्रावक पंचाशक' में प्रथम अणुव्रत का स्वरूप दर्शाते हुए कहा गया है कि,

थूलगपाणवहस्सा, विरई दुविहो य सो वहो होइ ।
संकप्पारंभेहिं, वज्जइ संकप्पओ विहिणा ॥८॥

- विधिपूर्वक स्थूल प्राणियों के वध (हिंसा) की विरति रूप (स्थूल प्राणातिपात विरमण रूप) **प्रथम अणुव्रत** है। वध (हिंसा) दो प्रकार से होता है। (१) संकल्प से और (२) आरम्भ से। **संकल्प** अर्थात् मारने की बुद्धि। **आरम्भ** अर्थात् जिसमें जीव हिंसा हो, ऐसी क्रिया। (इन दो में से श्रावक) संकल्प से जीव हिंसा का त्याग करता है। परन्तु वह आरम्भ का नियम नहीं कर सकता। क्योंकि गृहस्थावस्था में आरम्भ का त्याग असंभव है।^A

श्रावक यह व्रत अल्पकाल के लिये अथवा आजीवन स्वीकार करता है। इस व्रत में बंध-वध आदि पांच अतिचार लगने की संभावना रहती है। इसलिये इन पांच अतिचारों को जानकर उनका त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये। (इन पांच अतिचारों का स्वरूप पंचाशक प्रकरण आदि ग्रंथों से ज्ञात कर लें) (अब प्रत्येक व्रत का स्वरूप पंचाशक ग्रंथ के आधार पर देखेंगे)।

(२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत :

स्थूलमृषावादस्य च विरतिः स पञ्चधा समासेन ।

कन्यागोभूम्यलीकं न्यासहरणकूटसाक्ष्ये ॥११॥

- स्थूल मृषावाद की विरति **द्वितीय अणुव्रत** है। स्थूल मृषावाद (स्थूल असत्य) संक्षेप से पांच प्रकार का है। (१) कन्या-असत्य, (२) गाय-असत्य, (३) भूमि-असत्य, (४) न्यास-अपहरण और (५) कूटसाक्ष्य।

(१) कन्या असत्य :-

(विवाहादि के अवसर पर) खंडित शीलवाली कन्या को अखंडित शीलवाली और अखंडित शीलवाली कन्या को खंडित शीलवाली कहना आदि कन्या संबंधी असत्य है। कन्या असत्य के उपलक्षण से दो पैरवाले सभी प्राणी सम्बंधी असत्य का भी इस व्रत में त्याग हो जाता है।

A श्रावक प्रथम अणुव्रत इस प्रकार स्वीकार कर सकता है - “मैं निर्दोष पंचेन्द्रिय जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करूंगा” - इस प्रकार व्रत ले तो वह प्रथम अणुव्रत को स्वीकार कर सकता है।

(२) **गाय असत्य :-** (गाय के विक्रय आदि अवसर पर) अल्प दूध देनेवाली गाय को अधिक दूध देनेवाली और अधिक दूध देनेवाली गाय को कम दूध देनेवाली गाय कहना आदि गाय-असत्य है। गाय-असत्य के उपलक्षण से चार पैरवाले सभी प्राणी सम्बंधी असत्य का भी इस व्रत में त्याग हो जाता है।

(३) **भूमि असत्य :-** अपनी भूमि को पराई कहना और पराई भूमि को अपनी बताना भूमि-असत्य है। भूमि-असत्य के उपलक्षण से पैररहित सभी द्रव्यों सम्बंधी असत्य का त्याग हो जाता है।

(४) **न्यास अपहरण :-** विश्वासपूर्वक किसी का रखा हुआ धन आदि वस्तु हड़प करना अर्थात् मुझे नहीं दी, इस प्रकार असत्य बोलना, **न्यास अपहरण** कहलाता है। इस व्रत में इसका भी त्याग हो जाता है।

(५) **कूटसाक्ष्य :-** कोर्ट आदि में झूठी गवाही देना **कूटसाक्ष्य** कहलाता है। इसका भी त्याग करना है। (न्यास अपहरण में चोरी-असत्य दोनों होने से पूर्व के तीन असत्य से अलग विवक्षा की है और कूटसाक्ष्य में दूसरे के पाप को पोषण मिलता है, इसलिये पूर्वोक्त असत्यों से अलग उल्लेख किया है।) इस व्रत में सहसा-अभ्याख्यान आदि पांच अतिचारों का त्याग करना होता है। इन पांच अतिचारों की विस्तृत जानकारी पंचाशक ग्रंथ से प्राप्त कर लेना।

(३) **स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत :-**

थूलादत्तादाने, विरई तं दुविहओ उ निहिदुं ।

सच्चित्ताचित्तेसुं, लवणहिरण्णाइवत्थुगयं ।।१३।।

- स्थूल अदत्तादान विरमण (स्थूल चोरी का त्याग) तीसरा अणुव्रत है। वह नमक आदि सचित्त वस्तुगत और स्वर्ण आदि अचित्त वस्तुगत दो प्रकार का है। अदत्त के स्थूल व सूक्ष्म दो भेद हैं। इसमें स्थूल (उसने चोरी की है, ऐसे) चोरी के आरोप के कारण के तौर पर प्रसिद्ध हो, ऐसी स्थूल वस्तु सम्बंधी अदत्त मानना चाहिये और चोरी का आरोप न लगे, ऐसी सूक्ष्म वस्तु सम्बंधी अदत्त

मानना चाहिये। इनमें से यहां स्थूल अदत्त का त्याग किया जाता है। इस व्रत में स्तेनाहत आदि पांच अतिचारों का त्याग करना होता है। इन अतिचारों का स्वरूप सद्गुरु भगवंत से समझ लेना।

(४) स्थूलमैथुनविरमण व्रत :-

परदारस्स य विरई, ओरालविउव्विभेयओ दुविहं ।

एयमिह मुणेयव्वं, सदारसंतोसओ एत्थ ॥१५॥

- परस्त्री का त्याग अथवा निजस्त्री में संतोष चौथा अणुव्रत है। परस्त्री के औदारिक व वैक्रिय दो भेद हैं।

इस व्रत के पालन में इत्वर परिगृहीता गमन आदि पांच अतिचारों का त्याग करना होता है। औदारिक शरीरवाली मनुष्य तथा पशुजाति की स्त्री को औदारिक परस्त्री कहा जाता है। देवियां तथा विद्याधर स्त्रियां वैक्रिय परस्त्री हैं।

(५) स्थूलपरिग्रहपरिमाण व्रत :-

इच्छापरिमाणं खलु, असयारंभविणिवित्तिसंजणगं ।

खेत्ताइवत्थुविसयं, चित्तादविरोहओ चित्तं ॥१७॥

क्षेत्र, धन, धान्य, वास्तु, रूप्य, स्वर्ण, कुप्य, द्विपद तथा चतुष्पद आदि वस्तु सम्बन्धी इच्छा का परिमाण करना इच्छा परिमाण (परिग्रह परिमाण) अणुव्रत है। यह व्रत अशुभ आरम्भों की निवृत्ति करनेवाला है और मन आदि के अनुरूप अनेक प्रकार का है।

परिग्रह का परिमाण करने से जरूरतें कम होने के कारण अल्प पापवाले व्यापार से आवश्यकतानुसार थोड़ा धन मिल जाता है। इससे अशुभ आरम्भ अर्थात् अधिक पापवाले व्यापार बंद हो जाते हैं तथा यह व्रत अनेक प्रकार का होता है। क्योंकि सभी के पास धन समान नहीं होता है और सभी की स्थिति भी समान नहीं होती है। इसके अलावा सभी का रहन-सहन भी समान नहीं होता है

और भिन्न-भिन्न देशवासियों की वस्तुओं का संग्रह करने की रुचि भी अलग-अलग होती है। इसलिये परिग्रह परिमाण व्रत लेनेवालों के मन और वित्त आदि भिन्न-भिन्न होने से यह व्रत अनेक प्रकार का होता है। इस व्रत के क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम आदि पांच अतिचारों का स्वरूप समझ-बूझकर उसका त्याग करना चाहिये। अब अणुव्रतों के गुणव्रत बताते हैं।

(६) प्रथम गुणव्रत :- दिशा परिमाण व्रत :-

उड्ढाहोतिरियदिसं, चाउम्मासाइकालमाणेण ।

गमणपरिमाणकरणं, गुणव्वयं होइ विण्णेयं ॥१९॥

- चार महीने आदि काल तक (ऊर्ध्व दिशा में) ऊपर, नीचे और तिच्छु इस हद से (अर्थात् कुछ किलोमीटर की हद से) बाहर न जाना, इस प्रकार (चारों दिशा-विदिशा में) गति का परिमाण करना दिशा परिमाण गुणव्रत कहलाता है।

इस व्रत को स्वीकार करने से विवक्षित क्षेत्र से अन्य स्थल सम्बन्धी हिंसादि पापों से बचा जा सकता है, इसलिये यह व्रत अणुव्रतों को गुण करनेवाला होने से गुणव्रत कहलाता है। इस गुणव्रत के क्षेत्रवृद्धि आदि पांच अतिचारों को अन्य ग्रंथों से समझ-बूझकर उनका त्याग करना चाहिये।

(७) द्वितीय गुणव्रत : उपभोग-परिभोग विरमण व्रत :

वज्जणमणंतदुंबरिअच्चंगाणं च भोगओ माणं ।

कम्मयओ खरकम्माइयाण अवरं इमं भणियं ॥२१॥

भोजन को ध्यान में रखकर अनंतकाय, उदुंबर तथा अत्यंगों का परिमाण करना तथा कर्म को ध्यान में रखकर कठोर-निष्ठुर कर्मों आदि का परिमाण करना दूसरा गुणव्रत है। उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत भोजन तथा कर्म से दो प्रकार का है। इसमें जो एक बार भोगा जा सकता है अथवा शरीर के अंदर भोगा जा सके वह उपभोग होता है। जैसे कि, अशन (आहार) आदि उपभोग हैं। जो बार-बार भोगा जा सके अथवा शरीर के बाहर भोगा जा सके वह परिभोग

होता है। जैसे कि, वस्त्रादि का उपयोग परिभोग है। उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का परिमाण भोजन सम्बंधी उपभोग-परिभोग व्रत है। उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के उपाय का-व्यवसाय का परिमाण करना कर्म सम्बंधी उपभोग-परिभोग व्रत होता है। (इस व्रत को अन्य ग्रंथों में भोगोपभोग परिमाण व्रत भी कहा गया है। वहां उपभोग के स्थान पर भोग और परिभोग के स्थान पर उपभोग शब्द को ग्रहण करना है। अर्थ समान ही आएगा।)

हरी हल्दी, सूरण आदि सभी प्रकार के कंद अनंतकाय माने जाते हैं। श्रावक को उनका सर्वथा त्याग करना होता है। उदुंबर शब्द से वड़, पीपल, ऊंबर, प्लक्ष और काकोदुंबरी, इन पांच वृक्षों के फलों को समझना चाहिये। ये फल छोटे त्रस जीवात्माओं से भरपूर होते हैं। अत्यंग अर्थात् विशिष्ट भोग के कारण या अवयव। जैसे कि, शराब, मांस, मधु आदि अथवा रात्रिभोजन, पुष्पमाला, स्त्री आदि। श्रावक को ३२ अनंतकाय और २२ अभक्ष्य अखाद्यों का सर्वथा त्याग करना होता है।

इस व्रत के भोजन सम्बंधी सचित्त आहार करना आदि पांच अतिचार हैं और अंगार कर्म आदि पंद्रह प्रकार का व्यवसाय करना कर्म सम्बंधी पंद्रह अतिचार हैं। इन अतिचारों को गुरु भगवंत से समझने के बाद उनका त्याग करना चाहिये। श्रावक को पंद्रह प्रकार के कर्मादान का भी सर्वथा त्याग करना चाहिये।

(८) तृतीय गुणव्रत : अनर्थदंडविरमण :-

तहऽणत्थदंडविरई, अण्णं स चउव्विहो अवज्झाणे ।

पमयायरिए हिंसप्पयाणपावोवएसे य ॥२३॥

- तीसरा गुणव्रत अनर्थदंडविरति है। अनर्थ दंड के अपध्यान-दुर्ध्यान, प्रमादाचरण, हिंसा प्रदान और पापोपदेश, यह चार प्रकार हैं।

जिससे आत्मा दंडित हो वह दंड कहलाता है। जीवहिंसादि पापों से आत्मा

दंडित होती है, इसलिये पाप ही दंड हैं। दंड के दो प्रकार हैं। (१) अर्थदंड और (२) अनर्थदंड। अर्थ अर्थात् कारण-प्रयोजन और अनर्थ अर्थात् कारण-प्रयोजन रहित। परिवार पोषण और स्वजीवन निर्वाह आदि कारण से जो पाप करने पड़ते हैं वे अर्थदंड कहलाते हैं। कारण-प्रयोजन रहित जो पाप होते हैं वे अनर्थदंड कहलाते हैं। अनर्थ दंड के चार प्रकार होते हैं, जो निम्नानुसार हैं।

(१) अपध्यान - दुर्ध्यान :- निरर्थक अशुभ विचार करना दुर्ध्यान कहलाता है। अब दुनिया का क्या होगा ? उत्तर कोरिया - दक्षिण कोरिया के युद्ध में कौन जीतेगा ? ओलम्पिक में कौन हारेगा और जीतेगा ? इत्यादि अनावश्यक अशुभ विचार करना दुर्ध्यान है। (२) प्रमादाचरण :- मद्यादि प्रमाद के अधीन होकर जो कार्य किये जाते हैं वे प्रमादाचरण कहलाते हैं। आलस्य से घी-तेल के बर्तन खुले रखना आदि। प्रमादाचरण जीवघात का कारण है। (३) हिंसा प्रदान :- जिससे हिंसा हो, ऐसे हथियार, अग्नि, हल, विष आदि वस्तु अन्य को देना। (४) पापोपदेश:- पाप के कारण खेती आदि का दूसरों को उपदेश देना अर्थात् उसमें प्रवृत्त करना। (अर्थात् बुवाई का समय हो गया है, इसलिये आप खेती शुरू करो आदि पापकार्य का दूसरों को उपदेश देकर उसे पाप में प्रवृत्त करना।)

इस तीसरे गुणव्रत के कंदर्प आदि पांच अतिचार समझ-बूझकर उनका त्याग करना चाहिये। अब चार शिक्षाव्रत का स्वरूप देखेंगे। अभ्यास की प्रधानतावाले व्रतों को शिक्षाव्रत कहा जाता है अर्थात् बार-बार सेवन करने योग्य व्रत शिक्षाव्रत हैं।

(१) प्रथम शिक्षाव्रत : सामायिक :-

सिक्खावयं तु एत्थं, सामाइयओ तयं तु विण्णयं ।

सावज्जेयरजोगाण वज्जणासेवणारुवं ॥२५॥

- श्रावक धर्म का प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक है। कुछ काल तक सावद्य (पापयुक्त) कार्यों का त्याग करना और निरवद्य (पापरहित) कार्य करना सामायिक है।

सम की आय अर्थात् लाभ समाय अर्थात् राग-द्वेष से रहित जीवात्मा का लाभ समाय कहलाता है। राग-द्वेष से रहित आत्मा प्रतिक्षण अनुपम सुख के कारण तथा चिंतामणी रत्न और कल्प वृक्ष से भी विशेष अपूर्व ज्ञान-दर्शन-चारित्र के पर्यायों से जुड़ती है। जो क्रियानुष्ठान का प्रयोजन समाय है वह सामायिक कहलाता है। यह सामायिक सावद्य व्यापारों के त्याग स्वरूप और निरवद्य कार्यों का आचरण स्वरूप होता है। इसलिये सामायिक में द्विविध-त्रिविध (मन-वचन-काया से न करना और न कराना इस रीति से) सभी पापों का त्याग करके स्वाध्याय आदि (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की) आराधना करनी चाहिये। सामायिक के मनोदुष्प्रणिधान आदि पांच अतिचारों को सद्गुरु से समझ-बूझकर उनका त्याग करना चाहिये।

(१०) दूसरा शिक्षाव्रत : देशावगाशिक :-

दिसिवयगहियस्स दिसापरिमाणस्सेह पइदिणं जं तु ।

परिमाणकरणमेयं अवरं खलु होइ विण्णेयं ।।२७।।

- छठवें दिशा परिमाण व्रत में लिये गये दिशा परिमाण का प्रतिदिन परिमाण करना (संक्षेप करना) देशावगाशिक नामक तीसरा शिक्षाव्रत कहलाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि, दिशा परिमाण व्रत में, उदाहरणतया भारत से बाहर न जाने का नियम लिया हो तो इस व्रत में आज सूरत से आगे नहीं जाऊंगा अथवा १०-२० किलोमीटर से अधिक नहीं जाऊंगा, ऐसा नियम लेना होता है। हालांकि, दिशा परिमाण व्रत, यावज्जीव, १२ मास या चातुर्मास आदि तक लेना होता है। जबकि देशावगाशिक व्रत अहोरात्र, दिवस, रात्रि, एक प्रहर आदि तक लेना होता है। (वर्तमान में १० सामायिक (२ प्रतिक्रमण तथा ८ सामायिक) करके देशावगाशिक व्रत करने का व्यवहार चलता है।) इस व्रत के आनयन प्रयोग आदि पांच अतिचारों को समझ-बूझकर उनका त्याग करना चाहिये।

(११) तीसरा शिक्षाव्रत : पौषध व्रत :-

आहारदेहसक्कारबंभवावारपोसहो यऽण्णं ।

देसे सव्वे य इमं चरमे सामाइयं णियमा ॥२९॥

- आहार पौषध, शरीर सत्कार पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध तथा अव्यापार पौषध, ये चार प्रकार से तीसरा शिक्षाव्रत होता है। आहार पौषध आदि चार देश और सर्व से दो-दो प्रकार से होता है। प्रथम तीन पौषध में सामायिक हो अथवा न भी हो, परन्तु चौथे अव्यापार पौषध में नियमा सामायिक होता है।

जो धर्म की पुष्टि करता है वह पौषध कहलाता है। पौषध पर्व तिथि के दिन आहारादि का सर्व से या देश से त्याग करके अवश्य करने योग्य अनुष्ठान विशेष है। (पूर्वकाल में देश से और सर्व से आहारादि चारों पौषध अलग-अलग होते थे और चारों साथ में भी देश से और सर्व से होते थे। वर्तमान में आहारादि चारों पौषध साथ में होते हैं। यह अहोरात्र, दिन या रात्रि के होते हैं।) इस व्रत के चार अतिचार अपने सद्गुरु भगवंत से समझ लें।

(१२) चौथा शिक्षाव्रत : अतिथि संविभाग :-

अण्णाईणं सुद्धाण कप्पणिज्जाण देसकालजुतं ।

दाणं जईणमुच्चियं, गिहीण सिक्खावयं भणियं ॥३१॥

- साधु भगवंतों को शुद्ध व कल्य (जो खपे वह) अन्नादि का देशकालयुक्त उचित दान करना श्रावक का (चौथा) शिक्षाव्रत कहा गया है। इस व्रत के सचित्त निक्षेप आदि पांच अतिचारों को अच्छी तरह से समझने के बाद उनका त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार मध्यम श्रावक अक्षुद्रादि २१ गुणों से युक्त, मार्गानुसारी के ३५ गुणों से सम्पन्न, षट्कर्म में निरत और बारह व्रतधारी होता है। भगवान के शासन में श्रावक धर्म बारह व्रतों के रूप में सुप्रसिद्ध है। इन बारह व्रतों के सामान्यतः १२४ अतिचार हैं। श्रावकसम्यग्ज्ञानपूर्वक इन अतिचारों के परिहार के लिये हमेशा प्रयत्नरत

रहे, तो ही उसके श्रावक धर्म का शुद्ध पालन होता है। हालांकि, श्रावक धर्म मात्र व्रतों का आचरण ही नहीं है, बल्कि जीवात्मा के आंतरिक कुशल परिमाण रूप भी है। इसीलिये श्रावक विंशिका ग्रंथ में कहा गया है कि,

एसो य सुप्पसिद्धो सहाइयारेहिं इत्थ तंतम्मि ।

कुसलपरिमाणरूवो नवरं सइ अंतरो नेओ ॥४॥

- भगवान के इस शासन में अतिचारों सहित (बारहव्रत स्वरूप) श्रावक धर्म प्रसिद्ध है। इस श्रावक धर्म को मात्र आंतरिक कुशल परिमाणरूप सदैव मानना चाहिये अर्थात् श्रावक धर्म को हमेशा अप्रत्याख्यानिय कषाय के क्षयोपशम से होनेवाले आंतरिक कुशल परिमाणरूप में मानना चाहिये। बारह व्रतों का पालन आंतरिक कुशल परिमाणों का कारण है, इसलिये व्यवहार से श्रावक धर्म बारह व्रतों के रूप में है। परमार्थ से तो श्रावक धर्म आत्मा के अंतरंग कुशल परिमाण का स्वरूप है, जो अप्रत्याख्यानिय क्रोधादि कषायों के क्षयोपशम से प्राप्त होता है।

► उत्कृष्ट देशविरति श्रावक :-

“तथोत्कृष्टा विरतिः सच्चित्ताहारवर्जकस्य सदैव कृतैकभक्तस्यानिन्द्य-
ब्रह्मव्रतपालकस्य महाव्रताङ्गीकारस्पृहयालुतया त्यक्तगृहद्वन्द्वस्य श्रमणोपासकस्य
भवति, यदाह - उक्कोसेणं तु सङ्गो उ, सच्चित्ताहारवज्जओ । एणासणगभोई
अ, बंभयारी तहेव य ॥१॥” [गुणस्थानक क्रमारोहः - २४/टीका]

- (१) सचित्त आहार का त्याग करनेवाला, (२) नित्य एकासणा का तप करनेवाला, (३) श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाला, (४) महाव्रत अङ्गीकार करने की स्पृहा से गृह-व्यापारों का त्याग करनेवाला : इन चार नियमों से युक्त श्रमणोपासक श्रावक को उत्कृष्ट देशविरति होती है।

► श्रावक कहां रहता है ? :-

जहां साधुओं का आगमन होता है, जहां जिनमंदिर हों और जहां सार्धमिक हों, वहां पर ही श्रावक का वास होता है, ऐसा पंचाशक (गाथा-४१) में कहा गया है।

■ श्रावक की दिनचर्या :-

साधुओं के आवागमन से युक्त, जिन मंदिरों से मंडित तथा सार्धमिकों के सान्निध्यवाले स्थान पर रहनेवाले श्रावक को प्रतिदिन जो कर्तव्य करने चाहिये, वे कर्तव्य भी पंचाशक ग्रंथ में (गाथा-४२ से ५० तक) निम्नानुसार दर्शाए गये हैं -

(१) श्रावक को सुबह नवकार का स्मरण करते हुए उठना चाहिये। नवकार स्मरण से पंच परमेष्ठि के प्रति बहुमानभाव जागृत होता है और मंगल होता है।

(२) इसके बाद मैं श्रावक हूं, मेरे अणुव्रत आदि नियम हैं, इसका भी स्मरण करे।

(३) इसके बाद शरीर सम्बंधी क्रिया करे,

(४) इसके बाद विधिपूर्वक चैत्यवंदन करे,

(५) इसके बाद विधिपूर्वक पच्चक्खाण का निश्चय करे,

(६) इसके बाद जिनमंदिर जाए। (७) जिनपूजा के रूप में भगवान का सत्कार करे। (८) चैत्यवंदन करे। (९) इसके बाद गुरु के पास जाकर पच्चक्खाण स्वीकार करे। (१०) इसके बाद गुरुमुख से आगम का श्रवण करे। (११) साधुओं को सुख-शाता पूछे। संयम निर्वाह के विषय में पृच्छा करे। (१२) औषधादि की आवश्यकता हो तो उन्हें लाकर दे। (१३) इसके बाद पंदरह कर्मादान का त्याग करके जिनमें अल्प पाप लगे, इस प्रकार से धन प्राप्ति का प्रयत्न करे। (१४) इसके बाद शास्त्रविधि के अनुसार भोजन करे। (१५) इसके बाद पच्चक्खाण करे। (१६) इसके बाद आगम का श्रवण करे। (१७) संध्याकालीन पूजा करे और (१८) इसके बाद चैत्यवंदन-प्रतिक्रमण आदि करे। (श्रावक को उभयटंक प्रतिक्रमण करना होता है।) (१९) प्रतिक्रमण के बाद साधुओं की विश्रामणा करे। (२०) इसके बाद नमस्कार महामंत्र का ध्यान, कंठस्थ किये हुए प्रकरण आदि का स्वाध्याय आदि उचित व्यवहार करे,

(२१) इसके बाद अपने घर जाए, (२२) इसके बाद विधिपूर्वक शयन करे। देव-गुरु का स्मरण करे, धर्म के उपकारियों को स्मरण करे और प्रत्याख्यान आदि का स्मरण करे तथा धर्माचार्यादि के गुणों का कीर्तन करे। इसके बाद अब्रह्म का त्याग करे, स्त्री परिभोग के कारणभूत पुरुषवेद आदि मोह की निंदा करे, स्त्री शरीर की अशुचिमयता के स्वरूप का विचार करे, अब्रह्म के त्यागियों के प्रति आंतरिक प्रेम धारण करे।

➡ निद्रा से जागने पर श्रावक के लिये करने योग्य विचारणा :-

श्रावक (१) आत्मा-कर्म आदि सूक्ष्म पदार्थों का विचार करे, (२) अनित्यादि भावना के द्वारा संसार के स्वरूप का विचार करे, (३) क्लेश-कलह रूपी व्यापार आदि अधिकरण का त्याग कब होगा, इसका विचार करे, (४) प्रतिक्षण होनेवाली आयु की हानि का विचार करे, (५) हिंसादि अनुचित आचारों के दुष्परिणामों का विचार करे, (६) क्षण लाभादिपना की विचारणा करे अर्थात् जीवात्मा क्षणभर में अशुभ अध्यवसाय से अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है और क्षणभर में शुभ अध्यवसाय से शुभ कर्मों का उपार्जन करता है, इसका विचार करे। (७) विविध धार्मिक गुणों सम्बंधी विचार करे। (८) बाधक बननेवाले रागादि दोषों का विचार करे, (९) सम्यग्दर्शन दाता गुरु भगवंत के उपकारों के प्रतिकार की दुष्करता का विचार करे, (१०) साधुओं के प्रशंसनीय आचारों का विचार करे, ऐसे विचारों से संवेग-निर्वेद के परिणाम उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार यहां निर्दिष्ट अनुष्ठान लगातार करनेवाला श्रावक मोक्षप्रापक और संसारनाशक चारित्र के (सर्वविरति के) परिणामवाला होता है।²⁵

➡ भाव श्रावक के क्रियागत छह लक्षण :-

क्रियागत छह लक्षण दर्शाते हुए धर्मरत्न प्रकरण ग्रंथ में कहा गया है कि,

कयवयकम्पो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी ।

गुरुसुस्सूसो पवयणकुसलो खलु सावगो भावे ॥३३॥

- (१) कृतव्रतकर्मा, (२) शीलवंत, (३) गुणवंत, (४) ऋजुव्यवहारी, (५) गुरुशुश्रूषक तथा (६) प्रवचनकुशल : यह छह भाव श्रावक के क्रियागत लक्षण हैं।

(१) कृतव्रतकर्मा :-

श्रावक व्रतधारी होता है। वह सम्यक्त्व सहित बारह व्रतों को धारण करनेवाला होता है। श्रावक (१) स्वयं को जो व्रत स्वीकार करने हैं अथवा जो व्रत स्वीकार किये हैं, उन्हें गीतार्थ गुरु से सुनता है। (२) व्रत के भेद-प्रभेद और उनके अतिचारों का जानकार होता है। (३) विधिपूर्वक व्रत को ग्रहण करता है। (४) किसी भी रोगादि उपद्रव या देवादि उपसर्ग में चलित हुए बिना अंगीकृत व्रतों का पूर्णतः पालन करता है।

(२) शीलवंत :-

श्रावक सदाचारी होता है। सदाचार के यथार्थ पालन के लिये श्रावक (१) आयतनसेवी :- सदाचारी साधर्मिकों तथा चारित्रधर के स्थानों का सेवन करता है। असदाचारियों के अनायतनों का त्याग करता है। (२) अकारण अन्य के घर नहीं जाता है, (३) अभद्र वेषभूषा का त्याग करता है और कुलाचार के अनुसार अपने वैभव के योग्य उचित पोशाक पहनता है। (४) असभ्य (विकारोत्पादक) वचन नहीं बोलता है। (५) जुआ आदि व्यसनो का सेवन नहीं करता है और (६) मधुर वचन बोलकर कार्य कराता है।

(३) गुणवान् :-

श्रावक गुणवान् होता है। गुण तो बहुत हैं। फिर भी यहां मुख्य पांच गुण बताये गये हैं। (१) श्रावक स्वाध्याय में उद्यमी होता है, (२) क्रियाओं में (तप-प्रतिक्रमणादि श्रावक प्रायोग्य अनुष्ठानों में) तत्पर होता है, (३) गुणवानों का विनय करने में प्रयत्नशील होता है, (४) सभी जगह अभिनिवेश (दुराग्रह) रहित होता है और (५) जिनवचन में रुचि रखता है।

(४) ऋजुव्यवहारी :-

श्रावक कपट रहित होता है। श्रावक (१) यथार्थ बोलता है, गलत नहीं बोलता है और विसंवादी भी नहीं बोलता है, (२) अवंचक क्रियावाला होता है अर्थात् दूसरों को ठगता नहीं है या अच्छा दिखने के लिये कोई क्रिया नहीं करता है, (३) भावी आपत्तियों को यथार्थ ढंग से दूसरों से कहता है और पाप से बचाता है। (४) निष्कपट मैत्रीवाला होता है। योग्य जीवात्माओं के साथ निःस्वार्थ-शुद्ध मैत्री को धारण करता है।

(५) गुरुशुश्रूषक :-

श्रावक गुरु की सेवा करनेवाला होता है। श्रावक गुरु की विविध प्रकार से सेवा करता है और गुरु के गुणों की प्रशंसा द्वारा अन्य जीवात्माओं में गुरु के प्रति सन्मान-बहुमान जगाकर उनसे भी सेवा करवाता है। औषधादि प्रदान करता है और गुरु की इच्छानुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करता है।

(६) प्रवचन कुशल :-

श्रावक सिद्धांत समझने में कुशल होता है। वह सूत्र, अर्थ, अपवाद, उत्सर्ग, भाव तथा व्यवहार इन सभी में कुशल होता है। इस प्रकार भाव श्रावक का लक्षण उसकी क्रियाओं को ध्यान में रखकर छह प्रकार के बताये गये हैं। अब भाव-अध्यवसायों को ध्यान में रखकर उसके लक्षण बतलाये गये हैं -

⇒ भाव श्रावक के भावगत १७ लक्षण :-

धर्मरत्न प्रकरण ग्रंथ में (गाथा-५६ से ५९ तक) भाव श्रावक के भावगत १७ लक्षण बताये गये हैं, जो निम्नानुसार हैं -

(१) स्त्री को अनर्थ की खान माने :-

सामान्यतः स्त्री को अनर्थ का घर और चंचल स्वभाववाली कहा गया है। इसलिये उसे दुर्गति का मूल समझनेवाला आत्मारथी श्रावक स्त्री के अधीन न रहे।

(२) इन्द्रियों का निरोध करे :-

चंचल इन्द्रियां आत्मा को चंचल घोड़े की भांति उन्मार्ग पर ले जाती हैं, ऐसे समझकर इसलिये श्रावक उनके वशीभूत न हो जाए और ज्ञानपूर्वक उनका निरोध करे तथा आत्मकल्याण के मार्ग पर चले।

(३) धन को अनर्थकारी माने :-

“धन समस्त अनर्थों का मूल है। उसके लिये किया जानेवाला पुरुषार्थ कलेश का कारण है। प्राप्त होनेवाला धन भी चंचल होता है और अंततः उससे शाश्वत वस्तु की प्राप्ति भी नहीं होती, इसलिये वह सारहीन है।” यह समझनेवाला श्रावक उसका लोभ न करे, बल्कि संतोषी रहे और पुण्योदय से संप्राप्त लक्ष्मी को सच्चे मार्ग पर दान (सद् व्यय) करे।

(४) संसार में रति न करे :-

‘संसार दुःखरूप, दुःखफलक और दुःखानुबंधी होता है।’ - इस प्रकार संसार को विडंबनारूप जानने वाला श्रावक सांसारिक कार्यों में रच-पचकर प्रवृत्ति न करे, रति न करे, उसमें आनंद न समझे, बिना चित्त से ही प्रवृत्ति करे और वह भी उदासीन बनकर ही करे।

(५) विषयों में गृद्धि न करे :-

विषय किंपाक फल जैसे हैं। दिखने में रमणीय, स्वाद में मीठे, स्पर्श में मुलायम, परन्तु परिणामतः दारुण हैं। विषयों को आपात में रमणीय और परिणामतः दारुण माननेवाला भाव श्रावक अंततः विषयों में प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी उसमें आसक्त न हो।

(६) तीव्रारम्भ न करे :-

भाव श्रावक जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त संपत्ति हो तो व्यापार-व्यवसाय न करे। जीवन-निर्वाह न होने से आरम्भ करना पड़े, तो भी जितना संभव हो उतना अल्प आरम्भ करे और दुःखी हृदय से करे। परन्तु तीव्र आरम्भवाले कार्य की

तो इच्छा भी न करे। श्रावक आरम्भ त्यागी जीवात्माओं की प्रशंसा करे और आरम्भों को अधिक से अधिक छोड़ने की भावना रखे।

(७) गृहवास को बंधन माने :-

भावश्रावक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से गृहवास न छोड़ सकता हो, तो भी उसे जेल समझे - बंधन माने। जैसे जेल में बंद व्यक्ति को आनंद नहीं होता है और वहां मिलनेवाली सुविधाओं में रुचि नहीं होती है तथा वहां से बाहर निकलने की ही हर क्षण इच्छा करता है, वैसे ही भाव श्रावक को गृहवास में आनंद नहीं होता है, वहां मिलनेवाली सुविधाओं में रुचि नहीं होती है और उसमें से बाहर निकलने की ही प्रतिक्षण इच्छा रहती है।

(८) समकित से चलित न हो :-

भाव श्रावक जिनवचन में शुद्ध श्रद्धा रखता है। किसी भी परिस्थिति में वह सम्यक्त्व से चलित नहीं होता है। सम्यक्त्व का निरतिचार पालन करता है और उसे चिंतामणि रत्न से भी अधिक कीमती मानता है। सम्यक्त्व के किसी भी आचार का उल्लंघन करता नहीं है और मिथ्यात्व का कोई कार्य करता नहीं है।

(९) गाडरिया प्रवाह का त्याग करे :-

श्रावक गाडरिया प्रवाह से चलनेवाले लोगों को गतानुगतिक प्रवृत्तिवाला समझे और लोकसंज्ञा को जीतकर गाडरिया प्रवाह का त्याग कर के सूक्ष्म बुद्धि से सोच-विचारकर अधिकतम लाभ हो, इस प्रकार से प्रत्येक कार्य करने की इच्छा करे।

(१०) आगमानुसारी क्रिया करे :-

“जैन आगम एकमात्र पारलौकिक हित बतानेवाला है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं।” ऐसा मानकर श्रावक प्रत्येक धार्मिक कार्य में जिनागमों के आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने की इच्छा करे।

(११) यथाशक्ति दानादि क्रियाएं करे :-

श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार (शक्ति को व्यर्थ गंवाये बिना) उत्तरोत्तर भाव

वृद्धिपूर्वक दान, शील, तप और भाव धर्म की आराधना करता है और उत्तरोत्तर उस आराधना को बढ़ाता है। क्योंकि, किसी भी उपाय से उसे चारित्र के आवरक कर्मों का क्षय करना होता है।

(१२) निरवद्य क्रियाएं करने में लज्जा का अनुभव न करे :-

श्रावक एकमात्र हितकर धर्मानुष्ठानों को करने का अवसर पाकर प्रमाद का परिहार कर निरतिचार ढंग से विविध धर्मक्रियाएं करे, अज्ञानी लोग परिहास करें, तो भी उसे निरवद्य धर्म क्रियाएं करने में लज्जा का अनुभव न हो, बल्कि उनकी उपेक्षा करके धर्मक्रिया को महाकल्याणकारी समझकर उनका अवसर न चूके, धर्मक्रिया पूर्ण करे - बार-बार करे।

(१३) राग-द्वेष का त्याग करे :-

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से रुचि बिना संसार में रहनेवाला श्रावक धन, परिवारजन, आहार, घर आदि संसारगत पदार्थों में राग-द्वेष न करे। वह सबकुछ अनुकूल हो तो आनंद न माने और प्रतिकूल अथवा कम हो तो क्लेश न करे।

(१४) मध्यस्थ बनकर दुराग्रहों का त्याग करे :-

श्रावक धर्म आदि के स्वरूप के विचारणा में मध्यस्थ रहता है। “मैं इस पक्ष में हूं, इसलिये वर्षों से मैं यह आराधना करता हूं, इसलिये मेरा ही पक्ष सच्चा है और मैं जो आराधना करता हूं वही सच्ची है।” इस प्रकार का दुराग्रह न रखे। परन्तु मध्यस्थ बनकर सच्चे-झूठे का निर्णय करे। जो सच्चा लगे उसे अपनाए और जो झूठा लगे उसका त्याग करे। भाव श्रावक अपने पक्ष का राग और अन्य पक्ष का द्वेष रखकर कभी तत्त्व सम्बंधी निर्णय न करे। श्री जिनागम जो कहते हैं उस पर मध्यस्थ बनकर शांति से सोचे और इसके बाद जो सच्चा लगे, उसे स्वीकार करे। इसके लिये वह वर्षों से सेवित अपना पक्ष छोड़ने के लिये भी तैयार होता है। क्योंकि, वह दुराग्रही नहीं होता है। परन्तु मध्यस्थ और भवभीरू संविग्न आत्मा है।

(१५) धन-परिवारजनादि के विषय में परकीयबुद्धि :-

भावश्रावक कर्मयोग से संसार में हो, तो उसका धन, परिवारजन, घर आदि

पदार्थों के साथ सम्बंध भी होता है। इसके बावजूद उन सभी को वह क्षणभंगुर के रूप में परिभावन करता है, जैसे उनके साथ सम्बंध ही न हो, ऐसे रहता है और उस धनादि को परकीय (आत्मा से परे) मानता है।

(१६) विषयों के प्रति अनासक्ति :-

श्रावक विषयों को विष समान मानता है। इसलिये उनके प्रति विरागी होता है। इसके बावजूद अन्य की दाक्षिण्यतादि से भोग-उपभोग में प्रवृत्त हो तब तीव्र रुचिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है, बल्कि अनासक्त भाव से प्रवृत्ति करता है। क्योंकि श्रावक विषयों में रुचि-आनंद मानता ही नहीं। उसे स्पष्ट बोध होता है कि, विविध प्रकार के नये रूप-ढंग से विभूषित विषय कितने भी और कितनी ही बार भोगें, इसके बावजूद उनसे तृप्ति तो कभी नहीं होगी। इसलिये श्रावक विषय सुखों से विमुख होता है। कर्मवश अथवा दाक्षिण्यतादि से उसमें प्रवृत्ति करे तो भी तीव्र रुचिपूर्वक नहीं करता है।

(१७) निराशंस बनकर गृहवास का पालन करे :-

श्रावक गृहवास के कार्यों को एकमात्र छोड़ने के भावपूर्वक, पराई पंचात मानकर वैश्या की भांति बिना प्रेम से संभालता है। श्रावक को गृहवास की क्रियाएं बालचेष्टा (मिट्टी के घर बनाने जैसा) समान तुच्छ लगती हैं और संसार के पदार्थ मृगजल की माया, गन्धर्व नगर और स्वप्न जैसे अतृप्तिदायक, अस्थिर-क्षणभंगुर और आभासिक लगते हैं। इसलिये वह गृहवास के कार्य वेठ मानकर करे। उसे भोग सुख, धन-संपत्ति और सत्तादि की लालसा नहीं होती है।

इस प्रकार भावश्रावक के सत्तरह लक्षण हैं। भावश्रावक के लक्षणों पर काफी चर्चा हो सकती है। इसके बावजूद पुस्तक के कद की मर्यादा के कारण संक्षिप्त उल्लेख करके रुकना पड़ता है। आंशिक उल्लेख भी पाठकों को विस्तृत विचारणा की दिशा अवश्य दिखाएंगे।

➡ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं :-

प्रतिमा अर्थात् अभिग्रह विशेष। जिसे श्रावक विशेषकर्मनिर्जरा और साधुधर्म की परिभाषा के लिये करता है। उसके ग्यारह प्रकार हैं। **विंशति विंशिका** ग्रंथ की 'श्रावक प्रतिमा विंशिका' में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

“दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा अबंभसच्चित्ते । आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जए
संमणभूए अ ॥१॥ एया खलु इक्कारस गुणठाणगभेयओ मुणेयव्वो ।
समणोवासगपडिमा बज्झाणुट्ठाणलिंगेहिं ॥२॥

- श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं हैं। (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) पौषध, (५) प्रतिमा, (६) अब्रह्मवर्जन, (७) सचित्त त्याग, (८) आरंभ त्याग, (९) प्रेषण (प्रवर्तन क्रिया) का त्याग, (१०) उद्दिष्ट आहारदि वर्जन तथा (११) श्रमणभूत। यह प्रतिमाएं पांचवें गुण स्थानक में प्रवर्तमान देशविरतिधर उत्कृष्ट श्रावक को प्राप्त होती हैं। पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर की प्रतिमा पांचवें गुण स्थानक के ऊपरवाले कंडक स्थानों की (अध्यवसाय स्थानों) की भूमिका स्वरूप है। (अर्थात् प्रथम प्रतिमा में पंचम गुण स्थानक के जो अध्यवसाय प्रवर्तमान हों, उनसे दूसरी प्रतिमा में विशुद्ध अध्यवसाय प्रवर्तमान होते हैं। वैसे ही पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर की प्रतिमाओं में विशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतम अध्यवसाय प्रवर्तमान होते हैं। इस अपेक्षा से प्रत्येक प्रतिमा में गुणस्थानक का भेद होता है। (गुणस्थानक पांचवां ही होता है, इसके बावजूद आगे-पीछे की भूमिका के कारण भेद होता है।) यह प्रतिमाएं बाह्य अनुष्ठानों के लिंग द्वारा प्रकट होती हैं। अब प्रत्येक प्रतिमा का स्वरूप उपासक प्रतिमा विधि पंचाशक के आधार से संक्षेप में देखेंगे।

(१) दर्शन प्रतिमा :- एक महीने तक भय, लोभ, लज्जा आदि से अतिचार लगाये बिना सम्यग्दर्शन का पालन करना वह प्रथम दर्शन प्रतिमा है। यह प्रतिमा दर्शनाचार के पालन से विशेष है। श्रावक सामान्यतः शुश्रूषादि में जैसा यत्न करे, उससे विशेष प्रकार का यत्न इस दर्शन प्रतिमा में होता है।

(२) **व्रत प्रतिमा** :- दो महीने तक दर्शन प्रतिमा के पालन सहित निरतिचार रूप से बारह व्रतों का पालन करना वह **दूसरी व्रत प्रतिमा** है। सामान्यतः श्रावक बारह व्रतों का पालन करता है। इस प्रतिमा में विशेषतः निरतिचार रूप से पालन होता है और साथ ही विशेष प्रकार की जीवदया और धर्म शास्त्र के श्रवण की क्रिया होती है।

(३) **सामायिक प्रतिमा** :- तीन महीने तक पहली-दूसरी प्रतिमा के पालन के साथ प्रतिदिन निरतिचार रूप से सामायिक करना तीसरी **सामायिक प्रतिमा** है। सामान्यतः सामायिक शिक्षाव्रत में श्रावक का जो यत्न होता है, उससे विशेष यत्न इस प्रतिमा के पालन में होता है।

(४) **पौषध प्रतिमा** :- चार माह तक पूर्व की तीन प्रतिमाओं के पालन के साथ प्रत्येक चतुष्पर्वी में (-अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या) (अथवा दूसरी अपेक्षा से पांच पर्व तिथियों में) निरतिचारपूर्वक आठ प्रहर का पौषध करना चौथी पौषध प्रतिमा है।

(५) **प्रतिमा प्रतिमा** :- पांच माह पर्यन्त पूर्व की चार प्रतिमाओं के पालन के साथ उपसर्ग आए तो भी चलायमान हुए बिना संपूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग में रहना **प्रतिमा (कायोत्सर्ग) प्रतिमा** - कायोत्सर्ग में रहकर प्रतिपक्षभावन (अर्थात् मेरे लिये कौन-से दोष बाधक हैं। इत्यादि का भावन), मंत्रजाप आदि करना होता है।

(६) **अब्रह्म वर्जन प्रतिमा** :- छह माह तक पूर्व की पांच प्रतिमाओं के पालनपूर्वक निर्मल ब्रह्मचर्य का पालन करना **अब्रह्म वर्जन प्रतिमा** कहलाती है।

(७) **सचित्त वर्जन प्रतिमा** :- सात माह तक पूर्व की छह प्रतिमाओं के पालनपूर्वक सचित्त आहार का त्याग करना **सचित्त वर्जन प्रतिमा** कहलाती है।

(८) **आरंभ वर्जन प्रतिमा** :- आठ माह तक पूर्व की सात प्रतिमाओं के पालनपूर्वक स्वयं आरंभ न करना **आरंभ वर्जन प्रतिमा** कहलाती है।

(९) **प्रेष्य वर्जन प्रतिमा** :- नौ माह तक पूर्व की आठ प्रतिमाओं के पालन

सहित नौकर आदि अन्य द्वारा भी आरम्भ न कराना प्रेष्ठ वर्जन प्रतिमा कहलाती है।

(१०) उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा :- दस माह तक पूर्व की नौ प्रतिमाओं के पालनपूर्वक प्रतिमाधारी को ध्यान में रखकर बनाये गये आहार-पानी का त्याग करना उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा कहलाती है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा :- ग्यारह माह तक पूर्व की दस प्रतिमा के पालनपूर्वक परिजनादि सम्बंध का त्याग करके, रजोहरण आदि लेकर, केशों का लोचन करके ग्राम आदि में विचरण करना और साधु के जैसे आचारों का पालन करना श्रमणभूत प्रतिमा कहलाती है। ग्यारह प्रतिमाओं का यहां अत्यंत संक्षिप्त वर्णन किया गया है। विस्तृत स्वरूप पंचाशक प्रकरण आदि ग्रंथों से ज्ञात कर सकते हैं।

➡ **श्रावक को सवा 'वसा' के दयादि²⁶ :-**

(साधु भगवंतों में बीस 'वसा' की दयादि होती है।) श्रावकों में 'सवा' वसा की दयादि होती है। प्रत्येक व्रत के विषय में संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है।

साधु भगवंत स्थूल (त्रस) तथा सूक्ष्म (बादर पृथ्वीकायादि) दोनों प्रकार के जीवात्माओं की हिंसा का त्याग करते हैं। श्रावक सूक्ष्म जीवात्माओं की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता है। इसलिये श्रावक की दया साधु से दस वसा कम होती है। साधु भगवंत त्रस जीवात्माओं की हिंसा का संकल्प और आरम्भ दोनों से त्याग करते हैं। श्रावक त्रस जीवात्माओं की हिंसा का संकल्प से त्याग कर सकता है, परन्तु आरम्भ से नहीं कर सकता है। इसलिये दस वसा में से पांच वसा कम होने से पांच वसा दया बाकी रहती है। यद्यपि श्रावक संकल्प से की गई हिंसा का त्याग भी पूर्णतः नहीं कर सकता है, परन्तु अपराधी-निरपराधी में से निरपराधी जीवात्माओं की संकल्प से हिंसा का त्याग कर सकता है। इसलिये पांच वसा में से आधी कम हो जाने से ढाई वसा बाकी रहती है। निरपराधी जीवात्माओं की हिंसा भी सकारण (सापेक्ष) तथा निष्कारण (निरपेक्ष) इस

प्रकार दो तरह से होती है। इसमें पुत्रादि का प्रमाद छुड़ाने के लिये उसे दंडित किया जाता है, उसका श्रावक त्याग नहीं कर पाता है अर्थात् निरपराधी जीवात्माओं की निष्कारण हिंसा का ही त्याग कर पाता है। इसलिये बाकी ढाई वसा दया में से आधे हिस्से की कमी हो जाने से 'सवा' वसा ही दया श्रावक में होती है। इसी प्रकार शेष सत्यादि भी 'सवा' वसा प्रमाण ही श्रावक में होते हैं। अब प्रत्येक व्रत में श्रावक कैसे व्रत अंगीकार करता है, यह देखेंगे -

(१) श्रावक के लिये स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के विषय में...स्थावर जीवात्माओं के विषय में **जयणा**, त्रस जीवात्माओं का **त्याग**, त्रस के विषय में आरम्भ के विषय में **जयणा** और संकल्प से **त्याग** - इसमें अपराधी जीवात्माओं की **जयणा** - निरपराधी का **त्याग** - सापेक्षता की **जयणा** और निरपेक्षता का **त्याग** होता है।²⁷

(२) श्रावक के लिये स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के विषय में... सूक्ष्म मृषावाद की **जयणा** - स्थूल (पूर्व में दर्शाए अनुसार) पांच बड़े असत्यों का **त्याग** - जिसमें अन्य के लिये **जयणा**, अपने लिये **त्याग** - परिवारजनों के लिये **जयणा**, अन्य लोगों के लिये **त्याग** - धर्मार्थ **जयणा** और अन्यार्थ **त्याग** होता है।²⁸

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के विषय में... सूक्ष्म अदत्तादान की **जयणा** - स्थूल राजदंड मिले ऐसी चोरी का **त्याग**... इसमें सामान्य व्यवहार में **जयणा** और चोरी के व्यापार का **त्याग**... राज्य अनिग्रह में **जयणा**... राज्यनिग्रह का **त्याग**... अल्प की **जयणा**... अधिक का **त्याग**।²⁹

(४) स्थूल मैथुन विरमण व्रत के विषय में... मन-वचन से **जयणा**, काया से **त्याग** - स्वस्त्री की **जयणा**, परस्त्री का **त्याग** - विवाह कराने की **जयणा**, विवाह करने का **त्याग**, स्वतिर्यच **जयणा** - परतिर्यच का **त्याग** करना चाहिये।

(५) स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के विषय में... अभ्यंतर परिग्रह की **जयणा**, बाह्य परिग्रह का **त्याग**... अल्प परिग्रह की **जयणा**, बहु परिग्रह का

त्याग... अन्य के लिये जयणा, स्व के लिये त्याग... परिजनों के लिये जयणा - अन्य जनों के लिये त्याग करना चाहिये। 'रत्नसंचय' ग्रंथ में इस प्रकार का वर्णन है। धर्म संग्रह ग्रंथ में भी इसी प्रकार का वर्णन (भाग-१, अध्याय-२ में) है। इस प्रकार श्रावक के पाँचों अणुव्रत (दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह परिमाण) 'सवा वसा' जितने ही होते हैं।

► श्रावक की तीन प्रकार की अनुमोदना :

श्रावक के लिये द्विविध-त्रिविध से (मन-वचन-काया से करना और कराना, ऐसे द्विविध-त्रिविध से) हिंसादि का त्याग होता है। श्रावक अनुमोदना का त्याग नहीं कर सकता है। इस अनुमोदना के तीन प्रकार हैं।

(१) उपभोग (प्रतिसेवन) अनुमोदना,

(२) प्रतिश्रवण अनुमोदना और

(३) संवास अनुमोदना।³⁰

(१) प्रति सेवन अनुमोदना : स्वयं अथवा अन्य के द्वारा किये गये पाप की प्रशंसा करना तथा सावद्य आरम्भ से बने आहारादि को ग्रहण करना प्रतिसेवना अनुमोदना कहलाती है।

(२) प्रतिश्रवण अनुमोदना : स्वयं सावद्य व्यापाररूप पाप न करे और पुत्रादि के किये हुए पापों को सुने तथा उनकी अनुमोदना करे और उनका निषेध न करे, वह प्रतिश्रवण अनुमोदना कहलाती है।

(३) संवास अनुमोदना : स्वयं सावद्य व्यापाररूप पाप की प्रवृत्ति न करे, उसके पुत्रादि आरम्भ में प्रवृत्त हों, उन पुत्रादि में मात्र ममत्व भाव हो, लेकिन उनके आरम्भादि पाप की प्रशंसा न करे, न सुने, अनुमोदना न करे, सहमति भी न दे और उनकी प्रवृत्ति को अंतरंग रूप से भी अच्छी न माने, वह संवास अनुमोदना कहलाती है - इन तीन अनुमोदना में से अंतिम अनुमोदनावाला श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है।

► देशविरति गुणस्थानक में ध्यान संभव :-

देशविरति श्रावक में आर्त्तध्यानादि चार में से कौन-सा ध्यान संभव है, यह दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

आर्त्त रौद्रं भवेदत्र, मन्दं धर्म्यं तु मध्यमम् ।

षट्कर्मप्रतिमाश्राद्ध-व्रतपालनसंभवम् ॥२५॥

- देशविरति गुणस्थानक में आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान मंद होता है और (पूर्व में दर्शाए अनुसार) श्रावक के षट्कर्म, ११ प्रतिमा और १२ व्रतों के पालन से धर्मध्यान उत्पन्न होता है, वह मध्यम होता है।

देशविरति गुण स्थानक में (अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, रोग चिंता और निदान (नियाणा) संबंधी चार प्रकार का) आर्त्तध्यान तथा (हिंसा में आनंदरूपी रौद्रध्यान, मृषावाद में आनंदरूपी रौद्रध्यान, चोरी में आनंदरूपी रौद्रध्यान और विषय संरक्षण में आनंदरूपी रौद्रध्यान - यह चार प्रकार का) रौद्रध्यान मंद होता है। देशविरति का परिणाम जैसे-जैसे अधिक-अधिकतर होता है, वैसे-वैसे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मंद-मंदतर होता है और देशविरति का परिणाम जैसे अधिक-अधिकतर होता है वैसे धर्मध्यान मध्यम होने के बावजूद अधिक-अधिकतर होता है। देशविरति में उत्कृष्ट धर्मध्यान नहीं होता है। (गुणस्थानकक्रमारोह श्लोक-२५/टीका)

कहने का आशय यह है कि, चौथे गुणस्थानक से यह देशविरति गुण-स्थानक में जीवात्मा का परिणाम अनंतगुण विशुद्ध होता है और देशविरतिगुणस्थानक के असंख्याता विशुद्धि-अध्यवसाय स्थानक होते हैं। जैसे-जैसे अध्यवसाय स्थानक विशुद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे आर्त्त-रौद्रध्यान मंद-मंदतर होता जाता है और धर्मध्यान के विकल्प विशेष ढंग से विशुद्ध होते जाते हैं। देशविरति गुण-स्थानक में जो धर्मध्यान (मध्यम कोटि का) होता है, वह षट्कर्म की निरंतर प्रवृत्ति, बारह व्रत और ११ श्रावक प्रतिमा के पालन से प्रवृत्त होता है।

⇒ पाप अकरण नियम का प्रारम्भ :-

देशविरति गुणस्थानक में पाप अकरण के नियम का प्रारम्भ होता है। इस विषय में उपदेश रहस्य ग्रंथ में कहा गया है कि,

देशविरङ्गुणठाणे पढमो एसो उ गंठिभेअंमि ।

रोगकिसत्तणतुल्लो सुसंजयाणं विसिद्धयरो ॥११३॥

- ग्रंथभेदन के बाद पांचवें देशविरति गुणस्थानक में पाप-अकरण नियम प्रारम्भ होता है और वह रोगी कृशतातुल्य होता है। सुसाधुओं का यह नियम अधिक विशिष्ट होता है।

प्रथम गुणस्थानक में और चतुर्थ गुणस्थानक में भी पापों की निवृत्ति होती है। इसके बावजूद वहां पाप अकरण का नियम प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि, प्रथम गुणस्थानक में चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता है और चतुर्थ गुणस्थानक में अनंतानुबंधी कषाय मोहनीय कर्म निवृत्त होने के बावजूद चारित्र मोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम नहीं होता है। इसलिये सामान्य क्षयोपशम से हुई पाप की निवृत्ति के बावजूद पाप की सामग्री प्राप्त होने से पापकरण का पुनः उत्थान होता है और अकरण-नियम का अपचय (हानि) होता है। जबकि ग्रंथिभेदन के बाद विशिष्ट प्रकार के अप्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम से पाप-अकरण नियम प्रवृत्त होने के बाद पाप की सामग्री उपस्थित होने के बावजूद पाप निवृत्ति का उपचय (दृढ़ीकरण) ही होता रहता है और पाप निवृत्ति की हानि होती नहीं है।

इसके लिये यहाँ एक उदाहरण दिया गया है, रोगी की कृशता। शरीर की कृशता दो प्रकार से संभव है। एक तो स्वयं निरोगी हो, परन्तु दुष्काल आदि के कारण पोषक भोजन सामग्री के अभाव में कृशता प्राप्त की हो और दूसरा पोषक भोजन सामग्री पर्याप्त होने के बावजूद शरीर में ही क्षय आदि रोग लागू हो जाएं तो भी शरीर कृशता प्राप्त करता है। यहाँ प्रथम प्रकार के शरीर को

पोषक भोजन सामग्री मिलने पर पुनः पुष्ट हो जाता है। जबकि दूसरे प्रकार के शरीर को चाहे जितनी योग्य पोषक सामग्री मिले तो भी वह क्षीण ही होता जाता है। इसी प्रकार पाप-अकरण नियम में भी समझना चाहिये। चतुर्थ गुणस्थानक में अनंतानुबंधी कषाय की निवृत्ति से वैयावच्च (सुपात्रदान) आदि स्वरूप अल्प विरति भाव जागृत होने के बावजूद पांचवें गुण स्थानक में जिन अप्रत्याख्यानीय कषायों के क्षयोपशम से ही जनित पंचाश्रव की निवृत्ति रूपी विरति का सद्भाव होता है, ऐसा विरति का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थानक में न होने से वहां पाप-अकरण का नियम संभव नहीं होता है (उपदेश रहस्य-टीका)। **सुसाधुओं में यह पाप-अकरण का नियम उत्कर्षता प्राप्त करता है और पाप-अकरण नियम का प्रकर्षपर्यन्तस्थान क्षपक श्रेणी है और इससे वीतराग बनने के बाद कोई गर्हणीय पाप प्रवृत्ति नहीं होती है।**

➡ श्रावक के व्रतग्रहण के बाद के कर्तव्य :-

श्रावक को अणुव्रत ग्रहण करने के बाद (साधुधर्म की परिभावना के लिये) जो कर्तव्य करने होते हैं, वे पंचसूत्र ग्रंथ के “साधुधर्म परिभावना” नामक द्वितीय सूत्र में निम्नानुसार बताये गये हैं -

(१) व्रतों को स्वीकार करके अच्छे ढंग से उनका पालन करने का यत्न करना चाहिये। इसके लिये हमेशा जिनवचन के अध्ययन-श्रवण द्वारा आज्ञाग्राहक बने, इसके बाद अनुप्रेक्षा द्वारा आज्ञाभावक बने और अनुष्ठान करके हमेशा आज्ञा के अधीन रहे। भगवान की आज्ञा मोहरूपी विष को मारने के लिये परम मंत्र समान है, द्वेषादि रूप अग्नि को बुझाने के लिये जल समान है, कर्म रूपी व्याधि के लिये चिकित्सा शास्त्र है और मोक्ष का अवंध्य कारण होने से मोक्ष के लिये कल्पवृक्ष समान है। ऐसी आज्ञा को समझना, उसकी तारकता का चिंतन-मनन करना चाहिये और हमेशा आज्ञा के अधीन रहना चाहिये...

(२) अकल्याण मित्र का संग छोड़ना चाहिये। क्योंकि, अकल्याण मित्र के संग से संप्राप्त गुणवैभव नष्ट होता है और जीवन में अशुभयोगों की परम्परा उत्पन्न होती है। स्वीकृत व्रतों में मलीनता पैदा होती है।

(३) अशुभ अध्यवसाय आदि के कारणभूत लोक विरोधी^{३१} (आलोक-परलोक-उभयलोक विरोधी) कार्यों का त्याग करना चाहिये... (लोक विरोधी कार्यों का विवरण टिप्पणक-३१ में देख लेना।)

(४) जीवात्माओं के संदर्भ में अनुकंपा में तत्पर रहना चाहिये...

(५) लोग धर्म की निंदा करें, ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये, क्योंकि, धर्म की निंदा संक्लेश है, वह परम अबोधि का बीज है और उससे स्वयं को तथा अन्य को अबोधि प्राप्त होती है...

(६) धर्म मित्रों का संग करना चाहिये। उनके प्रति सन्मानभाव रखना चाहिये, आज्ञाकांक्षी बनना चाहिये, उनकी आज्ञा स्वीकार करनी चाहिये, आज्ञा की विराधना नहीं करनी चाहिये और आज्ञा का पालन करना चाहिये।

(७) अनेक जीवात्माओं का उपघात करनेवाले, गर्हणीय, बहु क्लेशकारी, अन्य लोगों को पीड़ा देनेवाले अंगार कर्मादि (पंद्रह कर्मादान रूपी) समारंभ का त्याग करना चाहिये।

(८) श्रावक स्वीकृत धर्मगुणों के योग्य वर्तन (चेष्टा) करे। मन-शुद्धिपूर्वक, परिशुद्ध वचन-काय योग से श्रावक के उचित आचारों में प्रवर्त्ते।

(९) परपीड़ा का चिंतन भी नहीं करना चाहिये, दुःख में दीनता को धारण नहीं करना चाहिये, संपत्ति में हर्ष नहीं करना चाहिये, गलत दुराग्रह नहीं रखने चाहिये, इस प्रकार मन का उचित प्रवर्तन करना चाहिये।

(१०) झूठ न बोलें, कठोर वचन न बोलें, चुगली न करें, असंबद्ध न बोलें,

हित-मित-प्रिय बोलना चाहिये - इस प्रकार वचन का उचित प्रवर्तन करना चाहिये।

(११) पृथ्वीकायादि जीवात्माओं की हिंसा न करें, अदत्तादान ग्रहण न करें, परस्त्री का निरीक्षण (राग से देखना) न करें, अनर्थदंडवाले पाप न करें, इस प्रकार शुभ काययोगवाला बनना चाहिये।

(१२) लाभ के योग्य उचित दान, भोग, व्यय और बचत करना चाहिये।

(१३) परिवार का संतापक न बनें, परन्तु यथाशक्ति परिवार के लिये गुणकारक बनें, परिवार की अनुकंपा में तत्पर रहें, भाव से परिवार के प्रति ममत्व रहित रहें।

(१४) श्रावक अपने आचार-व्रतों की नित्य स्मृति रखे।

(१५) श्रावक भावनिद्रा के परिहार के लिये तत्त्व विचार रूपी धर्म जागरिका से आत्मा को जागृत करे। धर्म जागरिका में उसे विचार करना चाहिये कि, अभी मेरी उम्र कितनी है ? इस उम्र में कौन सा धर्मादि कार्य उचित है ? तुच्छ शब्दादि विषय सारहीन हैं, वियोग होनेवाले हैं, परिणामतः दारुण हैं, मृत्यु भयानक है, सभी का अभाव-नाश करनेवाला है, मृत्यु कभी भी, किसी भी स्वरूप में कहीं भी आ जाएगी, यह मृत्यु जन्म है इसलिये बार-बार आनेवाली है, इस मृत्युरूपी रोग की औषधि परमविशुद्ध धर्म ही है, इत्यादि विचार करके भावनिद्रा का परिहार करे।

(१६) इसके बाद धर्म, धर्म के प्रकाशक, धर्म के प्ररूपक और धर्म के पालक को नमस्कार करे।

(१७) विशुद्ध धर्म को स्वीकार करे और निरतिचार पालन की बार-बार प्रार्थना करे।

(१८) अरिहंत परमात्मा की कृपा से विशुद्ध धर्म की प्राप्ति हो, ऐसे सप्रणिधानपर्वक बार-बार चिंतन करे।

(१९) साधुधर्म से युक्त मुनियों की आज्ञा का सेवक बनूँ, ऐसी भावना रखे।

पूर्वोक्त उपायों का सेवन करनेवाला श्रावक संसार से अत्यंत विरक्त बन जाता है, मोक्षार्थी बन जाता है, ममत्व रहित और परपीड़ा का परिहारी बन जाता है, इससे उसमें साधुधर्म की योग्यता प्राप्त होती है।

➡ पंचम गुणस्थानक का उपसंहार और पुरुषार्थ की दिशा :-

➡ पंचम गुणस्थानक का उत्कृष्ट समय देशोन पूर्वक्रोडी वर्ष का होता है। भाव श्रावक चारित्र धर्म का तीव्र स्पृहावाला है। गृहवास उसे कठिन लगता है। प्रतिदिन तेरह काठिया के साथ लड़ाई उसे कठिन लगती है। घर में स्थित पनिहारा आदि पांच कत्लखाने में (वर्तमान में तो उससे भी बड़े कई कत्लखाने हैं) होनेवाली हिंसा के तांडव नृत्य को देखकर भयभीत हो जाता है। इसलिये वह इन सभी से मुक्त हो जाए, इसके लिये प्रतिदिन चारित्र धर्म की स्पृहा करता है।

➡ चारित्र धर्म को अंगीकार करने के लिये सर्वसंग का (बाह्य-आंतरिक दोनों प्रकार के सभी संगों का) त्याग करना पड़ता है। इसके लिये संसार के सभी पदार्थों के प्रति ममत्व भाव तोड़ना पड़ता है, इन्द्रियों और मन का निग्रह करना पड़ता है, परीषहों-उपसर्गों को सहन करने की आदत डालनी पड़ती है, प्रतिकूलताओं में भी प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाना पड़ता है, इन सभी को अभ्यस्त बनाने के लिये अनेक प्रकार के व्रत-नियम-अभिग्रहों को अंगीकार करके सुखशीलता का त्याग करना पड़ता है, सहनशील बनना पड़ता है, तितिक्षा भावना विकसित करनी पड़ती है, कषायों पर विजय प्राप्त करना पड़ता है और विषयों से विमुख बनना पड़ता है : इन सभी आराधनाओं से चारित्र मोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होने से सर्वविरति धर्म की प्राप्ति होती है और साधक छठवें गुण स्थानक को प्राप्त करता है।

➡ टिप्पणकम् :- 1. प्रत्याख्यानोदयादेशविरतिर्यत्र जायते। तच्छास्त्रत्वं हि देशोनपूर्वकोटिगुरुस्थितिः ।।२४।। (गुणस्थानकक्रमांरोहः) 2. कूरो किलिङ्गभावो सम्मं धम्मं न

साहिउं तरइ । इय सो न इत्थ जोगो, जोगो पुण होइ अकूरो ॥१२॥ (धर्मरत्नप्रकरणम्) 3. इह परलोयावाए-संभावेंतो न वट्टए पावे, बीहइ अजसकलंकातो खलु धम्मरिहो भीरू ॥१३॥ (धर्मरत्नप्रकरणम्) 4. असढो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जोय । अज्जुमइ भावसारं, उचिओ धम्मस्स तेणेसो । ॥१४॥ यदुक्तं... मायाशीलः पुरुषो, यद्यपि न करोति किंचिदपराधं सर्प इवाविश्वास्यो, भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥१५॥ (धर्मरत्नप्रकरणम्) 5. ऊवयरइ सुदक्खिन्नो परेसि मुज्झियसकज्जवावारो । तो होइ गज्जवक्कोणुवत्तणीओ च सव्वस्स ॥१५॥ xxxx कोर्थः - यदिह परलोकोपकारि प्रयोजनं तस्मिन्नेव दाक्षिण्यवान् न पुनः पापहेतावपीति सुशब्देन दाक्षिण्यं विशेषितम् । (धर्म० प्र० - १५/टीका) 6. लज्जालुओ अकज्जं वज्जइ दूरेण जेण तणुयं पि, आयरइ सयायारं न मुयइ अंगीकयं कहवि ॥१६॥ 7. मूलं धम्मस्स दया तयणुगयं सव्वमेवणुद्वाणं । सिद्धं जिणिंदसमए मग्गिज्जइ तेणिह दयालू ॥१७॥ 8. मज्झत्थ सोमदिट्ठी धम्मवियारं जहट्टियं मुणइ । कुणइ गुण संपओगं दोसे दूरं परिञ्चयइ ॥१८॥ 9. गुणरागी गुणवंते बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ । गुणसंगहे पवत्तइ-संपत्तागुणं न मइलेइ ॥१९॥ 10. नासइ विवेगरयणं असुहकहासंगकलुसियमणस्स । धम्मो विवेगसारु त्ति सक्कहो हुज्ज धम्मत्थी ॥२०॥ 11. अणुकूल धम्मसीलो-सुसमायारो य परिणामो जस्स । एस सुपक्खो धम्मं निरंतरायं तरइ काउं ॥२१॥ 12. आढवइ दीहदंसी सयलं परिणामसुंदरं कज्जं, बहुलाभमप्पकेसं सल्लाहणिज्जं बहुजणाणं ॥२२॥ 13. वत्थूणं गुणदोसे लक्खेइ अपक्खवाय भावेण । पाएण विसेसन्नू उत्तमधम्मरिहो तेण ॥२३॥ 14. वुद्धो परिणय बुद्धी पावायारे पवत्तइ नेय । वुद्धाणुगो वि एवं संसग्गकया गुणा जेण ॥२४॥ 15. विणओ सव्वगुणाणं मूलं सन्नाणदंसणाईणं । मोक्खस्सय ते मूलं तेण विणओ इह पसत्थो ॥२५॥ 16. बहुमन्नइ धम्मगुरुं परमुवयारि त्ति तत्तबुद्धीए । ततो गुणाण वुद्धी गुणारिहो तेणिह कयन्नू ॥२६॥ 17. सवण नाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे । अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिया चेव ॥२७॥ 18. लक्खेइ लद्ध लक्खो सुहेण सयलंपि धम्मकरणिज्जं । दक्खो सुसासणिज्जो तुरियं च सुसिक्खिओ होइ ॥२८॥ (धर्मरत्नप्रकरणम्) 19. तत्र सामान्यतो गृहस्थधर्मः - (१) कुलक्रमागतमनिन्द्यं विभावाद्यपेक्षया न्यायतोऽनुष्ठानम् (२) समानकुलशीलादिभिरगोत्रजैर्वैवाह्यमन्यत्र बहुविरुद्धेभ्यः ॥१२॥ (३) दृष्टादृष्टबाधाभीतता ॥१३॥ (४) शिष्टचरितप्रशंसनम् ॥१४॥ (५) अरिषड्वर्गत्यागेनाविरुद्धार्थप्रतिपत्त्येन्द्रियजयः ॥१५॥ (६) उपप्लुतस्थानत्यागः ॥१६॥ (७) स्वयोग्यस्याऽऽश्रयणम् ॥१७॥ (८) प्रधानसाधुपरिग्रहः ॥१८॥ (९) स्थाने गृहकरणम् ॥१९॥ (१०) विभवाद्यनुरूपो वेषो विरुद्धत्यागेन ॥२४॥ (११) आयोचितो व्ययः ॥२५॥ (१२) प्रसिद्धदेशाचारपालनम् ॥२६॥ (१३) गर्हितेषु गाढमप्रवृत्तिः ॥२७॥ (१४) सर्वेष्ववर्णवादत्यागो विशेषतो राजादिषु ॥२८॥ (१५) असदाचारैरसंसर्गः ॥२९॥ (१६) मातापितृपूजा ॥३०॥ (१७) अनुद्वेजनीया प्रवृत्तिः ॥३३॥ (१८) भर्तव्यभरणम् ॥३४॥

(१९) गह्वं ज्ञानस्वगौरवरक्षे ॥३८॥, (२०) देवाऽतिथि - दीनप्रतिपत्तिः ॥२१॥ सात्स्यतः कालभोजनम् ॥४१॥, (२२) लौल्यत्यागः ॥४२॥, (२३) अजीर्णं अभोजनम् ॥४३॥, (२४) अदेशकालचर्यापरिहारः ॥४५॥, (२५) यथोचितं लोकयात्रा ॥४६॥, (२६) अतिसङ्गवर्जनम् ॥४८॥, (२७) वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवा ॥४९॥, (२८) परस्परानुपधातेनान्योन्यानुबद्धत्रिवर्गप्रतिपत्तिः ॥५०॥, (२९) बलबलापेक्षणम् ॥५२॥, (३०) अनुबन्धे प्रयत्नः ॥५३॥, (३१) कालोचितापेक्षा ॥५४॥, (३२) प्रत्यहं धर्मश्रवणम् ॥५५॥, (३३) सर्वत्रानभिनिवेशः ॥५६॥, (३४) गुणपक्षपातिता ॥५७॥, (३५) ऊहापोहादियोग इति ॥५८॥ (धर्मबिन्दु-प्रथमाध्यायः) 20. यावदप्राप्तं तावद्विधेयम् ॥ (अध्यात्ममतपरीक्षा) - अर्थ :- जितना अन्य से अप्राप्त हो उतना अधिकृत (शास्त्र) विधान से विहित होता है। 21. सविशेषणे हि विधिनिषेधो विशेषणमुपसङ्क्रामतो विशेष्यबाधके सतीति न्यायः ॥ (प्रतिमाशतक, १६/टीका) अर्थ :- विशेषण विशिष्ट विशेष्य में कुछ विधि-निषेध बताये गये हों और यदि विशेष्य अंश में उसका बाध (निषेध) हो तो वह विधि-निषेध विशेषण में संक्रमित होता है। अर्थात् विशेषण विशिष्ट विशेष्य युक्त विधान में विधेयांश विशिष्ट में बाध हो, तो उसका अन्वय विशेषण में करना चाहिये। जैसे कि, “न्यायसम्पन्नविभव” - यह विधान-विशेषण विशिष्ट विशेष्य स्वरूप है। वैभव-परिग्रह पापरूप होने से उसमें विधान का बाध होता है। इसलिये विधान ‘न्यायसम्पन्नता’ विशेषण में संक्रमित होता है। अर्थात् पूर्वोक्त विधान का आशय ‘न्यायसम्पन्नता’ में है, वैभव में नहीं। संक्षेप में, “न्यायसंपन्न विभव” इस विधान में धन कमाना ग्रंथकार का विधान नहीं। परन्तु धन कमाने के लिये स्वयं प्रवर्तित गृहस्थ उसमें न्याय-नीति का पालन करे, यह विधान है। - इस प्रकार मार्गानुसारिता के गुणों में यथायोग्य योजन करना चाहिये। 22. लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्। तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥१३१॥ 23. अतिपरिचयादवज्ञा, भवति विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः। लोकः प्रयागवासी, कूपे स्नानं सदा कुरुते ॥ (धर्मबिन्दु - १/४८-टीका) 24. उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम्। स्थाने विनय इत्येतत्, साधुसेवाफलं महत् ॥१७॥ 25. कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ?। कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥ 26. कलान्तमुपोज्जति खेदं तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम्। स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः ॥ 27. स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पञ्च ॥३-१६॥ दिग्व्रतभोगोपभोगमानाऽनर्थदण्डविरतयस्त्रीणि गुणव्रतानि ॥६-१७॥ सामायिक-देशावकाशपौष-धोपवासऽतिथिसंविभागश्चत्वारि शिक्षापदानि ॥६-१८॥ (धर्मबिन्दु) 28. गोसे भणिओ य विही, इय अणवरयं तु चिड्डमाणस्स। भवविरहवीयभूओ, जायइ चारित्तपरिणामो ॥५०॥ (श्रावकपंचाशकप्रकरणम्) 29. भावगयाइं सत्तरस, मुणिणो एअस्स बिंति लिंगाइं।

जाणिअजिणमयसारा, पुच्चायरिआ जओ आहु ।।५६।। इत्थिंदियत्थ-संसार-विसय-आरंभ-गेह-
दंसणओ । गडुरिगाइपवाहे, पुरस्सरं आगमपवित्ती ।।५७।। दाणाइ जहासत्ती पवत्तणं विहिअरत्तदुट्ठे
अ । मज्झत्थ-मसंबद्धो, परत्थकामोवभोगी य ।।५८।। वेसा इव गिहवासं, पालइ पयसत्तरसनिबद्धं
तु । भावगयभावसावग-लक्खणमेयं समासेणं ।।५९।। **(धर्मरत्नप्रकरणम्) 30.** एवं चात्र
विशेषणत्रयेण श्रावकस्य सपादविशोपकप्रमितजीवदयात्मकं प्रायः प्रथममणुव्रतमिति सूचितम् ।
(धर्मसंग्रह, २/२५ - टीका) 31. आह तिहाणुमई जं, संवासुवभोयपडिसुणणभेया । गिहिणो य
सयावासो, बहुमिच्छादिट्ठिमज्झम्मि ।।३५।। **(श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्) 32.** जनविरोधी कृत्य
(पंचाशक गाथा ८ से १० में) इस प्रकार बताये गये हैं - (१) किसी भी व्यक्ति की निंदा
करना, विशेषतः गुणवान की निंदा करना, (२) मंदबुद्धिवाले की धर्मक्रिया देखकर उसकी
अयोग्यता पर हंसना, (३) लोकमान्य राजा की निंदा करना । (४) बहुजन विरोधी व्यक्तियों
के साथ संपर्क रखना । (५) देश-काल-कुल आदि के आचारों का उल्लंघन करना । (६)
उद्धत भोगों (लोगों में अशोभनीय माने जानेवाले भोग) में प्रवृत्ति करना । (७) स्वयं के
किये दान-तप आदि का लोगों के समक्ष गुणगान करना, (८) सज्जन पुरुषों की आपत्ति
में संतोष-आनंद का अनुभव करना और शक्तिसम्पन्न होने के बावजूद उसे उस आपत्ति से
मुक्त करने का प्रयत्न नहीं करना ।



प्रकरण - १६ : छठवां (सर्वविरति) गुणस्थानक

पांचवें गुणस्थानक में सातों कर्मों की जो स्थिति थी, उसमें से संख्यात सागरोपम जितनी कर्म स्थिति का हास होता है, तब सर्वविरति का परिणाम प्राप्त होता है अर्थात् छठवें सर्वविरति गुणस्थानक की प्राप्ति होती है। (एक सागरोपम अर्थात् १० कोड़ाकोड़ी पल्ल्योपम) इस गुणस्थानक में प्रत्याख्यानीय कषाय का क्षयोपशम होता है और संज्वलन कषाय का उदय होता है। इस गुणस्थानक को 'प्रमत्तसंयत गुणस्थानक' भी कहा जाता है। इसका स्वरूप दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

कषायाणां चतुर्थानां व्रती तीव्रोदये सति ।

भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तस्थानगो मुनिः ॥१७॥

- चौथे संज्वलन क्रोधादि कषायों का तीव्र उदय होने के बावजूद मुनि प्रमादयुक्त होता है। इसलिये ऐसे मुनि प्रमत्त गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

इस गुणस्थानक की प्राप्ति सामान्यतः कैसे होती है, यह दर्शाते हुए धर्मसंग्रह ग्रंथ में कहा गया है कि,

एनं धर्मं च निखिलं, पालयन् भावशुद्धितः ।

योग्यः स्यात् यतिधर्मस्य मोचनात् पापकर्मणः ॥

- अंतःकरण की शुद्धि से सम्पूर्ण श्रावक धर्म का पालन करनेवाला (साधक) (चारित्र के प्रतिबंधक) पाप कर्मों के नाश से यतिधर्म (सर्वविरति धर्म) के योग्य होता है।

अप्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम से प्राप्त भावशुद्धिपूर्वक समस्त श्रावकधर्म का पालन करनेवाला श्रावक चारित्रमोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होने से सर्वविरति धर्म को प्राप्त करता है, हालांकि, यह सामान्यविधि

है। बाकी चतुर्थ अविरति गुणस्थानक में जीवात्मा दो करण द्वारा (पूर्व में दर्शाए यथाप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण द्वारा) पांचवें गुणस्थानक को प्राप्त करता है तथा कोई विशुद्धि की अधिकता के बल से छठवां गुणस्थानक भी प्राप्त कर लेता है और पांचवें गुणस्थानक वाला जीवात्मा यथाप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण के माध्यम से प्रत्याख्यानीय कषाय का क्षयोपशम भाव प्राप्त करे तब छठवें गुणस्थानक के परिणाम को प्राप्त करता है।

► साधुधर्म को प्राप्त करने की योग्यता :-

पूर्वोक्त कर्म स्थिति के हास से तथा चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से साधुधर्म को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है। इसके बावजूद जैनशासन के परमार्थ का ज्ञाता, मिथ्यादृष्टि जीवात्माओं को (अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त जीवात्माओं को) मार्ग में प्रवेश कराने के लिये द्रव्य सम्यक्त्व का आरोपण कर उन्हें व्रत (महाव्रत-चारित्र) प्रदान करता है।¹ ज्ञानी दीक्षा प्रदान करते समय दो प्रमुख गुणों को देखते हैं। एक यह कि उसे संसार की निर्गुणता का ज्ञान हुआ है अथवा नहीं ? और दूसरा यह कि वह व्रतपालन में धीर है अथवा नहीं ? संसार की निर्गुणता का ज्ञान और व्रतपालन में धीरता, यह दो गुण दिखने पर ही मिथ्या दृष्टि जीवात्मा को महाव्रत प्रदान किया जाता है। ऐसा जीवात्मा गुरु की आज्ञा के अधीन रहकर व्रतों का पालन करता है, तो ग्रंथिभेदन करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और पूर्वोक्त कर्मस्थिति का हास होने से भावपूर्वक सर्वविरति का परिणाम प्राप्त करके छठवें गुणस्थानक की प्राप्ति करता है। धर्मसंग्रह और योगदृष्टिसमुच्चय आदि ग्रंथों में साधुधर्म को प्राप्त करने के लिये १६ गुण बताये गये हैं।

► सर्वविरति (सर्वचारित्री) के लिंग :-

पूर्व के प्रकरण में योगशतक ग्रंथ के आधार पर देशविरति के जो लिंग बताये गये थे, वही लिंग अधिक खिली हुई अवस्था में सर्वविरति के होते हैं। इन

छह लिंगों में 'गुर्वाज्ञा की आराधना' यह सातवां लिंग सम्मिलित करके धर्मरत्न प्रकरण में भेद-प्रभेद सहित सर्व विरतिधर के (भावसाधु के) सात लिंग निम्नानुसार बताये गये हैं -

एअस्स उ लिंगाइं सयला मग्गाणुसारिणी किरिआ^१ ।

सद्धा पवरा धम्मे^२, पन्नवणिज्जतमुजुभावा^३ ॥७८॥

किरिआसु अप्पमाओ^४, आरंभो सक्कणिज्जणुट्ठाणे^५ ।

गुरुओ गुणाणुरागो^६, गुरुआणाराहणं परमं^७ ॥७९॥

(१) मार्गानुसारी क्रिया :- भावसाधु की सभी क्रियाएं मार्गानुसारी होती हैं। आगम के अनुसार अथवा बहु संविग्न-गीतार्थों द्वारा आचरित मोक्ष का अनुसरण करनेवाली मार्गानुसारी क्रिया भावसाधु का लिंग है।

(२) श्रेष्ठ श्रद्धा :- श्रुत-चारित्ररूपी धर्म में श्रेष्ठ श्रद्धा अर्थात् ज्ञानपूर्वक संयम-धर्म में करण का अभिलाष। श्रद्धा अर्थात् तीव्र करणाभिलाष। श्रद्धा के चार प्रकार हैं।^१ (१) विधिसेवा, (२) अतृप्ति, (३) शुद्ध देशना और (४) स्खलित परिशुद्धि। श्रद्धावान् साधु प्रत्येक अनुष्ठान विधिपूर्वक ही करता है। कभी द्रव्य-क्षेत्रादि की त्रुटि उत्पन्न हो तो भी विधि का ही पक्ष लेता है, यह विधिसेवा श्रद्धा है। श्रद्धावान को ज्ञान, चारित्र, तप आदि धर्मकार्यों में तृप्ति नहीं होती है, अधिक से अधिक धर्मकार्य करने की उसकी अभिलाषा होती है। श्रद्धावान् भावसाधु लोगों के हित के लिये शुद्ध देशना ही देता है और जहां भी चारित्र पालन में स्खलना-भूल हो जाए, वहां प्रायश्चित्त करके आत्मा को शुद्ध करता है।

(३) प्रज्ञापनीयता :- भावसाधु प्रज्ञापनीय होता है अर्थात् अकुटिल होता है, सरल होता है और गलत अभिनिवेश (दुराग्रह) रखनेवाला नहीं होता है। कोई भूल बताये तो सुधारनेवाला होता है।

(४) क्रिया में अप्रमाद (क्रियापर) :- भावसाधु विहित अनुष्ठानों में प्रमाद नहीं करता है - शिथिल नहीं होता है। वह उस काल में विहित अनुष्ठानों की

संविग्न बनकर विधिपूर्वक आराधना करता है।

(५) शक्यारंभ :- अपनी शक्ति के अनुसार (शक्ति गंवाए बिना) तप-चारित्र आदि अनुष्ठान में प्रवृत्ति करता है।

(६) गुणानुराग :- भावसाधु में अत्यंत गुणानुराग होता है अर्थात् गुणों का पक्षधर होता है।

(७) गुर्वाज्ञा की आराधना :- भावसाधु गुरु (धर्माचार्य) की आज्ञानुसार व्यवहार करता है - आराधना करता है।

► भावसाधु के लिंग :-

भिक्षु द्वात्रिंशिका (बत्तीसी) में भावसाधु के लिंग निम्नानुसार बताये गये हैं -

संवेगो विषयत्यागः सुशीलानां च सङ्गतिः ।

ज्ञानदर्शनचारित्राराधना विनयस्तपः ॥२३॥

क्षान्तिर्मार्दवमृजुता तितिक्षा मुक्त्यदीनते ।

आवश्यकविशुद्धिश्च भिक्षोर्लिंगान्यकीर्तयन् ॥२४॥

(१) संवेग : मोक्ष सुख का अभिलाष :-

भावसाधुभगवंत मोक्ष सुख के अभिलाषी होते हैं। साथ ही संसार के प्रति अत्यंत निर्वेदभाव को धारण करते हैं। मोक्ष के लक्ष्यपूर्वक संसार से निकले साधु भगवंतों का ज्ञानाभ्यास आदि द्वारा कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम होने से उनकी मोक्ष की अभिलाषा तीव्र बनती है। जहां से निष्क्रमण किया है, ऐसे संसार में पुनः फंस न जाएं, इसकी लगातार चिंता होती है और मूलस्थान पर पहुंचने की इच्छा होती है।

(२) विषयत्याग :- भावसाधु संसार से विरक्त होता है और संसार से उद्विग्न भी होता है। इसलिये संसार परिभ्रमण के कारणभूत विषयों के प्रति उसे बिल्कुल आकर्षण-प्रीति-आसक्ति नहीं होती है। इसलिये वह विषयों का सहजता

से त्याग करता है। विषयों की कुटिलता का बोध लगातार जीवित रखकर भावसाधु उससे दूर-सुदूर ही रहते हैं। अंगधनकुल के सर्प की भांति विषयों को भोगने की कभी इच्छा नहीं करते हैं। उनका ध्येय एकमात्र आत्मसुख को प्राप्त करना होता है। विषय उन्हें उनमें बाधक लगते हैं।

(३) सुशील साधुओं का संग :-

भावसाधु अपने चारित्र की रक्षा करने के लिये अनादि मोह वासना के संस्कारों को जागृत करनेवाले कुशील साधुओं का संग नहीं करते हैं। बल्कि स्वयं में सुशीलता को दृढ़-मजबूत बनाने और अप्रमत्त भाव की प्राप्ति के लिये सुशील साधुओं का संग करते हैं। “जैसी संगत वैसा असर होता है” और संग के आधार पर व्यक्ति को क्या पसंद है और क्या पसंद नहीं है, इसका अन्य लोगों को पता चलता है। कुशील का संग करनेवाले को अंदर से कुशीलता पसंद होती है और जिसे सुशीलता पसंद होती है, उसे कुशील का संग पसंद नहीं होता है। भावसाधु अनुकूलता और घेलछा से भरी भावनाओं का अर्थी नहीं होता है, इसलिये उसे कुशील का संग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है और इसलिये उसे सुशील का संग करना ही पसंद होता है। हालांकि, भावसाधु का लक्ष्य सभी संग त्यागकर एकांत में साधना करना ही होता है। परन्तु जब तक इस प्रकार की भूमिका प्राप्त न हो, तब तक ज्ञानादि के लिये किसी का तो संग करना ही पड़ता है। इसलिये वह जिससे ज्ञानादि प्राप्त हो, अच्छे संस्कार-विचार प्राप्त हों, अच्छी आदतें पड़ें, भूलों-क्षतियों का सुधार हो और आराधना में भावोल्लास बढ़े ऐसे सुशील साधुओं का ही संग करे। भावसाधु को वर्तमान जीवन से अधिक भावी यात्रा की चिंता होती है। इसलिये वह अनुकूलता, भावनाएं, मान-सम्मान, बाह्य-विकास के अवसर आदि का इच्छुक नहीं होता है।

(४) ज्ञान-दर्शन-चारित्र : ज्ञान :-

भावसाधु अभिनव ज्ञान की प्राप्ति के लिये निरंतर शास्त्राभ्यास करते हैं। उनका शास्त्राभ्यास विस्तृत होता है। उन्हें शास्त्राभ्यास में कभी तृप्ति नहीं होती है। वे मानते हैं कि, सर्वाधिक जिसकी आराधना की जा सकती है और जिससे सर्वाधिक आनंद की प्राप्ति हो सकती है, ऐसी साधना एकमात्र ज्ञानाभ्यास ही है और सभी तारक तत्त्वों (बोध-विवेक-श्रद्धा-वैराग्य-त्याग आदि) को आत्मसात् करने का यही परम साधन है। **दर्शन :-** भावसाधु भगवंत दर्शन शुद्धि के लिये विविध प्रकार की आराधनाएं और दर्शन प्रभावक सम्मतितर्क आदि ग्रंथों का अध्ययन करके स्याद्वाद की रुचि पैदा करते हैं। इससे उन्हें सर्वज्ञ परमात्मा ने पदार्थों को जिस प्रकार का बताया है, पदार्थ उसी प्रकार से प्रतिभासित होते हैं। **चारित्र :-** भावसाधु भगवंत चारित्र शुद्धि के लिये जागृत - अप्रमत्त बनकर सभी अनुष्ठानों का सेवन करते हैं। **अभिनव ज्ञानाभ्यास की रुचि, दर्शन शुद्धि की अभिलाषा और चारित्र शुद्धि की चाहत से उनकी भावसाधुता का अनुमान लगता है।**

(५) आराधना :-

भावसाधु चरमकाल में निर्यामणा रूपी आराधना करते हैं। मोक्षाभिलाषी साधु भगवंत जीवन के अंतिम काल में संप्राप्त चारित्र आगामी भवों में प्राप्त हो, इसके लिये अंतिमकाल की आराधना में इन्द्रियों-कषायों की **संलेखना** (अत्यंत संकोच) करते हैं और आत्मा को श्रुत से भावित करने का यत्न करते हैं। भावसाधुओं को एकमात्र मोक्ष की चाहत होती है। स्वप्न में भी संसार के भोगों की वे कभी इच्छा नहीं करते। इसलिये मोक्ष के अनन्य कारण चारित्र की उज्ज्वल परिणतियां प्राप्त करके अप्रमत्त भाव उजागर करके क्षपकश्रेणी का प्रारंभ करके घनघाती कर्मों का क्षय करना होता है। परन्तु उस अवस्था में पहुंच नहीं पाए। लेकिन पहुंचना वहीं है, लेकिन भव समाप्ति का अवसर आकर खड़ा हो जाता है। इस अवसर पर संप्राप्त चारित्र के परिणाम-

संस्कार दृढ़-दृढ़तर बनें और आगामी भव में पुनः चारित्र धर्म की प्राप्ति हो और मोक्ष यात्रा आगे बढ़े, ऐसी इच्छा होती है। इसे सार्थक करने के लिये संप्राप्त चारित्र के परिणाम दृढ़-दृढ़तर बनें, काया की पीड़ा में आर्तध्यान न हो और मोक्ष का लक्ष्य प्रतिक्षण जीवित रहे और विषय-कषाय के संस्कार जागृत न हों अथवा उनके प्रति ध्यान न चला जाए, इसलिये अंतिम भव्य आराधना करते हैं। अंतिम समय पर जीवन परिवर्तन और देहादि की पीड़ा मन में दुर्ध्यान की संभावना पैदा करती है। भावसाधु अपने वैराग्य भाव को तथा शुद्ध लक्ष्य को देदीप्यमान रखकर उन पर विजय प्राप्त करते हैं।

(६) विनय :- ज्ञानादि संबंधी उपचार :-

भावसाधु ज्ञानी-चारित्री के प्रति सन्मान भाव रखते हैं और इस सन्मान भाव की अभिवृद्धि के लिये उनकी भक्ति (उपचार) करते हैं अथवा ज्ञानादि सम्बंधी ५२ प्रकार के जो आचार शास्त्रों में बताये गये हैं, जिन्हें विनय के प्रकार कहा गया है, उन आचारों में सम्यग् प्रवृत्ति करते हैं। भावसाधु को अपने ज्ञानादि योग उत्कृष्ट स्तर पर पहुंचाने होते हैं। इसलिये वह ज्ञान-ज्ञानी और चारित्र-चारित्री के प्रति सन्मानभाव रखता है।

(७) तप :-

भावसाधु शक्ति के अनुसार बाह्य और आंतरिक बारह प्रकार का तप करता है। भावसाधु चारित्र की शुद्धि चाहता है। इसके लिये अपने मन-वचन-काया के तीनों योगों को तथा वृत्ति-परिणति को विशुद्ध-विशुद्धतर बनाने की उसकी अभिलाषा होती है। इसलिये वह बाह्य और आंतरिक दोनों प्रकार के तप में उज्ज्वल बनता है। यद्यपि अहिंसक भावों तथा संयम की परिणतियों की प्राप्ति हेतु विषय-कषाय को तपानेवाले आंतरिक तप अत्यंत आदरणीय होते हैं। (तप और उसका उपबृंहक (सहायक) बाह्य तप अत्यावश्यक है।

(८) क्षान्ति-क्षमा :-

भावसाधु सभी जीवात्माओं के प्रति क्षमा धारण करते हैं। अपराधी के लिये भी प्रतिकूल विचार नहीं करते हैं। कोई अज्ञानी जीवात्मा क्रोध करे तो भी वे उसके प्रति क्रोध नहीं करते हैं। भावसाधु यश-अपयश, निंदा-प्रशंसा आदि से ऊपर उठ चुके होते हैं। वह मानता है कि यह सब कर्म के विकार हैं, आत्मा का इनसे कोई लेना-देना नहीं है। यशादि से आत्म विकास नहीं होता है, वैसे ही निंदादि से आत्म विकास अवरुद्ध भी नहीं होता है। इसलिये वे उनसे ऊपर उठकर जीवन जीते हैं। इससे कोई निंदादि करे, अपयश मिले ऐसी प्रवृत्ति करे, तो भी वे क्षमा को धारण किये रहते हैं।

(९) मार्दव :-

कैसे भी ज्ञानादि का उत्कर्ष प्राप्त हो तो भी भावसाधु नम्र-मृदु होते हैं, अभिमान नहीं करते हैं।

(१०) ऋजुता :-

सभी प्रवृत्तियों में सरल भाव से प्रवृत्त रहते हैं। मन, वचन और व्यवहार में वक्रता नहीं रखते हैं। कोई मायापूर्वक व्यवहार करे तो भी भावसाधु को माया करने का मन नहीं होता है। भावसाधु कभी अच्छा दिखने का अथवा कुछ छिपाने का प्रयत्न नहीं करते हैं।

(११) तितीक्षा :-

भावसाधु क्षुधादि परिषह आने पर व्याकुल नहीं होते हैं, अपितु तितीक्षा भावना से मन को भावित करते हैं। परिषह शरीर के लिये भले ही बाधक हों, परन्तु मेरी आत्मा के लिये बाधक नहीं हैं, ऐसा विचार करके उन्हें अच्छे ढंग से सहन करने का प्रयत्न करते हैं।

(१२) मुक्ति :-

धर्मोपकरण में मूर्च्छा का अभाव होता है। सभी परिग्रहों के त्यागी साधु

भगवंत धर्म वृद्धि और संयम रक्षार्थ जो वस्त्रादि उपकरण ग्रहण करते हैं, उन पर भी वे कोई मूर्च्छा नहीं रखते हैं और धर्म वृद्धि-चरित्र रक्षा के प्रयोजन के बिना कोई उपकरण उपयोग नहीं करते हैं। इस प्रकार वे मूर्च्छा रहित होते हैं। इसके अलावा मान-सन्मान, यश-कीर्ति आदि की भी स्पृहा नहीं होती है। उन्हें तो एकमात्र मोक्ष की चाहना होती है। इसलिये यशादि मिले तो भी उससे निर्लेप ही रहते हैं।

(१३) अदीनता :-

अशनादि के अलाभ में खेद नहीं करते हैं। साधु भगवंत संयम के उपष्टभक अशनादि (भात-पानी आदि) अथवा वस्त्रादि की गवेषणा करते हैं, तब निर्दोष वस्त्रादि की प्राप्ति न हो तो उसकी दीनता नहीं रखते हैं। बल्कि स्वस्थतापूर्वक गवेषणा में पुरुषार्थ करते हैं।

(१४) आवश्यक की विशुद्धि :-

अवश्यकरणीय संयम की क्रियाएं निरतिचार बनाने का प्रयत्न करते हैं। साधु भगवंत अवश्यकरणीय प्रतिक्रमणादि सभी क्रियाएं अतिचार रहित विशुद्ध बनाने का निरंतर प्रयास करते हैं।

➡ भाव भिक्षु का स्वरूप :-

भाव भिक्षु का स्वरूप दर्शानेवाले भिक्षु बत्तीसी में (श्लोक-१ से १७ में) कहा गया है कि...

(१) भाव भिक्षु द्रव्य-भाव घर (गृह से) निकलकर गुरु कथित वचन में निरंतर मन को लगाए रखकर स्त्री के वश में नहीं होते हैं और त्यागे हुए विषयों की ओर दृष्टि भी नहीं करते हैं।

(२) भाव भिक्षु सुख के इच्छुक और दुःख के द्वेषी छह जीविकाय के जीवात्माओं को आत्मतुल्य मानकर महाव्रतों के पालन में रत रहते हैं।

(३) **भाव भिक्षु** मोक्ष पद के कारण योग में (साधु प्रायोग्य समिति-गुप्ति आदि सभी धार्मिक व्यवहारों में) उद्यमशील होते हैं, त्रस-स्थावर जीवात्माओं के घात से बने औद्देशिक आहार को ग्रहण नहीं करते हैं और चार कषाय का वमन करते हैं।

(४) **भाव भिक्षु** स्वर्ण-रजत आदि परिग्रह रहित, सम्यग्दर्शनवाले, तप-संयम की बुद्धि में रमण करनेवाले, गृहस्थ का संग नहीं करनेवाले होते हैं।

(५) **भाव भिक्षु** भविष्य के लिये आहारादि की सन्निधि नहीं रखते हैं, सहवर्ती महात्माओं को आमंत्रित करके उनकी भक्ति करके गोचरी ग्रहण करते हैं और गोचरी ग्रहण करके स्वाध्याय करते हैं अर्थात् अंशतः भी प्रमाद नहीं रखते हैं।

(६) **भाव भिक्षु** धर्मकथा में क्रोध नहीं करते हैं, अन्य सहवर्तियों के साथ कलह का अत्यंत वर्जन करते हैं, उचित प्रवृत्तियों का आदर करते हैं और अनुचित प्रवृत्तियों का आदर नहीं करते हैं।

(७) **भाव भिक्षु** आक्रोशादि को सहन कर लेते हैं, भय के कारणों में भयभीत नहीं होते हैं।

(८) **भाव भिक्षु** कोई अन्य दुर्वचनों से आक्रोश व्यक्त करे, लकड़ी आदि से प्रहार करे अथवा खड्गादि से वार करे, तो भी पृथ्वी की भांति प्रतिकार नहीं करते हैं, देह के प्रति ममत्व रहित होते हैं और नियाणा (धर्म के बदले में भौतिक ऋद्धि की मांग स्वरूप नियाणा) रहित तथा कुतूहलता से भी रहित होते हैं।

(९) **भाव भिक्षु** निर्मम भाववाले होते हैं। इसलिये काया के उपद्रव में पुद्गल से भिन्न मेरी आत्मा को कोई उपद्रव नहीं, यह जानते हैं।

(१०) **भाव भिक्षु** मोक्ष के लिये सम्यग् पुरुषार्थ करते हैं, आत्म सम्बंधी ध्यान में तत्पर होते हैं। हाथ, पैर, वाणी से संयत होते हैं, इन्द्रिय विजेता होते हैं, सूत्र व अर्थ का चिंतन करते हैं।

(११) भाव भिक्षु शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं, अप्राप्त आहार की इच्छा नहीं करते हैं और प्राप्त आहार में लुब्ध नहीं होते हैं। (१२) भाव भिक्षु ऋद्धि, सत्कार, मान-सन्मान, पूजा और असंयम जीवित नहीं चाहते हैं। (१३) भाव भिक्षु कोई क्रोधित हो, ऐसा नहीं बोलते हैं, स्वपक्ष के साधु से अन्य साधुओं को कुशील नहीं कहते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप को जानते हैं और (इसलिये) जाति आदि के मद से रहित होते हैं। (१४) भाव भिक्षु स्वयं शुद्ध धर्म में स्थित होते हैं, अन्य को भी शुद्ध धर्म का स्वरूप बताते हैं, उन्हें शुद्ध धर्म में स्थापित करते हैं और कुशीलों की धर्म चेष्टा नहीं करते हैं।

(१५) भाव भिक्षु उद्वेग, हास्य, शोक, रुदन-आक्रंद, जुगुप्सा और क्रीडा नहीं करते हैं। इसी प्रकार अशाश्वत व अपवित्र शरीर को शाश्वत ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त रखते हैं।

► पंच महाव्रत का पालन^३ :-

इस सर्वविरति गुणस्थानक में जैसे भाव से रत्नत्रयी की प्राप्ति होती है, वैसे ही भाव से पंच महाव्रतों का पालन होता है। महाव्रतों में पापों की संपूर्ण निवृत्ति होती है। पांच महाव्रतों का स्वरूप निम्नानुसार है।

(१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण (अहिंसा) व्रत :-

प्रमादवश सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर सभी जीवात्माओं के प्राणों का नाश करने का सर्वथा - त्रिविध-त्रिविध (मन-वचन-काया से करने-कराने-अनुमोदन करने के रूप में) यावज्जीव (आजीवन) त्याग करना, प्रथम महाव्रत है।

(२) सर्वथा मृषावाद विरमण (सत्य) व्रत :-

सभी असत्य, अप्रिय तथा अहितकर वचन से सर्वथा (मन-वचन-काया से करने-कराने अनुमोदन करने के रूप में) निवृत्ति को द्वितीय सत्यव्रत कहा जाता है।

(३) सर्वथा अदत्तादान विरमण (अस्तेय) व्रत :-

(जो दूसरों ने नहीं दिया है ऐसे) सभी प्रकार के अदत्त को आजीवन सर्वथा ग्रहण करने से बचने को तीसरा अस्तेय व्रत कहा जाता है।

(४) सर्वथा मैथुन विरमण (ब्रह्मचर्य) व्रत :-

देव-मनुष्य तथा तिर्यच सम्बन्धी, तीनों मैथुन से मन-वचन-काया द्वारा करने-कराने-अनुमोदन करने के रूप में निवृत्ति को ब्रह्मचर्य व्रत कहा जाता है।

(५) सर्वथा परिग्रह परिमाण (अपरिग्रह) व्रत :-

सभी प्रकार के बाह्य व आंतरिक परिग्रह का सर्वथा त्याग करना, पांचवां अपरिग्रह (आकिंचन्य) व्रत कहलाता है।

पूर्वोक्त पांचों व्रतों को भावित करने के लिये धर्मसंग्रह आदि ग्रंथों में पांच-पांच भावनाएं दर्शाई गई हैं। इन भावनाओं के भावनपूर्वक पंच महाव्रतों का पालन करने से अहिंसकतादि भावों की प्राप्ति होती है।

● छठवां रात्रिभोजन विरमण व्रत :-

चारों प्रकार के आहार का रात्रि में सर्वथा त्याग करने को छठवां रात्रिभोजनविरमण व्रत कहा जाता है। यह छह व्रत श्री जिनेश्वरों ने साधुता के मूल गुण कहा है।

➡ साधु जीवन में चरण सित्तरी-करण सित्तरी का पालन :-

साधु भगवंतों को मूल गुण स्वरूप चरण सित्तरी और उत्तरगुण स्वरूप करण सित्तरी का निरंतर पालन करना होता है। जो गुण मूलगुणों को पुष्ट करें, सहायक हों उन्हें उत्तरगुण कहा जाता है। अब चरण सित्तरी और करण सित्तरी को क्रमशः समझेंगे।

→ चरण सित्तरी :-

चरण सित्तरी का स्वरूप ओघ निर्युक्ति भाष्य में निम्नानुसार दर्शाया गया है-

वय^५ समणधम्म^{१०} संजम^{१७} वैयावच्चं^{१०} च बंभगुत्तीओ^९ ।

नाणाइतिअं^३ तव^{१२} कोहनिग्गहाई^४ चरणमेअं ।।

- ५ (महा) व्रत, १० प्रकार का साधुधर्म-यतिधर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार की वैयावच्च, ९ प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति, ३ ज्ञानादि गुण, १२ प्रकार के तप, ४ क्रोधादि कषायों का निग्रह, इस प्रकार (७० प्रकार से) चरण (चारित्र-मूलगुण) हैं।

- पूर्वोक्त ७० प्रकार के मूल गुण हैं। इनमें दसविध यतिधर्म के अतिरिक्त शेष गुण एक या दूसरे प्रकार से पूर्व में वर्णित हो चुके हैं, इसलिये इनके विषय में विशेष जानकारी धर्मसंग्रह आदि ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं। दसविध यतिधर्म का स्वरूप हम आगे देखेंगे।

→ करण सित्तरी :-

करण सित्तरी का स्वरूप इस प्रकार है -

पिंडविसोही⁴ समिई⁵ भावणा¹² पडिमा¹² य इंदियनिरौहो⁵ ।

पहिलेहण²⁵ गुत्तीओ³ अभिगगहा⁴ चेव करणं तु ॥

- चार प्रकार की पिंड विशुद्धि, पांच समिति, बारह अनित्यादि भावना, बारह प्रतिमा (अभिग्रह विशेष), पांच इन्द्रियों का निग्रह, पच्चीस प्रतिलेखना, तीन गुप्ति और चार प्रकार के अभिग्रह : इस प्रकार ७० प्रकार के करण (साधनधर्म-उत्तर गुण) हैं।

इन ७० प्रकार के उत्तर गुणों के विषय में धर्मसंग्रह, पंचाशक आदि ग्रंथों से जानकारी प्राप्त कर लें। यहां साधु दिनचर्या के अनन्य भाग स्वरूप पांच समिति एवं तीन गुप्ति का आंशिक स्वरूप आगे देखेंगे।

► दस प्रकार का यतिधर्म :-

दस प्रकार का यतिधर्म - साधुधर्म निम्नानुसार है।

खंती महवअज्जवमुत्ती तवसंजमे य बोद्धव्वे ।

सच्चं सोअं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥

- (१) क्षमा, (२) मार्दवता, (३) आर्जवता, (४) मुक्ति, (५) तप, (६) संयम, (७) सत्य, (८) शौच (पवित्रता), (९) अकिंचनता (निष्परिग्रहता) और (१०) ब्रह्मचर्य : इस प्रकार दस प्रकार का यति (साधु) धर्म समझना चाहिये।

(१) क्षमा :-

अन्य के अपराध, कटुवचन, आक्रोश आदि को माफ करना क्षमा कहलाता है। इस क्षमा के पांच प्रकार हैं। (१) उपकार क्षमा, (२) अपकार क्षमा, (३) विपाक क्षमा, (४) वचन क्षमा और (५) सहज क्षमा^४।

उपकारी व्यक्ति आक्रोशादि करे तब “यह तो मेरा उपकारी है, उस पर क्रोध कैसे किया जा सकता है? क्रोध करूंगा तो वह मुझ पर उपकार नहीं करेगा” ऐसा सोचकर क्रोध के निमित्तों में क्रोध न करना **उपकार क्षमा** है। “गुस्सा करने से सामनेवाला व्यक्ति मेरा विरोधी हो जाएगा। भविष्य में मुझे दुःखी कर सकता है अथवा मुझ पर अपकार कर सकता है।” ऐसा सोचकर गुस्से के निमित्तों में भी गुस्सा न करना **अपकार क्षमा** कहलाती है। क्रोध के परिणाम का चिंतन करके उसके आलोक-परलोक के अनर्थकारी फलों का विचार करके, इस प्रकार के निमित्तों में भी गुस्सा नहीं करना **विपाक क्षमा** कहलाती है। यह **तीन प्रकार की क्षमा सापेक्ष और लौकिक होती है।** क्योंकि इस प्रकार के अक्षमा के निमित्तों में विविध प्रकार के भावों को लेकर उपकार आदि क्षमा होती है और इन तीन क्षमा में भौतिक नुकसान से बचने का भाव होने के कारण ये तीनों लौकिक क्षमा हैं। **क्रोध के निमित्तों में भी शास्त्र वचन के स्मरण से ‘मेरे भगवान ने क्रोध करने से मना किया है।’ ऐसा सोचकर क्षमा धारण करे- गुस्सा न करे, यह वचन क्षमा कहलाती है।** वचन क्षमा के बार-बार अभ्यास से जिनवचन के स्मरण के बिना ही क्रोध नहीं करने का स्वभाव तैयार हो जाता

है, तब क्रोध के निमित्तों में भी गुस्सा न करे, वह सहज क्षमा (धर्म क्षमा) होती है। वचन क्षमा और सहज क्षमा लोकोत्तर है। क्योंकि वचन क्षमा जिनवचन से नियंत्रित है और सहज क्षमा आत्म स्वरूप के अनुकूल भाव से प्रकट होती है।

वचन क्षमा जिनवचनानुसार संयम जीवन में यत्न करनेवाले मुनि भगवंतों में होती है। जिन वचनानुसार प्रवृत्ति के अति अभ्यास से (वचनानुष्ठान के दीर्घकालीन अभ्यास से) प्राप्त होनेवाली सहज क्षमा (धर्म क्षमा) असंगानुष्ठान में होती है। यह क्षमा चंदनगंध न्याय से जीवात्मा के स्वभाव रूप होती है अर्थात् मुनि भगवंतों को वचनानुष्ठान में वचन क्षमा और असंगानुष्ठान में सहज क्षमा होती है। (दीक्षा बत्तीसी)

विंशति विंशिका में (यतिधर्म विंशिका में) कहा गया है कि, जिस कारण तीनों योगों से (मन-वचन-काया के योगों से) बारह कषायों का (अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानिय और प्रत्याख्यानिय कषायों का) क्षयोपशम होने के बाद यतिधर्म प्राप्त होता है, उसी कारण से यतिधर्म में अंतिम दो (वचन-सहज) क्षमा होती हैं और यतिधर्म में जो अतिचार लगता है वह संज्वलन कषाय के उदय से लगता है तथा संज्वलन कषाय अल्प ज्वलन स्वरूप होता है। इसलिये मुनि जीवन में उपकार, अपकार या अनर्थकारी परिणाम के चिंतन की अपेक्षा से क्षमा नहीं होती है। बल्कि भगवान के वचनानुसारी वचन क्षमा और अति अभ्यास के बल से सहज क्षमा ही होती है। इसके अलावा छठवें गुणस्थानक में यतिधर्म होता है, यह यतिधर्म भव-अटवी में दुर्ग का (विषम स्थान के) उल्लंघन रूप कहा गया है, इसलिये यतिधर्म में लोक चिंता नहीं होती है। इस प्रकार सभी प्रकार के पंचाश्रव से निवृत्त यति में प्रथम वचन क्षमा और बाद में धर्म क्षमा होती है।

(२) मार्दवता :- कैसा भी ज्ञानादि का उत्कर्ष प्राप्त हो, तो भी विनम्र रहने को मार्दवता कहा जाता है। यहां भी शास्त्र में मार्दवता उपकार आदि भेद से

पांच प्रकार की बताई गई है। भाव यति में पूर्वकथित नीति के अनुसार अंतिम दो मार्दवता होती हैं।

(३) **आर्जवता** :- मन-वचन-काया से सरल रहने को आर्जवता कहते हैं। हृदय और व्यवहार में, मन में तथा व्यवहार में सरल रहने को आर्जवता कहते हैं। इसके भी उपकार आदि पांच भेद हैं और भाव यति में पूर्वोक्त नीति के अनुसार अंतिम दो आर्जवता होती हैं।

(४) **मुक्ति** :- कैसी भी अनुकूल सामग्री प्राप्त हो तो भी लोभ न करना मुक्ति - निर्लोभता कहलाती है। किसी भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर प्रतिबंध न होना निर्लोभता कहलाती है। निर्लोभता भी उपकार आदि भेद से पांच प्रकार की है और पूर्वोक्त नीति के अनुसार भाव यति में अंतिम दो प्रकार की होती है। साधु भगवंत गृहवास से निकलकर मुक्ति की ओर प्रयाण कर चुके हैं। इसलिये उन्हें द्रव्य-क्षेत्रादि में कहीं भी फंसना स्वीकार नहीं। इसलिये वे कहीं रुकते नहीं।

(५) **तप** :- आलोक-परलोक के सुखों की अपेक्षा रहित अनशनादि जो अनेक प्रकार के अनुष्ठान हैं, वे यतिधर्म में तप कहलाते हैं। तप का स्वरूप पूर्व में विस्तार से दर्शाया गया है।

(६) **संयम** :- संयम अर्थात् स्थिर होना, नियमन करना, निग्रह करना। हिंसादि पांच आश्रवों से सर्वथा बचना, पांच इन्द्रियों का निरोध करना, चार कषाय पर विजय पाना और तीन दंड (मन-वचन-काया) की विरति करना, **इस प्रकार सत्तरह प्रकार का संयम है।** यतिधर्म में यह सत्तरह प्रकार का संयम होता है। साधु भगवंतों को आश्रव द्वार बंध करके संवर भाव में रहकर कर्म निर्जरा सिद्ध करनी होती है। इसलिये सत्तरह प्रकार के आश्रव के द्वार रूपी असंयम का त्याग करके संयम में आरूढ़ होते हैं।

(७) **सत्य** :- गुरु व सूत्र से अनुज्ञात (अनुज्ञा प्राप्त) होता है, दूसरों का उपताप नहीं करता है, दोष रहित और निश्चित स्व दर्शन के विषय में यति का

जो हित-मित भाषण होता है, वह सत्य नामक यतिधर्म होता है।⁵ भाव यति हित-मित-पथ्य-प्रिय वचन ही बोलता है और उपदेश दान के समय जैन दर्शन के तत्त्वों का प्रकाशन करता है। इसके अलावा कभी-कभी जब अन्य दर्शन के पदार्थों का निरूपण हो रहा हो तब भी जैन दर्शन की पुष्टि के लिये अथवा जैन दर्शन की सर्वोपरिता का वर्णन करता है। साधु भगवंत अपना हित करने के लिये संसार से निकलते हैं और संभव हो तो दूसरों का भी हित कर देते हैं। इसलिये उनका कोई भौतिक स्वार्थ नहीं होता है, मान-सन्मान आदि की उन्हें कोई भूख नहीं होती है। इसलिये किसी भी स्थल या विषय में असत्य नहीं बोलते हैं। बोलना ही पड़े तो सत्य बोलते हैं।

(८) शौच - पवित्रता :- मन-वचन-काया की पवित्रता को शौच कहा जाता है। भावयति तीनों योग के प्रवर्तन में कहीं भी अतिचार लगे तो विधिपूर्वक दस प्रकार के प्रायश्चित्त रूपी जल से उसका प्रक्षालन करता है। यह द्रव्य शौच से युक्त भावयति का जो प्रशस्त परिणाम है, वह भाव शौच नामक यतिधर्म है।⁶

(९) अकिंचनता - निष्परिग्रहता :- कोई भी द्रव्य न होना अकिंचनता कहलाता है। किंचित् द्रव्य भी न होना अर्थात् अकिंचनता। उपलक्षण से शरीर और धर्मोपकरण के विषय में ममत्व का अभाव अकिंचनता कहलाती है। यतिधर्म विंशिका में पक्षी की उपमा से कहा गया है कि, (जैसे पक्षी कभी अपना निवासस्थान नहीं बनाता है और किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता है तथा मात्र अंडे रखने के अवसर पर ही घोंसला बनाता है, वैसे ही) भावयति धर्मोपकरण के अतिरिक्त किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता है, उनमें किसी वस्तु का संग्रह करने की वृत्ति नहीं होती है। क्योंकि उन्हें मोक्ष की अभिलाषा होती है। इसलिये उन्हें मात्र गुण ही इष्ट होते हैं। उनके अतिरिक्त सभी चीजों को वे मार्ग में बाधक मानते हैं।

(१०) **ब्रह्मचर्य :-** ब्रह्म (आत्मा) में मनोवृत्ति होने के कारण मैथुन-संज्ञा का विजय होने से पांच प्रकार के प्रविचार का (कायकृत भोगक्रिया, विजातीय स्पर्श, विजातीय रूप देखने में आनंद, विजातीय के शब्द सुनने में आनंद और विजातीय के विचार-स्मरण में आनंद आने स्वरूप पांच प्रकार के प्रविचार का) परित्याग **सुपरिशुद्ध ब्रह्मचर्य** कहलाता है। (पांच प्रकार का प्रविचार मैथुन योगवाला, मोह के उदयवाला और रति के फलवाला होता है।) इन पांच प्रविचार का परित्याग **विशुद्ध ब्रह्मचर्य** है। इस तरह से दस प्रकार का यतिधर्म है।

■ बारह प्रकार की अविरति का त्याग :-

इस छठवें गुण स्थानक में १२ प्रकार की अविरति का सर्वथा (मन-वचन-काया से करने-कराने-अनुमोदन करने के रूप में) त्याग होता है। १२ प्रकार की अविरति इस प्रकार है - (१) पृथ्वीकाय का वध, (२) अप्काय का वध, (३) तेउकाय का वध, (४) वायुकाय का वध, (५) वनस्पतिकाय का वध, (६) त्रसकाय का वध, (७-११) स्पर्शेन्द्रिय आदि पांच इन्द्रियों को अपने अनुकूल विषयों में जोड़ना और प्रतिकूल विषयों से बचाना, (१२) मन को अपने अनुकूल पदार्थों में जोड़ना तथा प्रतिकूल पदार्थों से बचाना, इन बारह प्रकार की अविरति का त्याग करना भावयति के लिये अत्यावश्यक है।

■ अष्टप्रवचन माता का सांनिध्य :-

जैसे बालक के लिये माता का सांनिध्य सुखकारी होता है, वैसे ही साधु भगवंतों के लिये अष्ट प्रवचनमाता का सांनिध्य अत्यंत सुखकारी होता है। **जैसे माता बालक के शरीर को जन्म देती है, उसका परिपालन करती है और शुद्ध रखती है, वैसे ही यह पांच समिति और तीन गुप्ति रूपी अष्ट प्रवचनमाता साधु भगवंतों के चरित्र रूपी शरीर को जन्म देती है, परिपालन करती है और विशुद्ध रखती है।**⁷ इसलिये साधु भगवंत प्रति क्षण अष्ट प्रवचनमाता के सांनिध्य में रहते हैं। अब क्रमशः पांच समिति-गुप्ति का स्वरूप देखेंगे।

► पांच समिति :-

जैन परिभाषा में पांच प्रकार की सम्यग् चेष्टा को **समिति** कहा जाता है।^८ साधु भगवंत जीवात्माओं की रक्षा हो, किसी जीवात्मा को पीड़ा न हो, नई जीवोत्पत्ति न हो, किसी को मनदुःख-द्वेष न हो और अपने संयम जीवन का अच्छी तरह से निर्वहन हो, इसलिये पांच समिति का प्रतिदिन निरंतर सेवन करते हैं। (१) **इर्या समिति** :- संयम निर्वाह के लिये (बाहर) आते-जाते समय जीवात्माओं की रक्षा के लिये एक युग (धुंसरी) प्रमाण भूमि को देखते हुए, किसी जीवात्मा का स्पर्श न हो, इस प्रकार ऊंची-नीची, कीचड़वाली भूमि का त्याग करते हुए चलना, इर्यासमिति कहलाती है। (२) **भाषा समिति** :- प्रयोजनवश हित, मित, पथ्य, निरवद्य और असंदिग्ध वचन बोलने को भाषा समिति कहते हैं। (३) **एषणा समिति** :- साधु भगवंत जीवन निर्वाह के लिये जो आहारादि और वस्त्रादि ग्रहण करते हैं, वह निर्दोष ग्रहण करना एषणा समिति है। (४) **आदाननिक्षेप समिति** :- आसन, संथारा आदि उपकरण तथा वस्तु को देखकर और उपयोगपूर्वक रजोहरण आदि से पडिलेहण करके लेना-पकड़ना तथा देखी हुई और प्रमार्जन की हुई भूमि पर उपयोगपूर्वक रखना आदान निक्षेप समिति कहलाती है। (५) **परिष्ठापना समिति** :- स्थंडिल, मात्रु, थूंक, शरीर का मेल, निरुपयोगी वस्त्र आदि निर्जीव और शुद्ध भूमि में उपयोगपूर्वक त्याग करना परिष्ठापना समिति कहलाती है। साधु भगवंतों ने किसी भी जीवात्मा की किसी भी प्रकार से हिंसा-पीड़ा न हो, ऐसी प्रतिज्ञा ली है, इसका पालन इन पांच समितियों से होता है।

► तीन गुप्ति^९ :-

जिससे आत्मा की रक्षा हो, उसे **गुप्ति** कहा जाता है। मन-वचन-काया का निग्रह करने के रूप में गुप्ति तीन प्रकार की होती है। (१) मनो गुप्ति, (२) वचन गुप्ति और (३) काय गुप्ति।

→ **मनोगुप्ति¹⁰** :- मनोगुप्ति भी तीन प्रकार की है। (१) आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान के कारणभूत मन की अशुभ कल्पनाओं को दूर करनेवाली **प्रथम प्रकार की मनोगुप्ति है।** (२) धर्मध्यान में कारण शास्त्रानुसारी, परलोक में हित करनेवाली मन की माध्यस्थ (राग-द्वेष से रहित) परिणति विकसित होना **दूसरी मनोगुप्ति है और** (३) मन के कुशल-अकुशल (शुभ-अशुभ) सभी विकल्पों के त्यागपूर्वक चौदहवें गुणस्थानक में योग निरोध अवस्था में होनेवाली आत्मानंद रूपी आत्म परिणति **तीसरी मनोगुप्ति है।**

→ **वचनगुप्ति¹¹** :- सर्वथा मौन रहना अथवा शास्त्र-सापेक्ष बोलने को **वचनगुप्ति** कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है। (१) मुख-नेत्र-अंगुली आदि की संज्ञाओं के त्यागपूर्वक वचन से मौन रहना **प्रथम वचन गुप्ति है और** वाचना लेना, पृच्छा करना, किसी के द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर देना आदि संयम के कारण मुख पर मुखवस्त्रिका रखकर शास्त्र-सापेक्ष वचन बोलनेवाले के लिये वाणी नियंत्रण रूपी **दूसरी वचन गुप्ति है।**

→ **कायगुप्ति¹²** :- काय गुप्ति दो प्रकार की होती है। एक सर्वथा काय चेष्टा का त्याग करना और दूसरी आगमानुसार चेष्टा का नियमन करना। इसमें परीषह-उपसर्गादि के दौरान अथवा उनके बिना कायोत्सर्ग आदि से काया को निश्चल करना या सर्व योगों के निरोध के दौरान काय चेष्टा का सर्वथा निरोध करना पहली काय गुप्ति कहलाती है और गुर्वाज्ञापूर्वक वस्त्रादि का पडिलेहण करना आदि शास्त्रोक्त क्रियाएं करनेवाले साधु के लिये शयन करना, उठना-बैठना, रखना-उठाना आदि कार्यों में अजयणा और स्वच्छंदता का त्याग करके शरीर से आगमानुसारी नियत प्रवृत्ति करना दूसरी कायगुप्ति कहलाती है।

शास्त्रों में कहा गया है कि, अज्ञानी जीवात्मा जिन कर्मों की निर्जरा करोड़ों वर्षों में कर पाता है, उन्हीं कर्मों की निर्जरा पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल में कर लेता है।¹³ यहां यह सूचित होता है कि कर्म नाश में ज्ञान के साथ-साथ पांच समिति और तीन

गुप्ति का पालन अत्यावश्यक है और उनका पालन इस गुणस्थानक में ही संभव है। यह भी सूचित होता है कि समिति-गुप्ति के पालन के बिना ज्ञानी को पूर्व निर्दिष्ट फल प्राप्त नहीं होता है।

■ साधु में पूर्ण धर्म :-

छठवें गुणस्थानक में साधु भगवंतों में पूर्ण धर्म होता है अर्थात् साधुधर्म की पूर्णता होती है। यह पूर्ण धर्म किस कारण से होता है, यह दर्शाते हुए “साधु सामग्र्य द्वात्रिंशिका” में कहा गया है कि,

ज्ञानेन ज्ञानिभावः स्याद् भिक्षुभावश्च भिक्षया ।

वैराग्येण विरक्तत्वं संयतस्य महात्मनः ॥१॥

- सुसंयत महात्मा में ज्ञान से ज्ञानी भाव, भिक्षा से भिक्षु भाव और वैराग्य से विरक्तता होती है।

■ ज्ञान से ज्ञानीभाव :-

संयत महात्माओं को जिनवचनानुसार जगतवर्ती तत्त्वों का बोध होता है। इस बोध के सहारे सम्यक् प्रवृत्ति करके तत्त्व का यथार्थ संवेदन करते हैं। हेय का हेयरूप में और उपादेय का उपादेयरूप में संवेदन करते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञान से नियंत्रित तत्त्व संवेदन के कारण संयत महात्माओं में ज्ञानी भाव होता है।

ज्ञान के तीन प्रकार हैं। (१) विषय प्रतिभास ज्ञान, (२) आत्म परिणतिमत् ज्ञान और (३) तत्त्व संवेदन ज्ञान। जो जीवात्मा मिथ्या दृष्टि है। उसे जगतवर्ती पदार्थों में “यह मेरे लिये उपयोगी है और यह मेरे लिये अनुपयोगी है” ऐसा बोध होता है अर्थात् उसे मात्र विषय का प्रतिभास होता है। उसे उन पदार्थों के विषय में हेय-उपादेय का बोध नहीं होता है, इसलिये हेय-उपादेय के विवेक रहित इस बोध को **विषय प्रतिभास** नामक ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान गुणस्थानक से बाहर स्थित प्रगाढ़ मिथ्यादृष्टि जीवात्माओं में होता है और अपुनर्बन्धक अवस्था के रूप में (मिथ्यात्व की मंदताप्राप्त) प्रथम चार दृष्टियों

को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं में भी होता है। इसके बावजूद योग की भूमिका में प्रविष्ट प्रथम चार दृष्टिवाले जीवात्माओं में यह विषयप्रतिभास ज्ञान घटता जाता है। क्योंकि उनका विवेक क्रमशः खिलता जाता है और इस कारण वे आत्मपरिणतिमत् ज्ञान के सन्मुख पहुंचते जाते हैं।

प्रथम गुणस्थानकवर्ती प्रथम चार दृष्टिवाले साधक जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, तब उनका ज्ञान आत्मपरिणतिवाला बनता है। सम्यग्दृष्टि जीवात्माओं में (चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती जीवात्माओं में) अविरति का उदय प्रवर्तमान होने से उनका ज्ञान तत्त्वसंवेदन रूप ज्ञान नहीं होता है। यह आत्मपरिणामवाला ज्ञान पांचवें गुणस्थानक के अंत तक होता है और जब प्रत्याख्यानी कषायों का क्षयोपशम होता है - १२ प्रकार की अविरति आपादक कर्मों का क्षयोपशम होता है, तब वही ज्ञान तत्त्वसंवेदन ज्ञान बन जाता है। तत्त्वसंवेदन ज्ञान में हेय का हेयरूप में और उपादेय का उपादेय रूप में संवेदन होने के साथ ही हेय की निवृत्ति और उपादेय की प्रवृत्ति होती है अर्थात् छठवें गुणस्थानक में मुनियों को परमार्थ का सच्चा संवेदन होता है और इससे प्रेरित होकर आत्म हितार्थ अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं तथा आत्म-अहितकर प्रवृत्ति से निवृत्त होते हैं। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, विषयप्रतिभास ज्ञान की उपस्थिति में निश्चित (बिना कांपे) पाप की प्रवृत्ति होती है। आत्मपरिणतिमत् ज्ञान में सकंप (कंपित हृदय से) पाप की प्रवृत्ति होती है और तत्त्वसंवेदन ज्ञान की उपस्थिति में पाप प्रवृत्ति की संपूर्ण निवृत्तिपूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति-निवृत्ति के आधार पर ज्ञान का अनुमान लगाया जाता है।¹⁴ (तीनों ज्ञान का विशेष स्वरूप साधुसामग्र्य बत्तीसी, अष्टक प्रकरण, षोडशक आदि ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं।)

► भिक्षा से भिक्षुभाव :-

साधु भगवंतों में सर्वसंपत्करी भिक्षा से भिक्षु भाव होता है। भिक्षा तीन

प्रकार की है।¹⁵ (१) सर्वसंपत्करी भिक्षा, (२) पौरुषध्नी भिक्षा और (३) वृत्ति भिक्षा।

साधु भगवंत सभी आरंभों से निवृत्त होते हैं। इसलिये भगवान ने उन्हें संयम जीवन का निर्वाह भिक्षा से करने के लिये कहा है। जो साधु भगवंत सदा अनारंभी हैं, ध्यान-अध्ययन से युक्त हैं और गुर्वाज्ञा के पालन में रत हैं, उनकी भिक्षा को **सर्वसंपत्करी भिक्षा** कहा जाता है।¹⁶ तत्त्वसंवेदन ज्ञानवाले मुनि भगवंत विषय-कषाय से मुक्त होते हैं, जगत के भावों के प्रति निरपेक्ष होते हैं, समभाव (सामायिक) की वृद्धि के लिये ध्यान-अध्ययन में निरंतर रत होते हैं, सभी जीवात्माओं को आत्मतुल्य मानकर किसी भी जीवात्मा को अंशतः भी पीड़ा न पहुंचे, इसके लिये अनारंभी जीवन व्यतीत करते हैं। वे संयमसाधक भिक्षा से अपनी देह का पालन करते हैं। सर्व संपत्करी भिक्षा ग्रहण करनेवाले और दान देनेवाले दाता, दोनों के लिये हितकर (ज्ञानादि संपत्ति देनेवाली) होती है। साधु भगवंत ४२ दोषों से रहित भिक्षा स्वीकार करते हैं। इसलिये उनकी भिक्षा सदैव आरंभ के त्यागवाली होती है। इस प्रकार अनारंभ का हेतु है। इस भिक्षा से पुष्ट देह से साधु भगवंत संयम की साधना को और अच्छे ढंग से कर पाते हैं। इसलिये वह सर्व संपत्-सर्व कल्याणकर है। साधुवेश को अंगीकार करने के बाद जो साधु भिक्षा ग्रहण कर उससे आजीविका चलाता है, परन्तु भिक्षा से पुष्ट देह से संयम जीवन की साधना अच्छे से नहीं करता है, बल्कि रुचि के अनुसार कोई भी प्रवृत्ति करता है, उस साधु की भिक्षा उसके (संयम धर्म के) पुरुषार्थ का हनन करती है, इसलिये **पौरुषध्नी भिक्षा** कहलाती है। यह भिक्षा दीक्षा की विरोधी है और उससे धर्म का लाघव होता है।¹⁷

कर्म के दोष से जो गृहस्थ आजीविका के लिये अन्य क्रिया (व्यापार-धंधा) करने के लिये समर्थ नहीं, वे अपने जीवन निर्वाह के लिये जो भीख मांगते हैं, उसे **वृत्ति भिक्षा** कहा जाता है।¹⁸

संक्षेप में दाता को पीड़ा न हो, इस प्रकार अकृत (अपने लिये नहीं बनाये गये), अकारित (अपने लिये नहीं बनवाये गये) और कल्पनीय आहारादि पिंड को सर्व संपत्करी भिक्षा से ग्रहण करनेवाले साधु भगवंतों को चारित्र समृद्धि की पूर्णता प्राप्त होती है।¹⁹

➡ वैराग्य से विरक्तता :-

साधु भगवंतों में ज्ञान गर्भित वैराग्य से विरक्तता होती है और विरक्तता से (निर्लेप भाव से) चारित्र की परिपूर्णता होती है। **वैराग्य के तीन प्रकार हैं।²⁰**

(१) दुःखगर्भित वैराग्य, (२) मोहगर्भित वैराग्य और (३) ज्ञानगर्भित वैराग्य।

जो वैराग्य आर्तध्यान से युक्त हो, वह दुःखान्वित (दुःख गर्भित) वैराग्य कहलाता है अर्थात् इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से संसार के प्रति द्वेष हो और संसार की अनिच्छा हो वह **दुःख गर्भित वैराग्य** है। ऐसे वैराग्यवाले साधक मोक्ष मार्ग के उपाय में शक्ति के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करते हैं। या फिर प्रमाद के वशीभूत होकर या शाता के अर्थी बनकर शिथिल हो जाते हैं। इसके अलावा, इस दुःख गर्भित वैराग्य की उपस्थिति में संसार की निर्गुणता का ज्ञान और उससे प्रकट हुए संसार के प्रति द्वेष नहीं होता है। इससे विषय सुखों की अनिच्छा अनुत्कट होती है और वह मानसिक-शारीरिक दुःख उत्पन्न करती है। कहने का आशय यह है कि, एक ओर इस वैराग्यवाले की इच्छा पूरी नहीं होती, दूसरी ओर विषय सुख की अनिच्छा (विषय सुख में प्रवृत्ति करनी नहीं, ऐसी अनिच्छा) उत्कट नहीं होती तथा संसार की निर्गुणता के ज्ञान से प्रकट संसार के प्रति द्वेष नहीं होता। इसलिये उसे संयम जीवन में शारीरिक-मानसिक वेदना होती है।

जिसके पास संसार की निर्गुणता का अच्छा ज्ञान है। इसलिये संसार के प्रति द्वेष है और संसार के उपायभूत विषयों के प्रति भी द्वेष है, इसलिये उसे विषयों की अंशतः भी अपेक्षा नहीं होती है, उसकी विषयों की अनिच्छा उत्कट होती है। इसलिये विषय सुख के भोग रहित संयम जीवन में दुःख नहीं होता है। शाता के

अर्थी को संयम जीवन कठिन ही लगता है। संसार का अर्थी जीव रस-शाता-ऋद्धि गारव में कभी भी लिप्त हो जाता है।

एकांत आत्म ग्रह से (अर्थात् आत्मा नित्य-अनित्य होने के बावजूद अंततः नित्य ही है या आत्मा अनित्य ही है, इस प्रकार के मोह के कारण प्राप्त हुए ज्ञान से) उत्पन्न हुए संसार की निर्गुणता के दर्शन से शांत पुरुष में जो वैराग्य जागृत होता है, वह विद्यमान ज्वर (बुखार) के अनुद्भव जैसा मोहगर्भित वैराग्य होता है।²² क्योंकि संसार की निर्गुणता के ज्ञान से उत्पन्न हुए द्वेष से प्रकट होनेवाला यह वैराग्य उत्कट होने के बावजूद मोह वासना (मिथ्या-वासना) का विच्छेद न होने से वैराग्य का अपाय (नाश) करनेवाली प्रतिपात शक्ति से युक्त होता है।

स्याद्वाद विद्या से (भगवान का वचन स्याद्वाद रूप है और यह वचन सकल नयों का समूह रूप है। इसलिये सर्व नयों की अपेक्षा से स्याद्वाद विद्या से) कर्म बद्ध जीवात्माओं के दुःख को जानकर भव से भयभीत लोगों में मोक्ष के उपाय में प्रवृत्तिवाला (प्रकृष्ट वृत्तिवाला) ज्ञानगर्भितवैराग्य जागृत होता है।²³ स्याद्वाद विद्या से जिसे भवनिर्गुणता का ज्ञान हुआ हो और उससे संवेग-निर्वेदपूर्वक मोक्ष के उपायों में अप्रमत्तता से प्रवर्तमान हो, ऐसे छठवें गुणस्थानक के योगी में ज्ञान गर्भित वैराग्य जागृत होता है। इस ज्ञान से चारित्र की सामग्री की पूर्णता होती है - इस प्रकार छठवें गुणस्थानक में भावयति को तत्त्व संवेदन ज्ञान से ज्ञानीभाव, सर्वसंपत्करीभिक्षा से भिक्षु भाव और ज्ञान गर्भित वैराग्य से विरक्तता प्राप्त होती है और इससे साधुधर्म की पूर्णता प्राप्त होती है।

► दीक्षा से संग वासना का नाश :-

दीक्षा बत्तीसी में कहा गया है कि,

अनादिकालानुगता महती सङ्गवासना ।

तत्त्वज्ञानानुगततया दीक्षयैव निरस्यते ॥२२॥

- अनादिकाल से अनुगत (अनुसरित) स्त्री-विषय आदि बाह्य पदार्थों के संग की वासना तत्त्व ज्ञान से अनुगत (युक्त) दीक्षा से ही नष्ट होती है।

तत्त्वज्ञान से युक्त दीक्षा में शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति और आत्मरमणता का ही एकमात्र ध्येय होता है। ध्येयसिद्धि में बाधक बननेवाले सभी परभावों से मुक्त होने की इच्छा होती है। इसलिये तत्त्वज्ञानपूर्वक दीक्षा परपदार्थों के संग की वासना खत्म करती है और इससे साधक विषय-कषाय के बंधनों से मुक्त होता जाता है और अंततः निर्बंधदशा को प्राप्त करता है।

■ छठवें गुणस्थानक में कौन-सा ध्यान होता है ? :-

छठवें गुण स्थानक में जो ध्यान संभव है, उसे दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि,

अस्तित्वान्नोकषायाणा-मत्रार्तस्यैव मुख्यता ।

आज्ञाद्यालंबनोपेत-धर्मध्यानस्य गौणता ॥२८॥

- प्रमत्त (छठवें) गुणस्थानक में नोकषायों का अस्तित्व होने से (उदय होने से) आर्तध्यान की ही प्रमुखता होती है और आज्ञा विचय आदि के आलंबनवाले धर्मध्यान की गौणता होती है।

छठवें गुणस्थानक में नोकषाय (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीन वेद) के उदय से प्रवर्तमान प्रमाद के कारण आर्तध्यान आने की संभावना होती है। परन्तु आज्ञाविचयादि के आलंबनवाला धर्मध्यान गौण रूप में होता है अर्थात् शास्त्रों में दर्शाया गया है वैसा धर्मध्यान नहीं होता है। बल्कि धर्मध्यान के विकल्प होते हैं। धर्मध्यान चार प्रकार का होता है।

(१) आज्ञाविचय : श्री जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा का चिंतन करना।

(२) अपाय विचय : राग-द्वेषादि कषायों से होनेवाले अपाय-कष्टों का चिंतन करना।

(३) विपाक विचय : हर समय उत्पन्न होनेवाले विचित्र कर्मों के फलों का चिंतन करना और

(४) संस्थान विचय : उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप-अनादि अनंत स्वभाववाले लोक (षड् द्रव्यात्मक लोक) का चिंतन करना। इस गुणस्थानक में प्रमाद का अस्तित्व होने से धर्मध्यान की गौणता होती है।

► प्रमत्त मुनियों का कर्त्तव्य :-

छठवें गुणस्थानक में स्थित प्रमत्त मुनियों का कर्त्तव्य दर्शाते हुए गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

तस्मादावश्यकैः कुर्यात्, प्राप्तदोषनिकृत्तनम्।

यावन्नाप्नोतिसद्धान-मप्रमत्तगुणाश्रितम् ॥३१॥

- जब तक अप्रमत्तगुणस्थानक से (सप्तम गुणस्थानक से) साध्य सद्धान (निरालंबन ध्यान) प्राप्त न हो, तब तक दिवस-रात्री आदि सम्बंधी प्राप्त होनेवाले (लगे हुए) दोषों का आवश्यकादि क्रिया द्वारा क्षय करना। कहने का आशय यह है कि, प्रमत्तमुनिओ को जब तक निरालंबन योग की प्राप्ति न हो, तब तक दोषों के नाश के लिए आवश्यकादि क्रिया अवश्य करनी चाहिए:

→ प्रमत्त गुणस्थानक में निरालंबन ध्यान का निषेध:-

प्रमत्त गुणस्थानक में रहा हुआ जो साधु निरालंबन ध्यान करने को इच्छुक है, उसको वह ध्यान का निषेध बताते हुए गुणस्थानक ग्रंथ में कहा गया है कि,

यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।

धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूर्चिर्जनभास्कराः ॥२९॥

- श्री जिनेश्वर कहते हैं कि, साधु जब तक प्रमादयुक्त है, तब तक उसका निरालंबन ध्यान नहीं टिकता है।

प्रमत्त गुणस्थानक में जो धर्मध्यान होता है, वह भी मध्यमस्तर का होता है

तथा मध्यम धर्मध्यान की भी गौणता बताई गई है। (पूर्व में दर्शाए अनुसार नोकषाय के उदय के कारण आर्तध्यान की प्रमुखता होती है।) इसलिये वहां निरालंबन उत्कृष्ट धर्मध्यान की संभावना कैसे हो सकती है ? अर्थात् निरालंबन धर्मध्यान नहीं होता है।

जो साधक आवश्यक क्रियाओं का त्याग करके लोक में महान बनने की (मैं ध्यानी हूं, ऐसी महानता दर्शाने के लिये) चेष्टा करता है, उसकी सभी चेष्टाएं मिथ्यात्व से मोहित होती है। इसलिये गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि,

प्रमाद्यावश्यकत्यागान्निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।

योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥३०॥

- प्रमादयुक्त जो साधु आवश्यक क्रियाओं का त्याग करके निरालंबन ध्यान का आश्रय लेते हैं, वे साधु मिथ्यात्व से मोहित होने के कारण श्री जिनेश्वर परमात्मा के सिद्धांत का तत्त्व नहीं जानते हैं। क्योंकि, ऐसे जीवात्मा व्यवहार क्रिया नहीं करते हैं और निश्चय को भी प्राप्त नहीं करते हैं। श्री जिनेश्वर भाषित सिद्धांत के तत्त्वज्ञों के लिये तो व्यवहारपूर्वक निश्चय सिद्ध करने योग्य है। इसीलिये शास्त्र में कहा गया है कि,

जइ जिणमयं एव जहा, ता मा व्यवहार निच्छेए मुअह ।

ववहारनउच्छेए तित्थुच्छेओ जओ भणिओ ॥

- यदि तू जैन सिद्धांत को (जैनमत को) जानता हो, तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों को मत छोड़ना। (निश्चय दृष्टि हृदय में धारण करके सभी व्यवहारों का पालन करना।) क्योंकि, व्यवहार नय का विच्छेद होने से तीर्थ का (जैन शासन का) विच्छेद होता है।

गुणस्थानकक्रमारोह में दृष्टांत देकर समझाया गया है कि, जैसे कोई पुरुष अपने घर में सदैव निम्नस्तर का भोजन करता हो और उसे किसी के यहां

भोजन का आमंत्रण मिले तथा वहां कभी न खाया हो, ऐसा अपूर्व मिष्टान्न खाने को मिले, तो उसके मन में मिष्टान्न के स्वाद के रस की लोलुपता पैदा हो जाती है, इससे वह अपने घर का निम्नस्तर का भोजन स्वादरहित होने के कारण त्याग देता है और दुर्लभ मिष्टान्न की अभिलाषा करने लगता है। ऐसी परिस्थिति में वह अपने घर का निम्नस्तरीय भोजन भी नहीं करने से और मिष्टान्न को भी प्राप्त नहीं कर पाने से दोनों भोजन के अभाव में दुःखी होता है। **इसी प्रकार** दुराग्रह से ग्रस्त जीवात्मा प्रमत्त गुणस्थानक में सिद्ध करने योग्य तथा (मोक्षसाधना में अनुकूल सामग्री प्राप्त करानेवाले) स्थूल पुण्य की पुष्टि के कारण षडावश्यक आदि क्रियाएं नहीं करता है और कई बार अप्रमत्त गुणस्थानक में प्राप्त होने योग्य निर्विकल्प मन से उत्पन्न होनेवाली समाधि रूप निरालंबन ध्यान के अमृत समान अंश से प्राप्त होनेवाले परमानंद सुख का स्वाद प्राप्त हो जाने से प्रमत्त गुणस्थानक में करने योग्य क्रियाओं को निम्नस्तरीय भोजन जैसी मानकर नहीं करता है और प्रथम संघयण आदि प्रकार के संयोगों के अभाव में अपूर्व मिष्टान्नसमान निरालंबन ध्यान को भी प्राप्त नहीं कर पाता है, इस प्रकार उभय से भ्रष्ट होने के कारण निश्चित रूप से दुःखी होता है।

यद्यपि प्रमत्त गुणस्थानक में निरालंबन ध्यान संभव नहीं है और आवश्यकदि क्रियाओं के अभाव में दिन-रात सम्बंधी लगे हुए दोषों का परिहार भी नहीं होता है। इससे जीवात्मा के दोषों की वृद्धि होती है, जो उसे दुःखी करती है। **इसके अलावा गुणस्थानक क्रमारोह में स्पष्ट कहा गया है कि**, शास्त्रों में ऐसा (योग शास्त्र आदि में) वर्णन मिलता है कि परमसंवेगरूप पर्वत के उच्चशिखर पर आरूढ़ पूर्वकालीन मुनि भगवंतों ने भी निरालंबन ध्यान सिद्ध करने के मात्र मनोरथ ही किये थे। परन्तु आवश्यकादि क्रियाओं का त्याग करके उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न नहीं किये। इसलिये विवेकी जीवात्माओं को बार-बार अप्रमत्त दशा प्राप्त होने के बावजूद शुद्ध परमात्म स्वरूप प्राप्त करने और जानने के मनोरथ करने चाहिये, परन्तु षट्कर्म और षडावश्यक आदि धार्मिक व्यवहारों

का (क्रियाओं का) त्याग नहीं करना चाहिये। इसीलिये अन्य शास्त्र में कहा गया है कि, योगी कल्पलता समान समता को प्राप्त करके समता में रहकर सदाचारमयी बाह्य प्रवृत्ति करते हैं। परन्तु योग के आग्रह से व्याप्त जीवात्मा सदाचार से विमुख हो जाते हैं, उन्हें योग प्राप्त नहीं होता है और ऐसी जड़ आत्माओं को (परमार्थ से अज्ञात जड़ आत्माओं को) लोक (सद्गति) भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिये ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि, प्रमत्त गुणस्थानकवर्ती साधकों को षडावश्यक आदि धार्मिकक्रियाओं का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये।

■ बारह प्रकार की साधुप्रतिमा :-

छठवें गुणस्थानक में साधु भगवन्तों को विशेष अभिग्रह स्वरूप १२ प्रतिमाओं का पालन (श्रावक की भांति) भी करना होता है। वर्तमान में संघयण-बल आदि की न्यूनता के कारण प्रतिमाओं का पालन विहित नहीं है। प्रतिमाओं का वर्णन और प्रतिमाओं को वहन करने की योग्यता आदि का निरूपण धर्मसंग्रह, पंचाशक प्रकरण आदि ग्रंथों में किया गया है, वहां से विशेष जानकारी प्राप्त करें।

■ विशेष स्पष्टता :-

यह छठवां गुणस्थानक प्रमत्त साधु में होता है, यह हमने देखा। छठवें प्रमत्तगुणस्थानक का काल अंतर्मुहूर्त का है और इसके बाद प्राप्त होनेवाले सातवें गुणस्थानक का काल भी अंतर्मुहूर्त का है। छठवें तथा सातवें दोनों गुणस्थानक का उत्कृष्ट काल देशोनपूर्वकोड़ी वर्ष है। छठवें प्रमत्तगुणस्थानक में स्थित साधक प्रमादयुक्त होता है। यदि वह अंतर्मुहूर्त से अधिक काल तक प्रमादयुक्त रहे तो छठवें गुणस्थानक से नीचे जाता है और वही साधक अंतर्मुहूर्त के लिये प्रमाद रहित हो जाए तो सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक को प्राप्त कर लेता है²⁵ तथा अंतर्मुहूर्त से भी अधिक काल प्रमादरहित रहे तो सातवें गुणस्थानक से ऊपर उठकर श्रेणी प्रारम्भ करता है और पुनः प्रमादयुक्त हो जाए तो सातवें

से छठवें गुणस्थानक में आ जाता है। छठवें गुणस्थानक में साधक साधना करते हुए अप्रमत्त दशा को प्राप्त करता है, तब सातवें गुणस्थानक को स्पर्श करता है और प्रमादयुक्त बनने पर पुनः छठवें गुणस्थानक को स्पर्श करता है। इस प्रकार साधक छठवें और सातवें गुणस्थानक में आवागमन करता है। शास्त्र में दोनों गुणस्थानक का संयुक्त काल (उत्कृष्ट) देशोनपूर्वकोड़ी वर्ष कहा गया है। इसमें सातवें गुणस्थानक का उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। इसलिये छठवें गुणस्थानक का काल अंतर्मुहूर्त से देशोन पूर्वकोड़ी वर्ष जितना व्यवहार से कहलाता है। बाकी दोनों का स्वतंत्र रूप से उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। छठवें का साधक सातवें में न जाए और अंतर्मुहूर्त से अधिक काल प्रमादयुक्त रहे तो छठवें से नीचे जाता है। जैसे झूला झूलते हों तब उसके अंतिम दो छोर अल्प समय के लिये स्पर्श करते हैं और शेष समग्र काल बीच में झूलते रहते हैं, वैसे ही साधक अल्प समय के लिये अप्रमत्त दशा को स्पर्श करके पुनः प्रमादयुक्त होता है, ऐसा बार-बार होता है। इसमें अप्रमत्त दशा का (सातवें का) काल अंतर्मुहूर्त का होता है। शेष काल छठवें गुणस्थानक का होता है। अप्रमत्त दशा का काल अंतर्मुहूर्त से ऊपर जाए तो साधक श्रेणी प्रारम्भ करता है।

➡ योगदृष्टि में विकास :-

सामान्यतः छठवें गुणस्थानक में पांचवीं और छठवीं दृष्टि होती है। जब साधक इस गुणस्थानक के विशुद्धतर परिणामों को प्राप्त करता है, तब सातवीं प्रभा दृष्टि की प्राप्ति होती है। इस प्रभा दृष्टि का स्वरूप अब क्रमशः देखेंगे।

➡ टिप्पणकम् :- 1. अतो मार्गप्रवेशाय, व्रतं मिथ्यादृशामपि द्रव्यसम्यक्त्वमारोप्य, ददते धीरबुद्धयः ॥२-१७॥ (अध्या. सार) 2. सद्धा तिव्वभिलासो-धम्मो पवरत्तणं इमं तीसे । विहिसेव अतित्ती सुद्धदे सणा खलियपरिसुद्धी ॥१०॥ (धर्म. २ प्रकरणम्) 3. प्रमादयोगतोऽशेषजीवाऽ-सुव्यपरोपणात् । निवृत्तिः सर्वथा यावज्जीवं सा प्रथमं व्रतम् ॥१११॥ सर्वथा सर्वतोऽलीकादप्रियाञ्चाहितादपि । वचनाद्विनिवृत्तिर्या, तत्सत्यव्रतमुच्यते ॥११२॥ सकलस्याऽप्यदत्तस्य, ग्रहणाद्विनिवर्तनम् । सर्वथा जीवनं यावत्, तदस्तेयव्रतं मतम् ॥११३॥

दिव्यमानुषतैरश्व-मैथुनेभ्यो निवर्त्तनम् । त्रिविधं त्रिविधेनैव, तद् ब्रह्मव्रतमीरितम् ॥ १११४ ॥ परिग्रहस्य सर्वस्य, सर्वथा परिवर्जनम् । आकिञ्चन्यव्रतं प्रोक्तमर्हद्विहितकाङ्क्षिभिः ॥ १११५ ॥ एतानि भावनाभिश्च, प्रत्येकं पञ्चभिः स्फुटम् । भवन्ति भावितान्येव, यथोक्तगुणभाजिज तु ॥ १११६ ॥

(धर्मसंग्रहः) 4. उवगारवगारिविवागवयणधम्मुत्तरा भवे खंती । साविक्खं आदितिगं लोगिगमियरं दुगं जइणो ॥ ३ ॥ (यतिधर्मविंशिका) 5. गुरुसुत्ताणुत्तायं जं हियमियभासणं ससमयम्मि । अपरोवतावमणधं तं सच्चं निच्छियं जइणो ॥ १११ ॥ (यतिधर्मविंशिका) 6. आलोयणाइदसविहजलओ पावमलखालणं विहिणा । जं दव्वसोयजुत्तं तं सोयं जइजणपसत्थं ॥ ११२ ॥ (यतिधर्मविंशिका) 7. एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात् परिपालनात् । संशोधनाच्च साधूनां, मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ ११४५ ॥ (योगशास्त्रम्) 8. इरिआ भासा एसण, आयाणाईसु तह परिठवणा । सम्मं जा उ पवत्ती, सा समिई पंचहा एवं ॥ ५७१ ॥ (प्रवचनसारोद्धारः) 9. तथा गुप्तिगोपनामात्मसंरक्षणं मुमुक्षोर्योगनिग्रह इत्यर्थः, ताश्च मनोवाक्कायविषयभेदात् त्रिस्रः । (धर्मसंग्रहः १११९-२० टीका) 10. विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम् । आत्मारामं मनस्तज्जैर्मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ ११४९ ॥ (योगशास्त्रम्) 11. संज्ञादपरिहारेण, यन्मौनस्यावलम्बनम् । वागवृत्तेः संवृत्तिर्वाया, सा वागुप्तिरिहोच्यते ॥ ११४२ ॥ (योगशास्त्रम्) 12. उपसर्गप्रसङ्गेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुनेः । स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥ ११४३ ॥ शयनासननिक्षेपादानचङ्क्रमणेषु च । स्थानेषु चेष्टानियमः, कायगुप्तिस्तु साऽपरा ॥ ११४४ ॥ (योगशास्त्रम्) 13. जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआइं वासकोडीहिं । तत्राणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमितेणं ॥ ११०० ॥ (संबोधसत्तरी) 14. निष्कम्पा च सकम्पा च प्रवृत्तिः पापकर्मणि । निरवद्या च सेत्याहुर्लिंगान्यत्र यथाक्रमम् ॥ ६ ॥ (साधुसामग्र्यद्वात्रिंशिका) 15-16-17-18-19. त्रिधा भिक्षापि तत्राद्या सर्वसम्पत्करी मता । द्वितीया पैरुषघ्नी स्याद्वृत्तिभिक्षा तथान्तिमा ॥ १९ ॥ सदानारम्भहेतुर्या सा भिक्षा प्रथमा स्मृता । एकबाले द्रव्यमुनौ सदानारम्भिता तु न ॥ ११० ॥ दीक्षाविरोधिनी भिक्षा पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता । धर्मलाघवमेव स्यात्तया पीनस्य जीवतः ॥ १११ ॥ क्रियान्तरासमर्थत्वप्रयुक्ता वृत्तिसञ्ज्ञिका । दीनान्धादिष्वियं सिद्धपुत्रादिष्वपि केषुचित् ॥ ११२ ॥ । अन्याबोधेन सामग्र्यं मुख्यया भिक्षयाऽलिवत् । गृह्यतः पिण्डमकृतमकारितमकल्पितम् ॥ ११३ ॥ (साधु-सामग्र्यद्वात्रिंशिका) 20. वैराग्यं च स्मृतं दुःखमोहज्ञानान्वितं त्रिधा । आर्तध्यानाख्यमाद्यं स्याद्यथाशक्त्यप्रवृत्तितः ॥ १२१ ॥ स्याद्वादविद्यया ज्ञात्वा बद्धानां कष्टमङ्गिनाम् । तृतीयं भवभीभाजां मोक्षोपायप्रवृत्तिमत् ॥ १२४ ॥ (साधुसामग्र्यद्वात्रिंशिका) 21-22-23. अनिच्छा ह्यत्र संसारे स्वेच्छालाभादनुत्कटा । नैर्गुण्यदृष्टिजं द्वेषं विना चित्ताङ्गखेदकृत् ॥ १२२ ॥ एकान्तात्मग्रहोद्धतभवनैर्गुण्यदर्शनात् । शान्तस्यापि द्वितीयं सज्जवरानुद्धवसन्निभम् ॥ १२३ ॥ स्याद्वादविद्यया ज्ञात्वा बद्धानां कष्टमङ्गिनाम् तृतीयं भवभीभाजां

(गुणस्थानकक्रमा.-टीका)



प्रकरण - १६/१ : - : सातवीं प्रभा दृष्टि :-

कान्तादृष्टि में साधक चारित्र के उच्च अध्यवसायों को चाहता है और आक्षेपक ज्ञान के प्रभाव से उसका मन निरंतर श्रुतधर्म में रमता है। इन दोनों के कारण अच्छी मात्रा में बोध का विकास होता है और साधक सातवीं प्रभा दृष्टि में प्रवेश करता है।

प्र = प्रकृष्ट तथा भा = तेज। प्रभा दृष्टि में सूर्य की उपमावाले प्रकृष्ट ज्ञान का प्रकाश होता है। इसलिये इस दृष्टि का 'प्रभा' नाम सार्थक है। सातवीं दृष्टि में आत्मा को रत्नत्रयी की सच्ची अनुभूति होती है। यह प्रभादृष्टि छठवें और सातवें गुणस्थानक में होती है।

⇒ प्रभा दृष्टि का सूर्य के प्रकाश जैसा बोध :-

“प्रभायां पुनरर्कभासमानो बोधः, स ध्यानहेतुरेव (सद्धानहेतुरेव) सर्वदा, नेह प्रायो विकल्पावसरः, प्रशमसारं सुखमिह अकिञ्चित्करण्यत्रान्यशास्त्राणि, समाधिनिष्ठमनुष्ठानं, तत्सन्निधौ वैरादिनाशः, परानुग्रहकर्तृता, औचित्ययोगो विनयेषु, तथाऽवन्ध्या सत्क्रियेति ।” (यो. दृ.-१५/टीका)

⇒ प्रभादृष्टि के बोध का स्वरूप :-

प्रभादृष्टि में सूर्य के प्रकाश जैसा बोध होता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में पदार्थ बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही इस दृष्टि के बोध में जगतवर्ती हेय-उपादेय पदार्थ बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसलिये योगमार्ग में उपयोगी पदार्थ बहुत स्पष्ट दिखाई देते हैं। इससे साधक को आत्मकल्याण में आगे बढ़ने के लिए सद्धान में प्रयत्न करने की दिशा प्राप्त होती है। प्रभादृष्टि का बोध योगमार्ग की साधना में सुस्थिर बनाता है और मन की एकाग्रता बढ़ाता है। इससे धारणा के फलस्वरूप में यहां सद्धान की प्राप्ति होती है।

→ सद्धान का हेतु :- इस दृष्टि का बोध हमेशा सद्धान का कारण

बनता है। क्योंकि प्रभा दृष्टि के बोध से बाह्य भावों की विमुखता और आंतरिक शुभ धारणा स्थिर होती है। इससे मन की एकाग्रता में बहुत वृद्धि होती है। वह साधक को हमेशा ध्यान में स्थिर रखती है।

→ **प्रायः विकल्प का अभाव :-** प्रभादृष्टि में स्थित योगियों के लिये प्रायः विकल्प का अवसर नहीं। इसलिये प्रायः वे निर्विकल्प दशा में प्रवृत्त रहते हैं। इससे मन में रागादि के विकल्प नहीं उठते हैं। बोध के प्रभाव से लक्ष्य शुद्धि तीव्र होती है, लक्ष्य की ओर जाने की दिशा स्पष्ट होती है और प्रकर्ष से लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न होता है, इसलिये प्रायः विकल्प के रूप में प्रशस्त राग भी नहीं होता है।

→ **प्रशम प्रधान सुख :-** प्रभादृष्टि में प्रशम प्रधान सुख होता है। क्योंकि बोध के प्रभाव से रागादि के विकल्प शांत होते हैं। कषाय अत्यंत उपशम हो जाने से यहां उपशम जनित आत्मीय सुख होता है।

→ **शास्त्र अनुपयोगी :-** प्रभा दृष्टि के योगियों के लिये शास्त्र अनुपयोगी होते हैं। क्योंकि **संप्राप्त बोध के प्रभाव से असंग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है।** यद्यपि वे स्वयं को प्राप्त हुए बोध से ही योगमार्ग का विकास करते हैं। (वचनानुष्ठान में शास्त्र उपकारक सिद्ध होते हैं। वचनानुष्ठान के फलस्वरूप प्राप्त हुए असंग अनुष्ठान में शास्त्र उपयोगी सिद्ध नहीं होते हैं। शास्त्र वचन का आलंबन लेकर जितना विकास करना था, वह अभी तक कर लिया है। आगे का विकास बोध के बल से ही करना होता है। इसलिये प्रभादृष्टि में स्व बोध से अन्य शास्त्र अनुपयोगी होते हैं।)

→ **समाधिनिष्ठ अनुष्ठान :-** प्रभादृष्टि के साधक अपनी भूमिका के अनुसार जिस अनुष्ठान का अनुपालन करते हैं, उस अनुष्ठान में प्रायः कषाय के विकल्प नहीं होते हैं, इसलिये उनका अनुष्ठान समाधिनिष्ठ होता है अर्थात् विशेष प्रकार की समाधिवाला होता है।

→ **वैरादि नाश :-** प्रभादृष्टि के योगियों के निकट आनेवाले हिंसक

प्राणियों के वैरादि का योगसाधना के प्रभाव से नाश हो जाता है।

→ **परानुग्रहकर्तृता :-** प्रभादृष्टि के योगी अन्य जीवों पर उपकार करते हैं। उपकार की उनकी प्रवृत्ति सहज होती है।

→ **शिष्यों में औचित्य योग :-** प्रभादृष्टि के साधक शिष्यों में औचित्य योगवाले होते हैं अर्थात् प्रभादृष्टि में स्थित साधक अपने शिष्यों को उचित प्रवृत्ति में जोड़ने के प्रयत्न करते हैं।

■ **अवंध्य सत्क्रिया :-**

प्रभादृष्टि में निरतिचार अनुष्ठान है और विशिष्ट कोटि का अप्रमाद भाव होता है। इससे असंगभाव की प्राप्ति होती है। असंगभाव से युक्त सद्क्रिया अवंध्य = सफल होती है। ऐसी सत्क्रिया अपना विवक्षित फल देकर ही रहती है।

प्रभादृष्टि का स्वरूप और उसमें प्राप्त होनेवाले योगांग आदि को दर्शाते हुए सद् दृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि,

“ध्यानसारा प्रभा तत्त्वप्रतिपत्तियुता रुजा ।

वर्जिता च विनिर्दिष्टा सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥२४-१७॥”

- प्रभा दृष्टि को ‘ध्यान’ नामक योगांग से मनोहर, ‘तत्त्व प्रतिपत्ति’ नामक गुण से युक्त, ‘रोग’ दोष से रहित और सत्प्रवृत्ति पद को वहन (धारण) करनेवाली कहा गया है।

■ **सातवां योगांग ध्यान :-**

सातवीं प्रभादृष्टि में ‘ध्यान’ नामक योगांग प्राप्त होता है। ‘ध्यान’ का स्वरूप दर्शाते हुए सद्दृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि,

“चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता ।

ध्यानं ततः सुखं सारमात्मायत्तं प्रवर्तते ॥२४-१८॥”

- धारणा के देश = विषय में ज्ञान की एकतानता को (विसदृश परिणाम के

परिहारपूर्वक सदृश परिणाम की धारा में मन के प्रबंध को) ध्यान कहा जाता है अर्थात् एक ही विषय में परिणाम की स्थिरता को ध्यान कहा जाता है। (धारणा और ध्यान के बीच अंतर सामान्य दृष्टि से देखें तो मूलभूत विषय में मन की एकाग्रता धारणा है और उसके व्याप्यभूत अवान्तर एक विषय में मन की एकाग्रता ध्यान है। धारणा काल में मन मूलभूत विषय के आसपास घूमता रहता है। जबकि ध्यान के समय वह विषय के एक देश में स्थिर हो जाता है।) ध्यान से (पर को अनछीन) उत्कृष्ट स्वाधीन सुख प्राप्त होता है। इसलिये योगदृष्टि समु. ग्रंथ में ध्यान के सुख का वर्णन करते हुए कहा गया है कि,

“ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम् ।

विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि ॥१७१॥”

प्रभादृष्टि में ध्यान से उत्पन्न, जीते हुए काम वासना के विषयादि साधनवाला और विवेक (ज्ञान) के सामर्थ्य से उत्पन्न शम प्रधान सुख सदैव होता है।

सातवीं दृष्टिवाले योगियों के पांचों इन्द्रियों के विषय अत्यंत शांत हो जाते हैं। उन्होंने काम वासना पर जबरदस्त विजय प्राप्ति की होती है और उनके पास बहुत विवेक होता है। इसलिये विवेक के बल से तथा ध्यान से उत्पन्न उपशम प्रधान सुख होता है। जिसे उत्तम विवेक प्राप्त होता है, उसे हर परिस्थिति में शम प्रधान सुख प्राप्त होता है। क्योंकि उत्कृष्ट विवेक के सामर्थ्य से साधक निराकुल चेतना का स्फुरण करने में ही प्रयत्नशील होता है। वह किसी भी परिस्थिति में शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति का लक्ष्य नहीं चूकता है। इसलिये वह सदा के लिये उसके कारण ध्यान में लीन रहता है। ध्यान से उत्पन्न स्वाधीन सुख ही वास्तविक सुख है। इसके अलावा कथित पराधीन सुख, वास्तव में सुख नहीं होता है, यह दर्शाते हुए योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

“सर्वं परवशं दुखं सर्वमात्मवशं सुखम् । एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुखयोः ॥१७२॥ पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम् । ततश्च

दुखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥१७३॥”

- जो पराधीन है, वह सब दुःख है और जो आत्मा के अधीन है वह सुख है। संक्षेप में सुख-दुःख का यही लक्षण बताया गया है। पुण्य की अपेक्षावाला सुख भी पराधीन है। इसलिये वह सुख भी वास्तव में दुःख ही है। क्योंकि, “**जो पराधीन है वह दुःख है**” दुःख का यह लक्षण भी उसमें आ जाता है। संक्षेप में, “**जो पराधीन है वह दुःख है और जो स्वाधीन है वह सुख है**” - यही सुख-दुःख का पारमार्थिक लक्षण है। प्रभादृष्टि में ध्यान से उत्पन्न तात्त्विक सुख होता है। क्योंकि, वह सुख स्वाधीन है - पराधीन नहीं और कर्म के वियोग मात्र से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सातवीं दृष्टि के साधकों को उत्तमोत्तम आत्मीय सुख की अनुभूति होती है। इस सुख की प्रतीति सामान्य लोगों को नहीं होती है। क्योंकि, ध्यान जनित प्रशम प्रधान सुख जिसे ध्यान योगांग प्राप्त होता है, उसे ही प्राप्त होता है। किसी की अनुभूति अन्य की अनुभूति नहीं बन सकती है, किसी भी विषय की अनुभूति करनी हो तो उसे स्वयं स्पर्श करना पड़ता है। इसी बात को योग दृष्टि की सज्झाय में दर्शाते हुए कहा गया है कि,

**“नागरसुख पामर न वि जाणे, वल्लभसुख न कुमारी,
अनुभव विण तेम ध्यानतणुं सुख, कोण जाणे नरनारी।” (७-३)**

सातवीं दृष्टि के योगियों में ध्यान जनित सुख निरंतर होता है, तो प्रश्न उठता है कि, उन्हें निरंतर ध्यान किसके प्रभाव से प्राप्त होता है, इसका उत्तर देते हुए योगदृष्टि की सज्झाय में कहा गया है कि,

**“एह दृष्टिमां निर्मलबोधे, ध्यान सदा होय साचुं,
दूषणरहित निरंतर ज्योति, रतन ते दीपे जाचुं रे।” (७-४)**

दोष रहित रत्न की ज्योति जैसे निरंतर समान रूप से प्रकाशित होती है, मल रहित स्वर्ण जैसे हमेशा शुद्ध-कल्याणमय होता है और बादल रहित आकाश में जैसे चंद्र का प्रकाश सदैव फैला रहता है, वैसे ही सातवीं दृष्टि में उत्कृष्ट स्तर का निर्मल बोध प्राप्त होने से हमेशा ध्यान प्रवर्तमान होता है।²¹

► तत्त्वप्रतिपत्ति गुण की प्राप्ति :-

प्रभा दृष्टि में विशिष्ट ध्यान के प्रभाव से सातवें 'तत्त्व प्रतिपत्ति' गुण की प्राप्ति होती है। 'तत्त्व प्रतिपत्ति' गुण का स्वरूप दर्शाते हुए षोडशक ग्रंथ में कहा गया है कि,

“परिशुद्धा = सर्वतो भावविशुद्धा प्रतिपत्तिः = मीमांसोत्तरभाविनी इदमित्थमेवेति निश्चयाकारा परिच्छत्तिः तत्त्वविषयैव ।” [षोडशक - १४/ टीका]

- सर्वतः (हेतु-स्वरूप-फल की अपेक्षा से) तत्त्व मीमांसा के बाद के काल में “यह तत्त्व ऐसा ही है” ऐसा जो भाव विशुद्ध निश्चयात्मक तत्त्व सम्बंधी दृढ़ निर्णय होता है, उसे तत्त्व प्रतिपत्ति कहा जाता है।

छठवीं दृष्टि में 'तत्त्वमीमांसा' गुण की प्राप्ति हुई थी, वहां तत्त्वमीमांसा के प्रभाव से सर्व पदार्थों का हेतु-स्वरूप-फल से सम्यग् विचारणा प्रवर्तमान थी। सम्यग् विचारणा के उत्तर काल में “यह तत्त्व ऐसा ही है” इस प्रकार का तत्त्व सम्बंधी दृढ़ निश्चय प्रवर्तता है, इसी को ही तत्त्व प्रतिपत्ति कहा जाता है...मोहनीयादि कर्मों का विशिष्ट क्षयोपशम होने से यहां ऐसी तत्त्व प्रतिपत्ति होती है। इसमें वास्तविक ढंग से बोध, श्रद्धा और प्रवृत्ति, इन तीनों का संवाद होता है। जैसा बोध है, वैसी ही श्रद्धा होती है और जैसे बोध-श्रद्धा होते हैं, वैसी ही प्रवृत्ति होती है। सातवीं दृष्टि में तीनों का संगम जो अनादिकाल से नहीं था, वह देखने को मिलता है। इसी कारण साधक अखंड रूप से अनुष्ठान करने में समर्थ बनता है।

► रुग्ं दोष का नाश :-

प्रभा दृष्टि में मन का 'रोग' नामक दोष नष्ट होता है। अनुष्ठान में स्खलना उत्पन्न करे उसको 'रोग' कहा जाता है। पीड़ा और भंग उसके पर्यायवाची शब्द हैं। अनुष्ठान को अस्खलित रूप से प्रवृत्त न होने दे और उसमें बीच में पीड़ा

या भंग उत्पन्न करे उसे 'रोग' नामक दोष कहा जाता है। यह 'रोग' नामक दोष अनुष्ठान का संपूर्ण नाश नहीं करता है, परन्तु अनुष्ठान को निरतिचार नहीं बनने देता है और निरतिचार अनुष्ठान का नाश होने से उस प्रकार का सातिचार अनुष्ठान विद्यमान होने के बावजूद इष्ट की सिद्धि नहीं होती है।²² प्रभा दृष्टि में साधक को किसी भी प्रकार का रोग हो जाए तो भी मनोभंग नहीं होता है। इससे अनुष्ठान सम्बंधी रोग (अर्थात् अनुष्ठान निरतिचार न रहकर सातिचार बन जाए ऐसा अनुष्ठान सम्बंधी रोग) नहीं होता है और इसलिये दोषमुक्त अनुष्ठान के कारण क्रोधादि कषाय अथवा विषय के विकार साधक को अंशतः भी नहीं सताते हैं। इसलिये निरंतर ध्यान जारी रहता है और ध्यान के प्रभाव से प्रशम प्रधान भरपूर सुख प्राप्त होता है।

⇒ प्रभादृष्टि सद्व्रृत्ति पद को वहन करती है :-

प्रभादृष्टि में सद्व्रृत्ति पद (असंग अनुष्ठान) की प्राप्ति होती है और वह मोक्ष का अनन्य कारण है। इस बात को दर्शाते हुए योग दृष्टि-समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

“सत्प्रवृत्तिपदं चेहाऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।

महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम् ॥१७५॥”

- तत्त्व मार्ग में सद्व्रृत्ति पद असंग अनुष्ठान नामवाला है। जो महापथ में प्रयाण है और अनागामी (जहां से वापस नहीं आना है ऐसे नित्य) पद को प्राप्त करानेवाला है।

प्रभादृष्टि में सद्व्रृत्ति पद असंग अनुष्ठान संज्ञावाला है अर्थात् प्रभादृष्टि में असंग अनुष्ठान प्राप्त होता है, जो सत्प्रवृत्ति पद है। यूं तो प्रथम दृष्टि से तत्त्व की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई थी, परन्तु वह प्रवृत्ति साक्षात् सिद्धि पद का कारण न होने से सद्व्रृत्ति नहीं है। (वह सत्प्रवृत्ति का कारण जरूर बनती है।) सातवीं दृष्टि में प्राप्त असंग अनुष्ठान साक्षात् सिद्धि पद का कारण होने से सत्प्रवृत्ति है। असंग अनुष्ठान

मोक्ष मार्ग रूप महापथ है, इसमें प्रयाण स्वरूप है। असंग अनुष्ठान में ज्ञान-श्रद्धा व चारित्र की प्रवृत्ति की एकता प्राप्त होती है। रत्नत्रयी की परिणति की एकता होती है, जो प्रकर्षता को पाकर वीतराग भाव में परिणत होगी। इसलिये असंग अनुष्ठान महापथ में प्रयाणरूप है और जहां से वापस नहीं आना है ऐसे नित्य मोक्ष पद को प्राप्त करानेवाला है।

छठवीं दृष्टि में वचन अनुष्ठान होता है। सातवीं दृष्टि में असंग अनुष्ठान होता है। दोनों में क्रिया समान ही दिखाई देती है। इसके बावजूद अंतर यह है कि, वचनानुष्ठान में शास्त्र वचन के अनुसंधानपूर्वक क्रिया प्रवर्तमान होती है। जबकि असंगानुष्ठान में जिनवचन का अनुसंधान न होने के बावजूद पूर्व संस्कार के अनुवेध से क्रिया प्रवर्तमान होती है। सातवीं दृष्टि में असंग क्रिया पाने की आवश्यक समस्त सामग्री की परिपूर्णता प्राप्त होती है। रत्नत्रयी की एकतावाली परिणति असंग अनुष्ठान में आवश्यक है, जो सातवीं दृष्टि में प्राप्त होती है।

अन्य दर्शनकारों ने भी अलग-अलग नामों से इस असंग अनुष्ठान को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन इसे 'प्रशांतवाहिता' कहता है। बौद्ध दर्शन उसे 'विसभाग परिक्षय' कहता है। शैव दर्शन उसे 'शिववर्त्म' और महाव्रतिकों के मत में उसे 'ध्रुवाध्व' कहा जाता है।

ध्यान में सहज रूप से प्रवृत्त योगियों के मन में कषायों का अत्यंत उपशम भाव प्रवर्तमान होता है, इसलिये उनका मन का प्रवाह प्रशांतवाहितावाला होता है। इसे सामने रखकर सांख्य दर्शन असंगानुष्ठान को 'प्रशांतवाहिता' नाम देता है। संग के योग से मन का प्रवाह जो विसदृश होता है, उसे विसभाग कहा जाता है, उसका क्षय विसभाग परिक्षय कहलाता है। इसलिये असंग भाववाला मन का सदृश प्रवाह निरंतर रहे ऐसी मन की अवस्था को 'विसभाग परिक्षय कहा जाता है।' शिव अर्थात् उपद्रव रहित अवस्था = मोक्ष। इसी का मार्ग अर्थात् शिव वर्त्म - शैव दर्शन असंगानुष्ठान को शिव वर्त्म कहता है। ध्रुवाध्व = ध्रुव

अवस्था का मार्ग। आत्मा की सर्व कर्म से रहित अवस्था अर्थात् ध्रुवावस्था = मोक्षावस्था। उसकी प्राप्ति का मार्ग ध्रुवाध्व। महाव्रतिक असंगानुष्ठान को ध्रुवाध्व कहते हैं।

इस प्रकार सातवीं दृष्टि में...सूर्य की प्रभा जैसा बोध प्राप्त होता है...ध्यान नामक योगांग प्राप्त होता है...ध्यान जनित उपशम प्रधान स्वाधीन सुख प्राप्त होता है - 'तत्त्व प्रतिपत्ति' गुण की प्राप्ति होती है और 'रोग' नामक मन के दोष का नाश होता है... मोक्ष के साक्षात् कारण असंगानुष्ठान की प्राप्ति होती है। इसके अलावा इस दृष्टि में साधक निरोध, समाधि और एकाग्रता तीनों को सिद्ध करता है। (इसकी चर्चा सदृष्टि बत्तीसी में की गई है, वहां से विशेष जानकारी प्राप्त कर लेना।)

→ टिप्पणकम् :- 1. ध्यानं च विमले बोधे सदैव हि महात्मनाम्। सदा प्रसृमरोऽनभ्रे प्रकाशो गगने विधोः। ।।२४-२०।। (सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका) ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम्। क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ।।१७४।। (यो.द्व.समु.) 2. रुजि निजजात्युच्छेदात् करणमपि हि नेष्टसिद्धये नियमात्। अस्येत्यननुष्ठानं तेनैतद्वन्ध्यफलमेव ।।१४/१०।। (षोडशक) रोग दोष होता है, तब सामान्य अनुष्ठान का अर्थात् अनुष्ठानता का उच्छेद होता है। इसलिये ऐसा अनुष्ठान करने के बावजूद इच्छित सफलता की प्राप्ति होने का नियम नहीं है। इसलिये वास्तव में ऐसा अनुष्ठान करने योग्य नहीं। इसी कारण वह विफल होता है।



प्रकरण - १७ : सातवां (अप्रमत्त) गुणस्थानक

सातवें गुणस्थानक की प्राप्ति का क्रम दर्शाते हुए गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

चतुर्थानां कषायाणां, जाते मन्दोदये सति

भवेत्प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥३२॥

- चौथे संज्वलन कषाय मंद होने के बावजूद प्रमाद रहित होने से महाव्रतधारी साधु अप्रमत्त हो जाते हैं - सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक को प्राप्त करते हैं।

सर्व सावद्य व्यापारों के त्यागवाले महाव्रतधारी साधु छठवें गुणस्थानक में संज्वलनकषायों के तीव्र उदय के कारण (नोकषाय का अस्तित्व होने से) प्रमादयुक्त होता है। इस अवस्था में साध्वाचार का शास्त्रानुसार पालन करते हुए समभाव की (सामायिक की) क्रमशः वृद्धि होती है और इससे जब संज्वलन कषायों का - नोकषायों का उदय मंद हो जाता है, तब अप्रमत्त दशा को प्राप्त करता है और अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थानक को प्राप्त करता है।

यद्यपि जैसे-जैसे संज्वलन कषाय तथा नोकषायों का उदय मंद-मंदतर होता जाता है, वैसे-वैसे साधु भगवंत अप्रमत्त होते जाते हैं। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि, “जैसे-जैसे विषय सुलभता से प्राप्त होने के बावजूद आत्मा को नहीं रुचते हैं, वैसे-वैसे संवित्ति में (चेतना में) उत्तम तत्त्व (उत्कृष्ट स्वरूप में) आता है - प्राप्त होता है और जैसे-जैसे चेतना में उत्तम तत्त्व प्राप्त होता जाता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी अरुचिकर लगते जाते हैं।” (और विषयों से सर्वथा विमुख हो जाने के कारण आत्मा को शुद्ध स्वरूप में स्थिरता प्राप्त होने से वह अप्रमत्त हो जाती है - पूर्णतः प्रमाद रहित हो जाती है।) इस गुणस्थानक में कषाय का मंद उदय प्राप्त होने से पांचों प्रकार के (मद्य, विषय, कषाय, विकथा, निद्रा, यह पांचों प्रकार के) प्रमाद के सभी विकल्पों में से एक भी विकल्प इस गुणस्थानक में नहीं होते हैं। इसलिये प्रमाद रहित अवस्था

होती है।

➡ साधक अप्रमत्तगुणस्थानक में क्या करते हैं ?

अप्रमत्त गुणस्थानक में स्थित मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिये उद्यत साधु भगवंत क्या करते हैं, यह दर्शाते हुए **गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ** में कहा गया है कि,

नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतशीलगुणान्वितः ।

ज्ञानध्यानधनो मौनी, शमनक्षमणोन्मुखः ॥३३॥

सप्तकोत्तरमोहस्य, प्रशमाय क्षयाय वा ।

सद्ध्यानसाधनारम्भं, कुरुते मुनिपुङ्गवः ॥३४॥

- सभी प्रकार के प्रमादों का नाश हो जाने से आत्मा व्रत (महाव्रत) व शील (अठारह हजार शीलांग रूपी गुण) आदि से युक्त, ज्ञान व ध्यान रूपी धनवाला, मौनी (मौन धारण करनेवाली) तथा मोहनीय कर्म का उपशम तथा क्षय करने के लिये उद्यत हुए श्रेष्ठ मुनि दर्शन सप्तक के अतिरिक्त (अनंतानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व मो. रूप दर्शन सप्तक के अतिरिक्त) मोहनीय की २१ प्रकृति का उपशम अथवा क्षय करने के लिये अति श्रेष्ठ निरालंबन ध्यान में प्रवेश करना प्रारम्भ करते हैं।

→ अप्रमत्त मुनि के मद्यादि सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो जाते हैं। अप्रमत्त मुनि पंच महाव्रत के निर्मल पालन में रत होते हैं और अठारह हजार शीलांग रूप गुणों से युक्त होते हैं।² (अठारह हजार शीलांग का स्वरूप टिप्पणक-२ में देख सकते हैं।) सदागम के अभ्यास रूप ज्ञान व एकाग्रता रूप ध्यान, यह दो जिसका सर्वस्व हैं, उस ज्ञान-ध्यान से अप्रमत्त मुनि युक्त होता है।

→ अप्रमत्त मुनि मौनवाले होते हैं। क्योंकि, जो मौनी होते हैं, उनके पास ही ध्यान रूप धन होता है। जीवात्मा जब वाणी और मन दोनों का मौन धारण

करता है, तब तीनों जगत में प्रवर्तमान पदार्थों में व्याप्त मन की इष्टत्व-अनिष्टत्व, ममत्व वर्ज्यत्व इत्यादि विकल्प दशा दूर हो जाती है और इससे ध्यान प्राप्त होता है। (पुद्गल के संकल्प-विकल्प का भी त्याग हो जाए वह मन का मौन होता है।)

→ पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न मुनि मोहनीय की दर्शन सप्तक से अतिरिक्त २१ प्रकृतियों के उपशम या क्षय के लिये उद्यत होता है और निरालंबन ध्यान में प्रवेश शुरू करता है। (मोहनीय की कुल २८ प्रकृतियां हैं। आठ कर्मों की सभी प्रकृतियों के नाम परिशिष्ट-१ में दिये गये हैं।)

→ (टीका में कहा गया है कि,) निरालंबन ध्यान में प्रवेश करनेवाले योगी तीन प्रकार के होते हैं।^३ (१) प्रारंभक योगी, (२) तन्निष्ठ योगी और (३) निष्पन्न योगी।

→ **प्रारम्भक योगी :-** सम्यग् प्रकार का स्वाभाविक विरति का परिणाम प्राप्त करके अथवा सांसर्गिक विरति का परिणाम प्राप्त करके वानर सरीखी चपल चालवाले जगत में भ्रमण करनेवाले मन को रोकने के लिये - निगृहीत करने के लिये एकांत स्थान पर बैठकर, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि स्थापित करके, धीरतापूर्वक वीरासन कर, निश्चल-निष्कंप योगी विधिपूर्वक समाधि प्रारम्भ करते हैं, वे प्रारम्भक योगी कहलाते हैं।

→ **तन्निष्ठ योगी :-** पवन-आसन-इन्द्रिय-मन-भूख-तृषा और निद्रा पर विजय पानेवाले, अन्तर्जल्पाकार वचन से (आंतरिक चिंतन से) बार-बार तत्त्वों का अभ्यास करनेवाले, जीवों पर अत्यंत प्रमोद-करुणा और मैत्री भाव रखनेवाले तथा ध्यानगत क्रिया में प्रतिक्षण वृद्धि पानेवाले योगी तन्निष्ठ योगी कहलाते हैं।

→ **निष्पन्न योगी :-** बहिर्जल्प और अंतर्जल्परूपी कल्लोल की श्रेणियां जहां शांत हुई हैं (अर्थात् मन-वचन-काया की तरंगें शांत हो जाने से जहां योग स्थिरता प्राप्त हुई है) तथा सम्यग् विद्यारूपी कमलिनीवाले मनरूपी मान सरोवर में निर्लेपता से हमेशा जिसकी हंसरूपी आत्मा अमृतपान करती है, (आत्म

स्वरूप में रमण करती है) वह निष्पन्न योगी कहलाता है।

► अप्रमत्त गुणस्थानक में कौन-सा ध्यान का संभव :-

अप्रमत्त गुणस्थानक में योगियों को कौन-सा ध्यान होता है, यह दर्शाते हुए गुणस्थानक क्रमारोह में कहा गया है कि,

धर्मध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम् ।

रूपातीततया शुक्लमपि स्यादंशमात्रतः ।।३५।।

- सातवें गुणस्थानक में मुख्यतया श्री जिनेश्वर भगवंतों द्वारा भाषित स्वरूप वाला धर्मध्यान होता है और रूपातीत होने के कारण इसमें अंशतः (गौण रूप से) शुक्लध्यान भी होता है। संक्षेप में, सातवें गुणस्थानक में मुख्यतया धर्मध्यान और गौण रूप से शुक्लध्यान भी होता है। अब क्रमशः दोनों ध्यान का स्वरूप देखेंगे।

► धर्मध्यान :-

धर्मध्यान मैत्री आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। मैत्री आदि भेद से, पिंडस्थादि भेद से और आज्ञाविचयादि भेद से चार-चार प्रकार का होता है।⁴

► मैत्री आदि चार भेद से धर्मध्यान :-

धर्मध्यान को संस्कारित करने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य, यह चार भावनाएं होती हैं। क्योंकि, मैत्री आदि भावना धर्मध्यान को पुष्ट करने के लिये रसायन के समान है। मैं सभी जीवात्माओं का हित कैसे करूं ? सभी जीवात्माओं को मित्र समान मानना, कोई जीवात्मा मेरा कोई नुकसान नहीं करता है, दुःख देनेवाला जीवात्मा भी मेरे अशांता वेदनीय के क्षय में निमित्त होने से मित्र समान है, इत्यादि भावना रखना मैत्री भावना है। अन्य जीवात्माओं को दुःखों से मुक्त करने की भावना, सभी जीवात्मा संसार नामक उपाधि से कैसे मुक्त हों ? इस प्रकार की भावना करुणा भावना होती है। अन्य

जीवात्माओं के गुणों को देखकर आनंद हो, गुणवान पुरुषों के प्रति सन्मान भाव हो, इस प्रकार की भावना **प्रमोद भावना** कहलाती है और निर्गुणी जीवात्माओं के दोषों की उपेक्षा करना और उनके प्रति द्वेष न करना **माध्यस्थ्य** भावना कहलाती है। इन चार भावनाओं से धर्मध्यान संस्कारित होता है, पुष्ट होता है।

■ आज्ञाविचयादि भेद से धर्मध्यान :-

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान का चिंतन करना, इस प्रकार धर्मध्यान ध्येय के भेद से चार प्रकार का होता है। प्रभु की आज्ञा की महानता का चिंतन करना, इत्यादि आज्ञा की महानता - श्रेष्ठता-पाप नाशकता-संसार तारकता आदि का चिंतन करना, वह **आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान** कहलाता है। राग-द्वेष आदि दोष, मिथ्यात्वादि दुर्गुण, अपाय (आत्मीय नुकसान-अधःपतन) के कारण हैं, इस प्रकार अपाय का चिंतन करना वह **अपाय विचय नामक धर्मध्यान** है। कर्मों के विविध फलों का चिंतन करना वह **विपाक विचय धर्मध्यान** कहलाता है। षड् द्रव्यात्मक (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवात्मा, पुद्गल और काल यह छह द्रव्य स्वरूप) लोक की आकृति का चिंतन करना, वह **संस्थान विचय धर्मध्यान** कहलाता है। यहां आज्ञा विचय में प्रभु की आज्ञा ध्येय है। अपाय विचय में राग-द्वेषादि अपाय के कारण ध्येय हैं अथवा उपाधि-कष्टमय संसार ध्येय है। विपाक विचय में कर्मों के फल ध्येय हैं। संस्थान विचय में चौदह राजलोक का स्वरूप ध्येय है। (ध्यान के विषय को ध्येय कहा जाता है।)

■ पिंडस्थादि भेद से धर्मध्यान :-

धर्मध्यान के पिंडस्थादि भेद से चार प्रकार हैं। (१) पिंडस्थ ध्यान, (२) पदस्थ ध्यान, (३) रूपस्थ ध्यान और (४) रूपातीत ध्यान।⁵ इसमें आत्मा और शरीर दोनों के सम्बंधवाला जो ध्यान हृदय में है, यह पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। प्रभु की जीव सहित साक्षात् प्रभु के देह के आलंबन से जो ध्यान होता है, वह पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। पिंडस्थ ध्यान शरीर के आलंबन वाला है। हृदय

में व्याप्त अरिहंत आदि पदरूपी ध्यान पदस्थ ध्यान अर्थात् अरिहंत इत्यादि पद का ध्यान करना पदस्थ ध्यान कहलाता है। योगशास्त्र में कहा गया है कि, पवित्र पदों का आलंबन करके ध्यान करना पदस्थ ध्यान कहलाता है।⁶ कुछ विशेष प्रकार से कल्पित आत्मस्वरूप का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है। अथवा श्री अरिहंत श्वेत वर्ण के, सिद्ध परमात्मा रक्त वर्ण के इत्यादि किसी भी आकार रूप में कल्पना करके अरिहंतादि का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है। कल्पना रहित आत्मस्वरूप का ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है अर्थात् वर्ण-रूप-आकार आदि से रहित निरंजन-निराकार स्वरूप में आत्मध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है।

दूसरे ढंग से विचार करें तो, अपने शरीर के अंदर नाभि में कमल का चिंतन करके आत्मा या नवपदादि का ध्यान करना पिंडस्थ ध्यान कहलाता है। सिद्धांत के पद-मंत्र के पद अथवा श्री जिनेश्वर और मुनि भगवंत आदि ध्येय वस्तुओं पर मन को एकाग्र करना पदस्थ ध्यान कहलाता है। श्री जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा आदि स्थापना निक्षेपा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है। (यहां रूप अर्थात् प्रतिबिंब-प्रतिकृति-स्थापना इत्यादि अर्थ ग्रहण करने चाहिये।) प्रतिबिंबादि से रहित श्रीसिद्ध भगवंत अथवा अपनी आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना रूपातीत ध्यान कहलाता है।

इस प्रकार सातवें गुणस्थानक में मुख्यतः धर्मध्यान और गौणरूप से ^Aरूपातीतता से शुक्लध्यान होता है।

A धर्मध्यान का चौथा भेद रूपातीत ध्यान है। इस चौथे भेद का ध्यान जैसे रूपातीत होता है, वैसे ही शुक्लध्यान भी रूपातीत ध्यानरूप है। इसलिये धर्मध्यान के चतुर्थ स्तंभ के ध्यानवाले जीवात्मा को रूपातीतता का ध्यान होने से गौण रूप से वह शुक्लध्यान है। (अर्थात् यह कहा जा सकता है कि, रूपातीत धर्मध्यान मुख्य रूप से धर्मध्यान है और गौण रूप से शुक्लध्यान है। विचारसार ग्रंथ में धर्मध्यान के चार भेद दर्शाकर प्रथम तीन भेद को धर्मध्यान कहा गया है। (इसलिये शेष चतुर्थ भेद गौण रूप से शुक्लध्यान माना जाता है।)

➡ स्वाभाविक आत्मशुद्धि-आवश्यक क्रियाओं का अभाव :-

सातवें गुणस्थानक में प्रतिक्रमणादि आवश्यक क्रियाएं नहीं होती हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि, अतिचारों की शुद्धि कैसे होती होगी ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

इत्येतस्मिन् गुणस्थाने, नो सन्त्यावश्यकानि षट् ।

सततं ध्यानसद्योगाच्छुद्धिः स्वाभाविकी यतः (मता) ॥३६॥

- अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थानक में छह आवश्यक (प्रतिक्रमणादि आवश्यक) नहीं, फिर भी निरंतर उत्तम ध्यान से स्वाभाविक आत्म शुद्धि होती है।

यहां उल्लेखनीय है कि, इस गुणस्थानक में सामायिकादि व्यवहार क्रिया रूप छह आवश्यक नहीं हैं। परन्तु निश्चयदृष्टि से यह सभी छह आवश्यक विद्यमान हैं। क्योंकि, वे नैश्चयिक आवश्यक आत्मा के गुणरूप हैं। **शास्त्र में भी कहा गया है कि,** “आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। इत्यादि।⁷”

अप्रमत्त अवस्था में निरंतर उत्तम ध्यान का सद्भाव होने से स्वाभाविक ध्यान के साथ ही उत्पन्न हुई तथा संकल्प-विकल्प की परम्परा के अभाव से आत्मस्वभावरूप निर्मलता होती है। इस गुणस्थानक में स्थित जीव भावतीर्थ में अवगाहन (स्नान) करने से परम विशुद्धि प्राप्त करता है। जैसे नदी-समुद्र आदि द्रव्यतीर्थ में स्नान करनेवाले का दाह-ताप उपशांत हो जाता है, उसकी तृषादि का नाश हो जाता है और शरीर का मल दूर हो जाता है, वैसे ही ध्यान रूपी भावतीर्थ में स्नान करनेवाले के कषायों का निग्रह होने से परमविशुद्धि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इस गुणस्थानक के योगी विशिष्ट कोटि के धर्मध्यान के बल से कर्मों की निर्जरा करते हुए अपूर्व विशुद्धि में क्रमशः आगे बढ़ते हुए मनःपर्यव ज्ञान, आहारकादि लब्धियां, जंघाचारणादि लब्धियां प्राप्त करते हैं।

➡ विशुद्धि-कर्मबंध-यथाप्रवृत्तिकरण :-

कर्मग्रंथ में कहा गया है कि, इस गुणस्थानक के असङ्ख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण विशुद्धि स्थानक हैं और उत्तरोत्तर स्थानकों में अधिक से अधिक आत्म शुद्धि होती है। इस गुणस्थानक में स्थित साधक, छठवें गुणस्थानक में स्थित जीवात्मा सातों कर्मों का जितना बंध करता हैं, उनसे सङ्ख्यात सागरोपम कम कर्मोपार्जन करते हैं तथा कुछ जीवात्मा विशेष प्रकार की विशुद्धि में आगे बढ़ते हुए उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करने के लिये यथाप्रवृत्तिकरण नामक करण प्राप्त करते हैं। (इसके बाद अपूर्वकरण प्राप्त करके क्षपकश्रेणी या उपशमश्रेणी प्रारम्भ करते हैं।)

➡ नैश्चयिक सम्यक्त्व :-

(चतुर्थ गुणस्थानक से छठवें गुणस्थानक तक जो सम्यक्त्व होता है, वह व्यवहारिक होता है।) नैश्चयिक सम्यक्त्व सातवें गुणस्थानक में प्राप्त होता है। यह नैश्चयिक सम्यक्त्व रत्नत्रयी की एकाकार परिणति स्वरूप है अर्थात् सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रमय शुभ परिणाम नैश्चयिक सम्यक्त्व है।^८ वास्तव में तो भाव चारित्र ही नैश्चयिक सम्यक्त्व रूप है। क्योंकि, मिथ्याआचारों की (पारमार्थिक) निवृत्तिरूप कार्य निश्चय सम्यक्त्व रूप कारण से ही होता है। निश्चयनय जिस कारण के साथ कार्य न हो, उसे कारण नहीं मानता अर्थात् निश्चय नय कार्यानुपहित कारण को कारण के रूप में नहीं मानता है। इसलिये यहां यह समझना चाहिये कि निश्चय सम्यक्त्व रूप कारण के साथ भावचारित्र रूप कार्य की साधना रहती है। (निश्चय नय की मान्यता है कि यदि भावचारित्र रूपी कार्य की साधना नहीं, तो सम्यक्त्व नहीं। चतुर्थ से छठवें गुण स्थानक तक जो सम्यक्त्व है, वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इसलिये निश्चय सम्यक्त्व सातवें गुण स्थानक में होता है।^९ आचारांग सूत्र में भी कहा गया है कि,^{१०}

“जो सम्यक्त्व है, वही (मौन) चारित्र है और जो (मौन) चारित्र है, वही

सम्यक्त्व है। इस (निश्चय) सम्यक्त्व का पालन अल्प सत्त्ववाले, स्त्री-पुत्रादि के प्रति स्नेह रखनेवाले, शब्दादि विषयों में गृद्धिवाले, माया आदि वक्र आचारवाले, विषय-कषायादि प्रमादवाले या गृहवास में रहनेवाले गृहस्थों के लिये संभव नहीं। बल्कि मौन = चारित्र को अंगीकार करके कर्म रूपी (कर्मण) शरीर का नाश करनेवाले मुनियों तथा सम्यग्दर्शनवाले धीर महर्षियों कि. जो प्रान्त (निरुपयोगी-उच्छिष्ट) तथा रुक्ष (नीरस-वीरस) आहारादि का उपयोग करनेवाले हैं, उन्हीं के लिये इसका पालन संभव है।”

इसके अलावा, शास्त्रों में सम्यक्त्व के जो प्रशमादि पांच लक्षण दर्शाए गये हैं, वे भी निश्चय सम्यक्त्व के आश्रय से समझने चाहिये¹¹ अर्थात् वे लक्षण निश्चय सम्यक्त्व के हैं, व्यवहार सम्यक्त्व के नहीं। इसीलिये सद्धर्म विंशिका में कहा गया है कि,

णिच्छयसम्मत्तं वाहिगिच्च सुत्तभणिआनिउणरुवं तु ।

एवंविहो निओगो होइ इमो हंत वण्णुत्ति ।।१७।।

- शास्त्रों में सम्यक्त्व का जो सुंदर (निपुण) स्वरूप दर्शाया गया है, उस निश्चय सम्यक्त्व की अपेक्षा से इस प्रकार का (शम-संवेगादि लक्षणों का) नियोग (आत्मा में) होता है, यह कहना (समझना) चाहिये अर्थात् शम-संवेगादि लक्षण निश्चय सम्यक्त्व पर आधारित है, यह समझना चाहिये।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि, भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा से निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप भिन्न भिन्न है, ऐसा धर्मसंग्रह-योगशास्त्र आदि ग्रंथों में कहा गया है।¹² इस विषय में विशेष टिप्पणक-१२ देखें।

➡ आंशिक शुक्लध्यान :-

सातवें गुणस्थानक में आंशिक (गौण रूप से) शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान के चार प्रकार (स्तंभ) शास्त्र में दर्शाए गये हैं। शुक्लध्यान के यह चार स्तंभ इस प्रकार हैं - (१) सपृथक्त्व सवितर्क सविचार। (२) अपृथक्त्व-सवितर्क-

अविचार, (३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति और (४) समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति। अब अवसर प्राप्त शुक्लध्यान के चारों स्तंभों का स्वरूप और उसका किस गुणस्थानक में मुख्यतः सद्भाव होता है, इस बारे में विचार करेंगे।

(१) प्रथम शुक्लध्यान : सपृथक्त्व सवितर्क सविचार :-

स्वरूप :- सवितर्क सविचारं, सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।

त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ॥६०॥

अर्थ :- तीन योगवाले (मन-वचन-काया, यह तीन योगवाले योगी) मुनि को सपृथक्त्व सवितर्क सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान होता है।

(मुख्यतया यह प्रथम शुक्लध्यान आठवें गुणस्थानक में होता है।) प्रथम शुक्लध्यान में दिये गये तीनों विशेषणों का अर्थ इस प्रकार है -

श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात्, विचारः संक्रमो मतः ।

पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं, भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥६१॥

- श्रुत की चिन्ता-मनन अर्थात् वितर्क, एक मनन से दूसरे मनन पर संक्रमण (जाना) वह विचार और अनेकता वह पृथक्त्व। इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान तीन विशेषणों से युक्त है। प्रथम शुक्लध्यान क्रम-उत्क्रम से ग्रहण हुए तीन विशेषण से युक्त होता है। इसमें (१) श्रुत का मनन वह वितर्क, (२) अर्थ - शब्द और योग तीनों का संक्रमण वह विचार, (३) द्रव्य-गुण और पर्याय की भिन्नता वह पृथक्त्व। अब तीनों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गुणस्थानकक्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि¹²,

“अपने शुद्ध आत्म स्वरूप के अनुभव से आत्मगत भाव श्रुत के आलंबन से, जिस ध्यान में अंतर्जल्पाकार रूप वितर्क हो, वह सवितर्क से उत्पन्न हुआ शुक्लध्यान है अर्थात् जिस ध्यान में आंतरिक ध्वनि रूपी विचारात्मक वितर्क हो, वह सवितर्क ध्यान है, यह ध्यान अपने निर्मल परमात्म तत्त्व के अनुभवमय आंतरिक भावगत श्रुत ज्ञान (चौदह पूर्वगत श्रुत ज्ञान) के आलंबन से उत्पन्न होता है।

जिस ध्यान में पूर्व कथित वितर्क एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक योग से दूसरे योग में संक्रमित होता है - जाता है, वह ध्यान **सविचार** अर्थात् संक्रमणयुक्त है और एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में, एक गुण से दूसरे गुण में तथा एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाता है, वह ध्यान **सपृथक्त्व** कहलाता है अर्थात् जिस ध्यान में पूर्व कथित विचार रूपी वितर्क और संक्रमण रूपी सविचार होता है। अर्थ संक्रांति, व्यंजन संक्रांति और योग संक्रान्ति युक्त होने के बावजूद अपने शुद्ध आत्मरूप द्रव्यांतर में जाए अथवा एक गुण से दूसरे गुण में जाए अथवा एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाए, उन द्रव्य - गुण - पर्यायान्तरों में जो अन्यत्व (पृथक्त्व) होता है वह **सपृथक्त्व ध्यान** कहलाता है। इस प्रथम शुक्लध्यान से आत्मा मोक्ष रूपी लक्ष्मी के सुख की उदाहरण रूप आत्मशुद्धि प्राप्त करती है अर्थात् इस ध्यान से आत्मा मोक्ष सुख का आस्वाद अनुभव करती हो, ऐसी आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है और अतिविशुद्धि के कारण आगे के गुण स्थानकों में चढ़ने की अभिलाषावाली होती है।”

(२) द्वितीय शुक्लध्यान : अपृथक्त्व-सवितर्क-अविचार :-

“भूत्वाऽथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महामुनिः । पूर्ववद्भावसंयुक्तो, द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत् ॥७४॥ अपृथक्त्वमवीचारं, सवितर्कगुणान्वितम् । स ध्यायत्येकयोगेन, शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥७५॥”

- आत्मा क्षीणमोह होकर वीतराग, महामुनि तथा भावयुक्त होकर पूर्वोक्त ढंग से द्वितीय शुक्लध्यान का आश्रय लेती है। इस बारहवें गुणस्थानक में स्थित क्षपक आत्मा पृथक्त्व रहित, विचार रहित और मात्र वितर्क गुणयुक्त दूसरे शुक्लध्यान को तीन योगों में से किसी भी एक योग से ध्याती है।^A

A एक त्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेकयोगवताम् । तनुयोगिनां तृतीयं, नियोगिनां चतुर्थं तु ॥

- तीन योगवाले को प्रथम, एक योगवाले को द्वितीय, केवल काय योगी को तृतीय और अयोगी को चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। द्वितीय शुक्लध्यान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि “अपने एक आत्म द्रव्य को अथवा अपने आत्म द्रव्य के एक पर्याय को अथवा एक गुण को जहां निश्चलता से चिंतन हो, उसे एकत्व (अपृथक्त्व) ध्यान कहा जाता है। व्यंजन, अर्थ व योग में परावृत्ति रहित (तीन में से किसी एक का) जो ध्यान है, उसे अविचार ध्यान कहा जाता है। अपनी विशुद्ध आत्मा में निहित सूक्ष्म विचार रूपी चिंतन भाव श्रुत के आलंबन से हो, वह सवितर्क द्वितीय शुक्लध्यान कहलाता है।” इस द्वितीय शुक्लध्यान में जीवात्मा में अपनी आत्मा का अनुभव होने से समरसीभाव उत्पन्न होता है। ध्यान के प्रभाव से आत्मा परमात्मा में एकाकार रूप से लीन हो जाए, वह समरसीभाव, वह इस दूसरे शुक्लध्यान में होता है।¹³

(३) तृतीय शुक्लध्यान : सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति :-

स्वरूप :- आत्मस्पन्दान्तिका सूक्ष्मा क्रिया यत्रानिवृत्तिका ।

तत्तृतीयं भवेच्छुक्लं, सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिकम् ॥९६॥

- जहां सूक्ष्म आत्म स्पंदन (आत्म प्रदेशों की तथा काया की चपलता) निवृत्त न हो वह सूक्ष्मक्रियाअनिवृत्ति तृतीय शुक्लध्यान है अर्थात् जिस ध्यान में आत्मप्रदेशों की स्पंदना रूपी सूक्ष्म क्रिया सूक्ष्मत्व छोड़कर कभी भी बादरता पानेवाली नहीं, वह सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहलाती है।

यद्यपि सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान का ध्यान करनेवाले केवली भगवंत आत्मवीर्य की अचिन्त्य शक्ति से बादरकाययोग में स्वभाव से ही रहकर बादर वचनयोग तथा बादर मनोयोग को सूक्ष्म बनाते हैं, इसके बाद सूक्ष्म मन और वचनयोग में रहकर बादर काययोग का त्याग करके, त्यक्त बादर काययोग को सूक्ष्म बनाते हैं। पुनः क्षण भर (अंतर्मुहूर्त पर्यन्त) वह अति सूक्ष्म बने वह

काययोग में रहकर शीघ्र सूक्ष्मवचनयोग तथा मनोयोग का निग्रह करते हैं - सर्वथा उसकी सत्ता को क्षीण करते हैं। इसके बाद पुनः क्षणभर सूक्ष्म काययोग में रहकर प्रकट रूप से सूक्ष्म क्रिया और ज्ञान रूप अपनी आत्मा को अनुभव करते हैं। (जैसे छद्मस्थ योगी के मन की स्थिरता ही ध्यान है, वैसे ही केवली भगवंत की काया की स्थिरता ध्यान है।) यह तृतीय शुक्लध्यान तेरहवें सयोगी गुणस्थानक के अंत में होता है।

(४) चतुर्थ शुक्लध्यान :-

“तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं, समुच्छिन्नक्रियात्मकः । चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ।।१०५।। समुच्छिन्ना क्रिया यत्र, सूक्ष्मयोगात्मिकापि हि । समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं, तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ।।१०६।।”

- चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में अयोगी भगवंतों को समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति रूपी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। जिस ध्यान में सूक्ष्मकाय योग रूप क्रिया सर्वथा विनष्ट हो जाती है, वह समुच्छिन्न क्रिया रूप चतुर्थ शुक्लध्यान मोक्ष रूपी महल के द्वार समान है।

यह चार प्रकार के शुक्लध्यान का स्वरूप है। सातवें गुणस्थानक में यह शुक्लध्यान गौणरूप में होता है।

➡ असंग अनुष्ठान :-

इस गुणस्थानक में प्रीति आदि चार में से चतुर्थ असंग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। असंग अनुष्ठान का स्वरूप पिछले प्रकरण में दर्शाया जा चुका है।

➡ विशेष : सातवें गुणस्थानक में ...मन निर्विकल्प बन जाता है। रत्नत्रयी की एकाकार परिणति की प्राप्ति होती है। इससे सुख-दुःख, संसार-मोक्ष, मिट्टी-स्वर्ण आदि में समदृष्टि प्राप्त होती है। संसार के प्रति द्वेष नहीं होता है और मोक्ष का राग भी नहीं होता है अर्थात् परिपक्व कोटि का उदासीन भाव और परिपक्व निरुपाधिकता प्राप्त होती है। आत्मा परब्रह्म में (आत्मा में)

लीन हो जाती है, तात्त्विक मग्नता प्राप्त होती है, पौद्गलिकी कथा में मन अंशतः भी नहीं जाता है, भगवती सूत्र में वर्णित (साधु को प्राप्त होनेवाली) तेजोलेश्या की (मन की सुखासिका की) अत्यंत वृद्धि होती है।

इस गुणस्थानक में क्षयोपशम भाव से ज्ञान-दर्शन-चरित्र का एकाकारवाला परिणाम होता है। इसलिये श्रद्धा, ज्ञान तथा प्रवृत्ति इन तीनों का संवाद होता है। (मोक्ष में स्थित सिद्ध परमात्मा में ज्ञान-दर्शन-चरित्र का एकाकारवाला परिणाम क्षायिक भाव में होता है। इस गुण स्थानक में क्षयोपशम भाव होता है। इसलिये मोक्ष के सुख की साक्षात् आंशिक अनुभूति हुई कहलाती है।) यहां सामर्थ्य योग तथा प्रातिभ ज्ञान की पूर्व भूमिका होती है। दोनों का स्वरूप आगे के प्रकरण में दर्शाएंगे।

► योगदृष्टि में विकास :-

इस सातवें गुणस्थानक में मुख्यतया सातवीं योगदृष्टि होती है और गौण रूप से आठवीं दृष्टि होती है। सातवींदृष्टि (कि जो गौण रूप से छठवें गुणस्थानक में होती है, उस सातवीं दृष्टि) का वर्णन पूर्व के 'सर्वविरति गुणस्थानक' नामक प्रकरण में किया गया है। अब यहां आठवींदृष्टि का वर्णन करेंगे। यह आठवीं दृष्टि मुख्यतः आठवें गुणस्थानक में प्राप्त होती है और उसका फल केवलज्ञान है।

→ टिप्पणकम् : 1. यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ १ ॥ यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ २ ॥ (गुण. क्रमा-३२/टीका) 2. अठारह हजार शीलाङ्गः- श्री जैनशासन में अखण्डचारित्रयुक्त भावसाधुओं को अवश्य अठारह हजार शीलाङ्ग होते हैं (शीलाङ्गविधि पञ्चाशक-२) यह शीलाङ्गरथ इस प्रकार के हैं। जो ए करणे सण्णाईदियभूम्यादिसमणधम्मं य । सीलंगसहस्साणं, अट्टारसगस्स णिप्फत्ती ॥ ३ ॥ योग, करण, संज्ञा, इन्द्रिय, पृथ्वीकायादि तथा श्रमणधर्म, इन सभी के संयोग से अठारह हजार शीलाङ्ग होते हैं। (करण-करावण-अनुमोदन यह तीन

प्रकरण - १७/१ आठवीं परा दृष्टि

सातवीं दृष्टि में प्राप्त हुए 'ध्यान' की परिपक्वता से और बोध के उत्कर्ष से साधक आठवीं परा दृष्टि में प्रवेश करता है। यह दृष्टि मुख्यतः सामर्थ्ययोग की उपस्थिति में प्राप्त होती है और उपचार से सामर्थ्य योग की पूर्व भूमिका में प्राप्त होती है। इस दृष्टि में क्षयोपशम भाव की अंतिम अवस्था में और क्षायिक भाव की पूर्वावस्था में चंद्र की प्रभा समान प्रकृष्ट बोध प्राप्त होता है, जो समाधि का प्रापक बनता है।

■ चंद्र की प्रभा समान बोध :-

“परायां पुनर्दृष्टौ चन्द्रचन्द्रिकाभासमानो बोधः, सद्ध्यानरूप एव सर्वदा, विकल्परहितं मनः, तद्भावेनोत्तमं सुखम्, आरूढावरोहणवन्नानुष्ठानं प्रतिक्रमणादि, परोपकारित्वं यथाभव्यत्वम्, तथा पूर्ववदवन्ध्या क्रियेति ।”
[यो. दृ. समु.]

■ बोध :-

परादृष्टि में चन्द्र की कांति समान बोध होता है। सातवीं दृष्टि में सूर्य की कांति समान बोध था, उसकी अपेक्षा परा दृष्टि का बोध अधिक होता है। चन्द्र की शीतलता, सौम्यता, तेजस्विता और दूरवर्तिता आदि की अपेक्षा से सूर्य के प्रकाश की तुलना में चन्द्र के प्रकाश की अधिकतरता दर्शाई गई है।

→ बोध सर्वदा सद्ध्यान रूपी ही है :- परादृष्टि का बोध सामर्थ्य योग-प्रातिभ ज्ञान की पूर्व भूमिका में शुरू होता है। सामर्थ्य योग-प्रातिभ ज्ञान के काल में भी होता है और केवलज्ञान की प्राप्ति से पहले तक होता है। इसका फल केवलज्ञान है। इसलिए यह दृष्टि का बोध-हंमेशा सद्ध्यान रूप ही होता है।

→ विकल्प रहित मन व उससे उत्तम सुख :- इस दृष्टि में मन विकल्प रहित होता है और उससे मन प्रकर्ष से आत्म भाव में स्थिर होता है। इसलिये

योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है। (इस विषय में समाधि योगांग के वर्णन में विशेष ज्ञान प्राप्त होगा।)

→ **प्रतिक्रमणादि अनुष्ठान का अभाव :-** प्रतिक्रमणादि क्रियाएं सद्ध्यान में जाने के लिये ही होती हैं। विभाव में जानेवाले मन को स्वभाव में स्थिर करके सद्ध्यान में ले जाने के लिये प्रतिक्रमणादि क्रियाएं की जाती हैं। इसलिये जैसे किसी व्यक्ति को पर्वत पर चढ़ने के बाद पर्वत पर चढ़ने की क्रिया करने की आवश्यकता नहीं रहती है, वैसे ही परा दृष्टिवाले योगी को सद्ध्यान में जाने के बाद उसमें जाने के लिये उपयोगी प्रतिक्रमणादि की क्रियाएं नहीं करनी पड़ती हैं।

→ **यथायोग्य परोपकारिता :-** परा दृष्टि के योगी इस बोध के सामर्थ्य से योग्य जीवात्माओं पर परोपकार भी करते हैं। मन विकल्प रहित और सद्ध्यान में होने के कारण इस दृष्टि के योगियों का परोपकार सहज होता है।

→ **अवंध्य सत्क्रिया :-** जैसे प्रभादृष्टि में स्थित योगी संप्राप्त बोध के प्रभाव से असंग अनुष्ठान को पाकर, असंगभाव से क्षपकश्रेणी के सन्मुख अवंध्य क्रिया करते हैं, वैसे ही परा दृष्टि में स्थित योगी भी जो क्रिया करते हैं, वह वीतराग भाव की अवंध्य कारण बनती है। इसलिये उनकी क्रिया भी वीतराग भाव की प्राप्ति का कारण होने से अवंध्य होती है।

परा दृष्टि का स्वरूप और उसमें प्राप्त होनेवाले योगांग आदि का निरूपण करते हुए योग दृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

“समाधिनिष्ठा तु परा तदासङ्गविवर्जिता ।

सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥१७८॥”

- परा दृष्टि समाधि निष्ठ है (अर्थात् परा दृष्टि में समाधि नामक आठवें योगांग की प्राप्ति होती है)। समाधि आसंग दोष से रहित है, इसमें सात्मीकृत प्रवृत्ति होती है (अर्थात् चंदन-गंध न्याय से सर्वांगीण रूप से एकत्व परिणत प्रवृत्ति होती है) और प्रवृत्ति उत्तीर्ण आशयवाली होती है। (अर्थात् योगमार्ग की

प्रवृत्ति सभी प्रकार से विशुद्ध होने के कारण, प्रवृत्ति वासक (असद्) मन का अभाव होता है)।

■ समाधि योगांग की प्राप्ति :-

परा दृष्टि में समाधि नामक योगांग की प्राप्ति होती है। समाधि का स्वरूप दर्शाते हुए सदृष्टि बत्तीसी में कहा गया है कि,

“स्वरूपमात्रनिर्भासं समाधिर्ध्यानमेव हि ।

विभागमनतिक्रम्य परे ध्यानफलं विदुः ॥२४-२७॥”

- ध्येय के स्वरूपमात्र के निर्भासवाला ध्यान ही समाधि है। अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि विभाग का अतिक्रम किये बिना ध्यान का फल समाधि है।

ध्यान विशेष ही समाधि है। स्वरूप मात्र के निर्भासवाला ध्यान ही समाधि है। प्रभा दृष्टि में ध्यान था और यहां विशिष्ट ध्यान रूपी समाधि है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, प्रभा दृष्टि में प्राप्त ध्यान में ध्येय, ध्यान और ध्याता, इन तीनों का अलग-अलग प्रतिभास होता है अर्थात् “उस परमात्मा का मैं ध्यान करता हूं। इसलिये मैं ध्याता हूं और मेरा ज्ञान का उपयोग ध्यान है और परमात्मा ध्येय है।” इस प्रकार तीनों का प्रतिभास (निर्भास) अलग-अलग होता है। जबकि समाधि में, ध्येय स्वयं से पृथक् है, ऐसा निर्भास नहीं होता है। इसके अलावा मैं स्वयं से पृथक् ध्येय का ध्याता हूं, ऐसा निर्भास भी नहीं होता है। यद्यपि मैं ध्येय परमात्मा का ध्यान करता हूं, ऐसा भी निर्भास नहीं होता है। बल्कि ध्येयाकार परिणत ज्ञान होता है अर्थात् स्वयं में सत्ता स्वरूप से निहित परमात्म रूपी ध्येय के स्वरूप मात्र का अवभास होता है। ऐसे ध्यान विशेष को समाधि कहा जाता है।

■ ‘तत्त्व प्रवृत्ति’ गुण की प्राप्ति :-

परा दृष्टि में योग के अद्वेषादि गुणों में से अंतिम गुण ‘तत्त्व प्रवृत्ति’ प्राप्त होता है। इस दृष्टि में आत्मा के स्वभाव के रूप में परिणत प्रवृत्ति होती है। योग के प्रतिपन्थी

खेदादि दोषों में से अंतिम दोष 'आसंग' इस दृष्टि में नहीं होने से इस दृष्टि में 'आत्मसात् हुई प्रवृत्ति' नामक गुण होता है। [तदासङ्गविवर्जिता सात्मीकृतप्रवृत्ति-श्च समाध्यासङ्गविवर्जिता भूतप्रवृत्तिश्चैषा चन्दनगन्धन्यायेन ।]

षोडशक ग्रंथ में 'प्रवृत्ति' की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि, प्रवृत्ति: परिशुद्धः प्रतिपत्त्यनन्तरभाविनी तत्त्वविषया क्रिया । परिशुद्ध तत्त्व प्रतिपत्ति के बाद होनेवाली तत्त्व सम्बन्धी क्रिया (स्वभावस्थ क्रिया) को प्रवृत्ति कहा जाता है।

⇒ 'आसंग' दोष का नाश :-

आठवीं दृष्टि में 'आसंग' नामक दोष का नाश हो जाता है। आसंग दोष की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि,

आसङ्ग प्रकृतानुष्ठाने विहितेतरानुष्ठानप्रीत्यतिशयितप्रीतिः ।

- प्रकृत अनुष्ठान में इतर विहित अनुष्ठान की प्रीति से अतिशयित जो प्रीति होती है उसे आसंग दोष कहा जाता है।

कहने का आशय यह है कि, कोई भी अनुष्ठान करते समय "यही अनुष्ठान अच्छा है।¹" - अधिकृत अनुष्ठान के प्रति इस प्रकार की अतिशयित प्रीति को आसंग दोष कहा जाता है। ऐसी प्रीति के कारण वे अनुष्ठान अधिक से अधिक सुरक्षित बनते हैं। परन्तु उत्तरोत्तर विशुद्ध अनुष्ठानों की प्राप्ति नहीं होती है। परा दृष्टि में इस आसंग दोष का नाश हो जाता है और आसंग रहित प्रवृत्ति योगियों को कृतकृत्य बनाती है - यह बात सदृष्टि बत्तीसी में कही गई है, जो आगे देखेंगे।

⇒ 'निराचार' पद की प्राप्ति :-

आठवीं दृष्टि में योगी 'निराचार' पदवाले बन जाते हैं।² आठवीं दृष्टिवाले योगी सहज समाधि में स्थित होने के कारण उनके लिये समता की वृद्धि हेतु किसी आचार का पालन करना आवश्यक नहीं होता है और आचारों का पालन नहीं करने के कारण

उन्हें अतिचार भी नहीं लगते हैं। यद्यपि आठवीं दृष्टिवाले योगियों में आचार से जीतने योग्य कर्म ही नहीं होते हैं और जो कर्म होते हैं वे आचार से नहीं जीते जा सकते हैं, इसके लिये विशिष्ट ध्यान ही आवश्यक होता है ... इस विशिष्ट ध्यान रूपी समाधि में आठवीं दृष्टि के योगी सहजभाव से प्रवर्तमान होते हैं।

आठवीं दृष्टिवाले योगी निराचार पदवाले क्यों होते हैं, यह दृष्टांत देकर समझाया गया है कि, जैसे पर्वत पर आरूढ़ हों, उन्हें आरोहण की प्रवृत्ति नहीं करनी पड़ती है। बल्कि जो आरूढ़ नहीं हुए हैं, उन्हें ही आरोहण की क्रिया करनी होती है। वैसे ही आठवीं दृष्टि से पूर्व की दृष्टि के योगियों को योग पर आरूढ़ होने के लिये अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार आचारों का पालन करके ऊपरी भूमिका में आरूढ़ होने का प्रयत्न करना होता है। जबकि आठवीं दृष्टि के योगी योग पर स्वयं आरूढ़ होने से उन्हें आरोहण के अनुकूल किसी आचार का पालन नहीं करना पड़ता है। इसलिये वे निराचार पदवाले होते हैं। यद्यपि उनके कर्म बाह्य आचारों से जीतने योग्य नहीं होते हैं, इसके बावजूद समाधि से जीतने योग्य कर्म होते हैं, उन्हें वे समाधि में रहकर जीतते हैं। इस प्रकार आठवीं दृष्टि निराचार पदवाली है।

सद्दृष्टि बत्तीसी में अन्य उदाहरण से समझाया गया है कि^३ ...परा दृष्टि में स्थित योगियों की सभी चेष्टाएं (क्रियाएं) भुक्त के लिये भोजन क्रिया के अभाव जैसी बताई गई हैं अर्थात् जिसने भोजन कर लिया है ऐसे भुक्त को भोजन की क्रिया करने की आवश्यकता नहीं होती है, वैसे ही परा दृष्टिवाले योगियों को शास्त्र निर्दिष्ट कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती है। बल्कि वे ध्येयाकार परिणत ज्ञान रूपी समाधि में मस्त रहते हैं अर्थात् ध्येय भूत अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिये समाधि में ही प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि समाधि तक पहुंचने में बाधक कर्म परा दृष्टि के साधकों में नहीं होते हैं। पूर्व भूमिका में ऐसे कर्म अड़चन बनते हैं। इसलिये ऐसे कर्मों का नाश करने के लिये शास्त्रविहित क्रियाएं की जाती थी। ऐसे कर्मों के नाश से समाधि सहज बनने पर अब वह शास्त्र निर्दिष्ट क्रियाएं नहीं करनी पड़ती हैं। यद्यपि जैसे भोजन करने के बाद भुक्त को भोजन करने की इच्छा नहीं होती है। वैसे ही उनका आचारों का पालन करके सफलतापूर्वक कर्मों का नाश हो

गया है। इसलिये कर्मों का नाश करने के लिये उन्हें आचारों का पालन करने की इच्छा भी नहीं होती है।⁴

प्रश्न :- यदि परादृष्टि के योगियों में सभी आचारों का अभाव है, तो भिक्षाटनादि आचार परादृष्टि में कैसे होते हैं ?

उत्तर :- परादृष्टिवाले योगी के भिक्षाटनादि आचार उससे पूर्व की दृष्टिवाले योगियों के आचार से भिन्न होते हैं। फल के भेद से इन भिन्न-भिन्न भूमिका के योगियों के आचारों में भिन्नता होती है, ऐसा योग दृष्टि समुच्चय और सदृष्टि बत्तीसी में कहा गया है।⁵ प्रसिद्ध उदाहरण देकर समझाया गया है कि, जैसे रत्न की परीक्षा करने में निपुण बनने की इच्छावाला व्यक्ति उस विषय के अध्ययन के समय कौन-सा रत्न अधिक श्रेष्ठ है और कौन-सा रत्न उससे कम श्रेष्ठ है, इस भेद को सीखने के लिये (ग्रहण करने के लिये) तत्पर रहता है और उसका उपयोग उसी प्रकार से प्रवर्तमान होता है। दूसरी तरफ जिसने रत्न की परीक्षा का अध्ययन कर लिया है, ऐसा सुपरीक्षित व्यापारी रत्न के व्यापार में प्रवृत्त होता है, तब वह किस रत्न से उसे अधिक लाभ होगा और किस रत्न से कम लाभ होगा, यह सुनिश्चित करता है और लाभ-हानि को उपयोग में रखकर खरीदता है। परन्तु खरीदते समय मात्र रत्नों के परस्पर विलक्षण भाव (कौन-से रत्न अधिक श्रेष्ठ हैं, कौन-से कम श्रेष्ठ हैं, ऐसे विलक्षण भाव) नहीं देखता है। यहां जैसे रत्न के निरीक्षण और व्यापार में भिन्नता है, वैसे ही परादृष्टिवाले योगियों के भिक्षाटनादि आचार पालन में भी भिन्नता है। रत्न का निरीक्षक मात्र गुण-दोष का ही निरीक्षण करता है, जबकि रत्न का व्यापारी लाभ-हानि का विचार करके रत्नों की खरीदी करता है। इसी प्रकार परादृष्टि से पूर्व दृष्टिवाले योगी सांपरायिक कर्मों का क्षय करने के लिये आचारों का पालन करते हैं और परादृष्टिवाले योगी भवोपग्राही कर्मों का क्षय करने के लिये भिक्षाटनादि आचारों का पालन करते हैं। इसलिये परादृष्टिवाले योगी सांपरायिक कर्मों का क्षय करने के लिये आचारों का पालन नहीं

करते हैं। इसलिये ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है कि उनमें आचारों का अभाव होता है अर्थात् वे निराचार पदवाले होते हैं।

► परा दृष्टिवाले योगियों की कृतकृत्यता :-

परादृष्टि के साधक की कृतकृत्यता का वर्णन करते हुए योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि,

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत् ।

तथाऽयं धर्मसंन्यासविनियोगान्महामुनिः ॥१८१॥

- जैसे लोक में रत्न का व्यापारी रत्न के व्यापार से कृतकृत्य (धनाढ्य) होता है, वैसे ही परा दृष्टि के योगी (महामुनि) धर्म संन्यास के नियोग से (क्षयोपशम भाव के धर्मों के त्याग के व्यापार से) कृतकृत्य होता है = वीतराग-सर्वज्ञ होता है।

► द्वितीय अपूर्वकरण में मुख्य धर्मसंन्यास :-

समाधि में निष्ठ आठवीं दृष्टिवाले योगी समाधि के बल से जब क्षपकश्रेणी शुरू करते हैं, तब दूसरे अपूर्वकरण में (आठवें गुणस्थानक में) मुख्य धर्मसंन्यास प्राप्त करते हैं और उसके फलस्वरूप उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह धर्मसंन्यास उपचार से छठवें गुणस्थानक से प्रारम्भ होता है, ऐसा जानना चाहिये। मुख्यतः द्वितीय अपूर्वकरण में होता है। (प्रथम अपूर्वकरण ग्रंथि भेद करते समय होता है और द्वितीय अपूर्वकरण आठवें गुणस्थानक में होता है, यह स्मरण रखना चाहिये।) विशेषतः ...

→ धर्मसंन्यास के बल से योगी केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

→ सभी लब्धियों के फल से युक्त केवलज्ञान की लक्ष्मी को पाकर सयोगी केवली भगवंत (तेरहवें गुण स्थानक में स्थित सयोगी केवली भगवंत) जगत पर प्रकृष्ट कोटि का (बोधि बीज की बुवाई करना इत्यादि) परोपकार करते हैं।

→ इसके बाद योग के (मन-वचन-काया के व्यापार रूपी योग के) अंत को

प्राप्त करते हैं और मोक्ष (परमानंद रूपी स्थान) को प्राप्त करते हैं।⁶ (इस विषय में विशेष चर्चा आगे की जाएगी।) इस प्रकार प्रथम गुण स्थानक से शुरू हुई मोक्षयात्रा (मोक्ष प्राप्त होने पर) समाप्त होती है और आत्मा मोक्ष में अक्षय-अकलंक-अनंतसुख की मालिक बनती है। सर्वथा कृतकृत्य बनती है।⁷ अपने घर में आकर सदा की विश्रान्ति प्राप्त करती है।

→ **टिप्पणकम् :** 1. आसङ्गेऽपि चित्तदोषे सति विधीयमानानुष्ठाने 'इदमेव सुन्दरमि' - त्येवरूपे XXX आसङ्गयुक्तं ह्यनुष्ठानं गौतमगुरुभक्तिदृष्टान्तेन तन्मात्रगुणस्थानकस्थितिकार्येव न मोहोन्मूलनद्वारेण केवलोत्पत्तये प्रभवति, तस्मात् तदर्थिनाऽसङ्गस्यदोषता ज्ञेयेति (षोडशक-१४/११-टीका) 2. निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः। आरुढारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥१७९॥ (यो० इ० समु०) 3. निराचारपदो ह्यस्यामतः स्यान्नातिचारभाक्। चेष्टा चास्याखिला भुक्तभोजना-भाववन्मता ॥२४-२८॥ 4. आचारजेयकर्मभावात् तस्य भुक्तप्रायत्वात्सिद्धत्वेन तदिच्छाविघटनात् ॥२८॥ (सद्दृष्टि० द्वा० - टीका) 5. रत्नादिशिक्षादग्भ्योऽन्या यथा दृकृतत्रियोजने। तथाचारक्रियाप्यस्य सैवान्या फलभेदतः ॥१८०॥ 6. घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगाऽनिलाऽऽहतेः। यदाऽपैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥१८४॥ क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः। परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥१८५॥ तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात्। भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥१८६॥ (योगदृष्टि समु०) 7. "क्षीणदोष सर्वज्ञ महामुनि, सर्वलब्धिफल भोगीजी, पर उपकार करी शिवसुख ते, पामे योगी अयोगीजी, सर्वशत्रुक्षय सर्वव्याधिलय, पूरण सर्व समीहाजी, सर्व अरथयोगे सुख तेहथी, अनंतगुण निरीहाजी (८-३) (यो. दृ. सज्ज्ञाय)"

● अध्यात्म गुण की वृद्धि कब होती है ?

शान्तो दान्तः सदा गुप्तो, मोक्षार्थी विश्ववत्सलः।

निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात्, साध्यात्मगुणवृद्धये ॥७॥

- हमेशा शांत, दांत, गुप्ति से गुप्त, मोक्षार्थी और विश्ववत्सल जीवात्मा जो आडम्बर रहित क्रिया करता है, वह क्रिया अध्यात्म गुण की वृद्धि के लिये होती है। (अध्यात्मसार-अध्यात्म स्वरूपाधिकार)

प्रकरण - १८ : गुणस्थानक आठ से बारह :

क्षपकश्रेणी-उपशमश्रेणी

● आठवां गुणस्थानक : अपूर्वकरण :-

आठवें गुणस्थानक का नाम अपूर्वकरण है। सप्तम गुणस्थानकवर्ती अप्रमत्त मुनिभगवंत संज्वलन कषाय तथा नोकषाय अत्यंत मंद हों तब जिस गुणस्थानक में पूर्व में अप्राप्त अपूर्व परमआह्लाद रूपी (आनंदमय परिणाम) आत्म परिणाम प्राप्त करते हैं, उसे अपूर्वकरण गुणस्थानक कहा जाता है।¹ इस गुणस्थानक में अपूर्व आत्मगुणों की प्राप्ति होने से इस गुणस्थानक को अपूर्वकरण कहा जाता है। (गुणस्थानकक्रमारोह।) इस गुणस्थानक में पूर्व में अप्राप्त विशुद्धतर अध्यवसाय प्राप्त होते हैं और अध्यवसायों की क्रमशः अनंतगुना अनंतगुण विशुद्धि होती है। इससे इस गुणस्थानक में पूर्व में अप्राप्त पांच कार्य होते हैं। (१) अपूर्व स्थितिघात, (२) अपूर्व रसघात, (३) अपूर्व स्थितिबंध, (४) गुणश्रेणी और (५) गुणसंक्रम : यह पांच कार्य प्राप्त होते हैं। इन पांचों का विस्तृत स्वरूप पंचसंग्रह ग्रंथ में देख सकते हैं।

(मोहनीय की २८ प्रकृति में से दर्शन सप्तक (७) प्रकृति का क्षय करनेवाले योगी शेष) २१ प्रकृतियों की उपशमना अथवा क्षपना करने के लिये इस गुणस्थानक में उद्यत होते हैं। यहां योगी २१ प्रकृतियों की उपशमना अथवा क्षपना करने के लिये पूर्व तैयारी करते हैं। किसी भी प्रकृति का उपशम अथवा क्षय नहीं करते हैं। मात्र क्रमबद्ध आयोजन करते हैं।

■ सामर्थ्ययोग की प्राप्ति :-

इस आठवें गुणस्थानक में तात्त्विकस्तर के सामर्थ्ययोग की प्राप्ति होती है। सामर्थ्ययोग दो प्रकार का होता है। प्रथम सामर्थ्य योग इस आठवें गुणस्थानक में

प्राप्त होता है और दूसरा सामर्थ्य योग आयोज्यकरण के उत्तर में प्राप्त होता है।^२ सामर्थ्ययोग का स्वरूप 'व्यवहार-निश्चय से योगमार्ग' प्रकरण में दर्शाया गया है। इस आठवें गुणस्थानक में द्वितीय अपूर्वकरण में तात्त्विक सामर्थ्ययोग प्रकट होता है। ग्रंथिभेद करते समय जो प्रथम अपूर्वकरण होता है, वहां अतात्त्विक सामर्थ्ययोग होता है।

► प्रातिभज्ञान की प्राप्ति :-

सामर्थ्ययोग प्रातिभज्ञान से युक्त होता है।^३ इस प्रातिभज्ञान से युक्त सामर्थ्य योग का फल केवलज्ञान है। मार्गानुसारी प्रकृष्ट ऊहरूपी सूक्ष्मज्ञान को प्रातिभज्ञान कहा जाता है। आशय यह है कि, सातवें गुणस्थानकवर्ती योगी असंग अनुष्ठान में प्रवर्तमान होते हैं, तब सभी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अप्रतिबद्ध मानसवाले होते हैं। इस अवस्था का पुनः पुनः सेवन करने से उनमें मार्गानुसारी प्रकृष्ट ऊह प्रकट होता है। जिसके प्रभाव से पूर्व-पूर्व के योगमार्ग से विशेष प्रकार के योग मार्ग में जाने के लिये दिशा दिखानेवाला ऊह रूपी सूक्ष्मज्ञान प्रकट होता है, जो उत्तरोत्तर बढ़कर जब प्रकृष्ट स्वरूपवाला बनता है तब वह मार्गानुसारी प्रकृष्ट ऊह नामक प्रातिभज्ञान प्रकट होता है, इस प्रातिभ ज्ञान के बल से साधक में सामर्थ्ययोग प्रकट होता है।

योगदृष्टिसमुच्चय ग्रंथ में कहा गया है कि, यह प्रातिभज्ञान श्रुतज्ञान नहीं है और केवलज्ञान भी नहीं है और ज्ञानान्तर^A (छठवां ज्ञान) भी नहीं है। परन्तु रात और दिन के बीच जैसे अरुणोदय होता है, वैसे ही श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के बीच प्रातिभ ज्ञान होता है।

A ज्ञान पांच हैं। (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अबधिज्ञान, (४) मनःपर्यायज्ञान तथा (५) केवलज्ञान।

➡ धर्म संन्यास :-

आठवें गुणस्थानक में प्रथम सामर्थ्ययोग में क्षयोपशमिक कोटि के क्षांति आदि धर्मों का त्याग होता है। इसलिये प्रथम सामर्थ्ययोग धर्मसंन्यास की संज्ञावाला होता है।⁴ धर्मसंन्यास में क्षमादि भावों का त्याग करने की प्रक्रिया इस प्रकार है - सर्वप्रथम जीवात्मा साधना द्वारा क्रोधादि कषायों का क्षयोपशम करता है और क्षयोपशम भाव के क्षमादि गुणों को प्रकट करता है। (इसमें चतुर्थ से सातवें गुणस्थानक की साधना द्वारा क्रमशः क्षयोपशमभाव में वृद्धि करके क्षयोपशमभाव के क्षमादि गुणों को वृद्धिमंत बनाता है।) अब धर्मसंन्यास नामक सामर्थ्ययोग में क्षयोपशम भाव के धर्मों का त्याग करके मोहनीयकर्म का क्षय करने की साधना करता है और उसके द्वारा क्षायिककोटि के क्षमादिगुणों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है।

➡ कर्मों की स्थिति :-

पूर्व में देखा है कि, सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद जीवात्मा परिणाम की विशुद्धि द्वारा कर्मों की २ से ९ पत्योपम स्थिति घटाए तब देशविरति प्राप्त करता है, इसके बाद अध्यवसाय की विशुद्धि से संख्यात सागरोपम की स्थिति घटाए तब सर्वविरति चारित्र प्राप्त करता है, इसमें भी और संख्यात सागरोपम स्थिति घटाए तब उपशम श्रेणी प्रकट होती है और उपशमश्रेणी काल में जो कर्म स्थिति होती है, उसमें से संख्यात सागरोपम स्थिति घटे तब क्षपकश्रेणी प्रकट होती है।⁵ यह आठवां गुणस्थानक उपशमश्रेणी प्रारम्भ करनेवाले और क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करनेवाले दोनों में होता है। कोई जीवात्मा उपशमश्रेणी जितनी कर्मों की स्थिति घटाकर उपशमश्रेणी प्रारम्भ करे और कोई जीवात्मा क्षपकश्रेणी जितनी स्थिति घटाकर क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करता है। इस आठवें गुणस्थानक में इन दोनों प्रकार के जीवात्मा की पूर्वोक्त कर्मस्थिति होती है।

■ शुक्लध्यान का प्रथम स्तंभ :-

पूर्व में दर्शाए शुक्लध्यान के चार स्तंभों में से प्रथम स्तंभ यहां प्राप्त होता है। इसका स्वरूप पिछले प्रकरण में दर्शाया जा चुका है।

■ विशेष :-

आठवें गुणस्थानक में असंख्याता अध्यवसाय स्थान होते हैं। एक साथ इस गुणस्थानक में आरूढ़ जीवात्माओं के अध्यवसाय में भी भिन्नता होती है और वह भिन्नता ६ स्थानवाली^A होती है। इसलिये इस गुणस्थानक को निवृत्ति गुणस्थानक भी कहा जाता है। (निवृत्ति अर्थात् बदलाव का अर्थ लेना है।)

■ नौवां गुणस्थानक :

अनिवृत्तिकरण अथवा बादर संपराय :

यहां अध्यवसायों की अनिवृत्ति होने से यह अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थानक कहलाता है। गुणस्थानकक्रमारोह में स्पष्टता करते हुए कहा गया है कि, देखे-सुने और भोगे हुए विषयों की आकांक्षा रूप संकल्प-विकल्प रहित और निश्चल रूप में केवल परमात्म स्वरूप में ही एकाग्र ध्यान परिणति रूप अध्यवसायों की अनिवृत्ति होने से अनिवृत्ति गुणस्थानक कहलाता है। इस अनिवृत्ति गुणस्थानक में अप्रत्याख्यानादि बारह बादरकषायों को और बादर नौ नोकषायों को उपशम श्रेणीवाले योगी उपशम करने और क्षयक श्रेणीवाले योगी खपाने के लिये तत्पर होते हैं। इसलिये अनिवृत्ति बादर गुणस्थानक भी कहलाता है।⁶

A वृद्धि के ६ स्थानों के नाम :- (१) अनंतभागवृद्धि, (२) असंख्यातभागवृद्धि, (३) संख्यातभागवृद्धि, (४) संख्यातगुणवृद्धि, (५) असंख्यातगुणवृद्धि, (६) अनंतगुणवृद्धि। हानि के छह स्थानों के नाम :- (१) अनंतभागहीन, (२) असंख्यातभागहीन, (३) संख्यातभागहीन, (४) संख्यातगुणहीन, (५) असंख्यातगुणहीन, (६) अनंतगुणहीन।

नौवें गुण स्थानक में आठवें गुणस्थानक की भांति अपूर्व स्थितिघात आदि पांचों वाना होते हैं और इस गुणस्थानक के बारे में एक ही समय आरूढ़ हुए त्रिकालवर्ती जीवात्माओं के अध्यवसायों में किसी भी प्रकार की तारतम्यता नहीं होती है। एक समान विशुद्धि होती है। इस कारण यह अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक कहलाता है। इसी प्रकार दसवें गुणस्थानक में किट्टी रूपी सूक्ष्म लोभ का उदय होता है, जिसकी अपेक्षा से यहां कषाय का उदय स्थूल होने से बादरसंपराय गुणस्थानक कहलाता है।

इस गुणस्थानक के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय स्थानक होते हैं। पहले और पहले से उत्तरार्द्ध-उत्तरार्द्ध समयों में अनंतगुण-अनंतगुण विशुद्धि होती है। इस गुणस्थानक में क्षपकश्रेणीवाले जीवात्मा चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों में से २० प्रकृतियों का क्षय करते हैं और उपशम श्रेणीवाले जीवात्मा २० प्रकृतियों का उपशम करते हैं।

► दसवां गुणस्थानक :- सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक :-

परमात्मा के सूक्ष्मतत्त्व की भावना के बल से मोहनीय कर्मों की २० प्रकृतियों का उपशम अथवा क्षय होने के बाद जिस गुणस्थानक में मात्र सूक्ष्म खंडरूप (किट्टी रूप) एक लोभ कषाय का ही अस्तित्व (सूक्ष्म लोभ मात्र का ही उदय) रहता है, वह सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक होता है।⁷ यह गुणस्थानक उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीवाले दोनों जीवात्मा में होता है।

नौवें गुणस्थानक में बादर लोभ कषाय के दो भाग (अश्वकरण अद्धा, किट्टिकरण अद्धा) होते हैं। इसके बाद जो सूक्ष्म लोभ कहा गया है, उसका अंतिम भाग किट्टि वेदन अद्धा रूप इस गुणस्थानक में उदय में होता है। क्षपकश्रेणीवाले जीवात्मा किट्टि का वेदन करते हुए संज्वलन लोभ का नाश करते हैं और उपशमश्रेणी वाले जीवात्मा उसका उपशम करने का प्रयत्न करते हैं। किट्टि वेदन अद्धा में लोभ का नाश करने के लिये हजारों बार किट्टियां बना-

बनाकर क्षय करते हैं।

➡ ग्यारहवां गुणस्थानक : उपशांत मोह-छद्मस्थ वीतराग गुणस्थानक:-

आत्मा सहज स्वभाव के बल से मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों को उपशांत करके परम उपशम मूर्तिवाले उपशामक जीवात्मा को उपशांत मोह गुणस्थानक प्राप्त होता है।⁸

इस गुणस्थानक में मोहनीय की सभी प्रकृतियों का सर्वथा उपशम ही होता है अर्थात् सत्ता में स्थित इन प्रकृतियों को विपाक और प्रदेशोदय के लिये अयोग्य कर दिया है। (यह गुणस्थानक उपशमश्रेणी प्रारम्भ करनेवाले में होता है। क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करनेवाले में नहीं होता है, वह दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थानक में पहुंचता है।)

उपशम समकिती जीवात्मा उपशम श्रेणी प्रारम्भ करके इस गुणस्थानक में आते हैं तब मोहनीय कर्म की २८ अथवा २४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्षायिक समकिती जीवात्मा उपशम श्रेणी प्रारम्भ करके इस गुण स्थानक में आता है तब मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं। इस गुणस्थानक से जीवात्मा अवश्य पतन प्राप्त करते हैं। पतन के दो कारण हैं। (१) भवक्षय और (२) अद्धाक्षय।

(१) भवक्षय :- आयु पूर्ण होने पर काल करे तो पतित होता है। इसमें आयु पूर्ण करनेवाला प्रथम संघयणवाला जीवात्मा हो तो नियमा अनुत्तर में उत्पन्न होता है। परन्तु दूसरे-तीसरे संघयणवाले जीवात्मा हों तो अनुत्तर के अतिरिक्त वैमानिक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने के साथ ही इन जीवात्माओं में चौथा गुणस्थानक होता है। (भवक्षय पर आधारित इस गुणस्थानक का काल जघन्य से १ समय और उत्कृष्ट से १ अंतमुहूर्त होता है।) (२) अद्धाक्षय :- इस ग्यारहवें गुणस्थानक का काल पूर्ण होने पर जिस प्रकार क्रमशः जीवात्मा चढ़ा

है, उसी क्रमानुसार नीचे गिरते हुए १०,९,८,७,६ में आकर रुक सकता है। कोई जीवात्मा पांचवें गुणस्थानक में आकर रुक सकता है। कोई जीवात्मा चौथे, कोई जीवात्मा चौथे से दूसरे और पहले गुणस्थानक में पहुंच सकता है। (अद्धाक्षय पर आधारित इस गुणस्थानक का काल जघन्य तथा उत्कृष्ट से १ अंतर्मुहूर्त होता है।)

■ बारहवां गुणस्थानक :- क्षीण मोह - छद्मस्थ वीतराग :-

क्षपकश्रेणी के मार्ग में १०वें गुणस्थानक के बाद (११वें में गये बिना) तुरंत ही कषायरहित शुद्ध आत्मभावना के बल से सभी मोह कर्म का सर्वांश क्षय करके क्षपक को ही क्षीणमोह गुणस्थानक होता है।^९

दसवें गुणस्थानक में स्थित क्षपक श्रेणीवाले जीवात्मा मोहनीय कर्म का सर्वथा उदय और सत्ता में से क्षय करके इस बारहवें गुणस्थानक को प्राप्त करते हैं। मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने से इस गुणस्थानक के प्रथम समय से क्षायिक चारित्र की प्राप्ति होती है। यह गुणस्थानक विश्रामस्थल माना जाता है और यहां शुक्लध्यान का दूसरा स्तंभ भी होता है। (इसका स्वरूप पिछले प्रकरण में देख चुके हैं।)

इस गुणस्थानक के अंतिम समय में जीवात्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन तीनों घाती कर्मों का क्षय करते हैं और जिस समय क्षय होता है, उस समय १३वें गुणस्थानक में प्रवेश करने के साथ ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इस गुणस्थानक का काल जघन्य और उत्कृष्ट से १ अंतर्मुहूर्त का ही होता है।

■ विशेषार्थ :

क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी का स्वरूप बहुत विस्तृत है। योगी जो साधना करते हैं, उसका विस्तृत वर्णन कर्मग्रंथ और पंचसंग्रह आदि ग्रंथों में किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को इन ग्रंथों से जानकारी प्राप्त करने की

सलाह है। क्षपकश्रेणी और उपशमश्रेणी में आनेवाले ८ से १२ गुण स्थानकों में कितनी कर्म प्रकृतियां उदय, उदीरणा, बंध और सत्ता में होती हैं और कितनी प्रकृतियों का उदयविच्छेद तथा बंधविच्छेद होता है, इसका विवरण परिशिष्ट-१ में दिया गया है।

→ अनंतानुबंधी ४ कषाय और दर्शनत्रिक (मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व मो.) इस प्रकार दर्शनसप्तक की क्षपना ४ से ७ गुणस्थानक में स्थित जीवात्मा करते हैं। क्षपकश्रेणी प्रथम संघयणवाले जीवात्मा ही प्राप्त कर सकते हैं। दर्शनसप्तक से अतिरिक्त चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों को खपाने के लिये सातवां गुणस्थानक यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है। आठवां गुणस्थानक अपूर्वकरण कहलाता है और नौवां गुणस्थानक अनिवृत्तिकरण कहलाता है। यह तीनों करण जीवात्मा पुरुषार्थ से करता है। पूर्वोक्त स्थिति-घातादि पांच वाना करण के अनुसार होते हैं।

→ क्षपक श्रेणी में प्रकृतियों का क्षय इस प्रकार क्रमानुसार होता है - (१) अनंतानुबंधी ४ कषाय, (२) मिथ्यात्व मो. (३) मिश्र मो. (४) सम्यक्त्व मो. (५) नरक-तिर्यच देवायुष्य, (६) एकेन्द्रियादि ४ जाति-नरकद्विक-तिर्यचद्विक-आतप-उद्योत-स्थावर-सूक्ष्म-साधारण और थीणद्वित्रिक सहित १६ प्रकृतियां, (७) अप्रत्याख्यानीय ४ कषाय-प्रत्याख्यानीय ४ कषाय सहित ८ कषाय, (८) नपुंसक वेद, (९) स्त्री वेद, (१०) हास्य षट्क, (११) पुरुष वेद, (१२) संज्वलन क्रोध, (१३) संज्वलन मान, (१४) संज्वलन माया, (१५) संज्वलन लोभ, (१६) निद्राद्विक और (१७) ज्ञानावरणीय-५, दर्शनावरणीय-४, अंतराय-५ सहित १४ प्रकृतियां।

● क्षपक श्रेणी में चढ़ते हुए ९ तथा १०वें गुणस्थानक में जीवात्माओं को जो स्थितिबंध होता है, उसी स्थान पर उपशम श्रेणी में चढ़ते हुए जीवात्माओं को दुगुना स्थितिबंध होता है तथा शुभ प्रकृतियों का रसबंध अनंतगुण हीन होता है

और अशुभ प्रकृतियों का रसबंध अनंतगुण अधिक होता है। उपशमश्रेणी से वापसी करनेवाले जीवात्मा को इस गुणस्थानक में क्षपक श्रेणी से ४ गुना बंध होता है और उपशमश्रेणी में चढ़ते जीवात्माओं की अपेक्षा से दुगुना स्थितिबंध होता है।

→ **टिप्पणकम् :-** 1. य एवाप्रमत्तसंयतः सप्तमगुणस्थानवर्ती दर्शितः, स एव संज्वलनकषायाणां नोकषायाणां वात्यन्तं मन्दोदये सति प्राप्तापूर्वपरमह्लादैकमयं करणं परिणामरूपं यत्र तदपूर्वकरणनामगुणस्थानमष्टमं मतं, कस्मात्? अपूर्वात्मगुणासित्वात्। (गुण.क्रमा. - ३७/टीका) 2. द्वितीयपूर्वकरणे, प्रथमस्तात्त्विको भवेत्। आयोज्यकरणादूर्ध्वं, द्वितीय इति तद्विदः। १०॥ (यो.द्व.समु.) 3. न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसङ्गतः। सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति, सर्वज्ञत्वादिसाधनम्। १८॥ (यो.द्व.समु.) 4. द्विधायं धर्मसंन्यासयोगसंन्याससंज्ञितः। क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु। १९॥ (यो.द्व.समु.) 5. सम्मत्तं उ लब्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होइ। चरणोवसमखयाणं सागरसंखन्तरा होन्ति।। (विशेषावश्यक भा. - १२२२) 6. तथा दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षादिसंकल्पविकल्परहितनिश्चलपरमात्मैकतत्त्वैकाग्रध्यानपरिणतिरुपाणां भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदं गुणस्थानं भवति, तच्चानिवृत्तिबादरं यदुच्यते तदत्र बादराणां कषायाणामप्रत्याख्यानादिद्वादशानां नवानां नोकषायाणां च शमकः शमनाय क्षपकः क्षपणाय प्रगुणो भवतीत्यतः कारणादनिवृत्तिबादरमित्युच्यते, तन्नवमं गुणस्थानकम्। ३७॥ (गुण.क्रमा. - ३७/टीका) 7. तथा सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनाबलेन विंशतिप्रकृतिरूपे मोहे शान्ते क्षीणे वा सूक्ष्मखण्डीभूतस्य लोभस्यैकस्यास्तित्वं यत्र तत्सूक्ष्मकषायकं दशमं गुणस्थानं भवति। (गुण.क्रमा. - ३८/टीका) 8. तथा उपशमस्यैव परमोपशममूर्तेः निजसहजस्वभावसंविद्वलेन सकलमोहस्य शमनाद् उपशान्तमोहम् एकादशं गुणस्थानं भवति। (गुण.क्रमा. - ३८/टीका) 9. क्षपकस्यैव क्षपकश्रेणिमार्गेण दशमगुणस्थानादेव निष्कषायशुद्धात्मभावनावलेन सकलमोहस्य क्षपणात्क्षणीमोहं द्वादशं गुणस्थानं भवति। (गुण.क्रमा. - टीका)



प्रकरण - १९ : तेरहवां (सयोगी केवली) गुणस्थानक

चारों घातीकर्मों का (ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-अंतराय-मोहनीय कर्मों का) सर्वथा क्षय हो, तब तेरहवां सयोगी केवली गुणस्थानक प्राप्त होता है। प्रथम समय में केवलज्ञान और दूसरे समय में केवलदर्शन, इस प्रकार समय-समय पर उपयोग का परावर्तन चलता रहता है।¹ मन-वचन-काया का व्यापार (योग) विद्यमान होने से 'सयोगी' कहलाता है। सयोगी केवलीभगवंत के केवलज्ञान का सामर्थ्य दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि,

चराचरमिदं विश्वं, हस्तस्थामलकोपमम् ।

प्रत्यक्षं भासते तस्य, केवलज्ञानभास्वतः ॥८४॥

- केवलज्ञान रूपी जगमगाते सूर्यवाले भगवंत को सचराचर (स्थावर-जंगम) विश्व, हाथ में पकड़े आमलक की तरह प्रत्यक्ष दिखता है। आशय यह है कि, केवली भगवंत तीनों काल के सभी पदार्थों को और सभी पदार्थों के सभी पर्यायों को और गुणों को हाथ में पकड़े आमलक की तरह प्रत्यक्ष (इन्द्रिय से निरपेक्ष आत्मा से) साक्षात् देखते हैं।

इस गुणस्थानक में सामान्य केवली भगवंत और तीर्थंकर केवली भगवंत होते हैं। जिन्होंने विशेष आराधना से विशाल तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है, उन तीर्थंकर नामकर्म के उदय से केवली भगवान तीन जगत के स्वामी जिनेन्द्र बनते हैं।² सभी अतिशयों से युक्त, वीतराग-सर्वज्ञ, सर्वदेव-मनुष्यों से नमस्कृत, सर्वोत्तम तीर्थंकर भगवंत धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थंकर परमात्मा पृथ्वीतल पर विचरण करके भव्यजीवों को भवोदधि तारक तत्त्वदेशना से प्रतिबोधित करते हुए अपने जिननामकर्म को वेदते हैं। सामान्य केवली भगवंत भी धर्मदेशना देकर भव्य जीवात्माओं पर उपकार करते हैं। इस गुणस्थानक का काल देशोनपूर्वक्रोड़ी वर्ष है।

■ भाव, सम्यक्त्व और चारित्र :-

सयोगी केवली गुणस्थानक में भावादि कौनसे होते हैं, यह दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि,

भावोऽत्र क्षायिकः शुद्धः सम्यक्त्वं क्षायिकं परम् ।

क्षायिकं हि यथाख्यातं चारित्रं-तस्य निश्चितम् ॥८३॥

- सयोगी गुणस्थानक में शुद्ध क्षायिक भाव, उत्कृष्ट क्षायिकसम्यक्त्व और निश्चय क्षायिकयथाख्यातचारित्र होता है।

इस गुणस्थानक में पांच प्रकार के भावों में से क्षायिक भाव होता है।^३ दर्शन मोहनीय के सर्वथा क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है^४ और चारित्र मोहनीय के सर्वथा क्षय से (पांच चारित्र में से) क्षायिक यथाख्यातचारित्र होता है।^५

इस गुणस्थानक का काल एक अंतमुहूर्त बाकी रहे तब केवली भगवंत निम्नलिखित कार्य करते हैं :- (१) आयोजिकाकरण, (२) केवली समुद्घात व (३) योग निरोध-शुक्लध्यान का तीसरा स्तंभ।

(१) आयोजिकाकरण :-

आयोजिकाकरण के अन्य नाम आर्वर्जितकरण, आयोज्यकरण तथा अवश्यकरण भी हैं।

“मेरे लिये अब यह करने योग्य है” ऐसे उपयोगवाले केवली भगवंत अपने अचिन्त्य वीर्य-सामर्थ्य का उपयोग करके भवोपग्राही (वेदनीयादि अघाती) कर्मों को विविध प्रकार से खपाने के लिये उन कर्म दलिकों को विविध ढंग से रखते हैं। (अर्थात् जिन कर्मों को खपाना है, उन्हें उदयावलिका में पूर्व पूर्व समय की बजाय उत्तर उत्तर के समय में असंख्यात गुण असंख्यात गुण अधिक दलिक रखते हैं।) इस प्रकार केवलज्ञान द्वारा तिस तिस काल में वैसे वैसे भाव से जो ‘प्रयत्न विशेष’ किया जाता है, उसे आयोज्यकरण कहा जाता है।^६ (और

उसका फल शैलेषी अवस्था है।)

संक्षेप में, केवली भगवंत अपने अचिन्त्य सामर्थ्य द्वारा जो अत्यंत प्रशस्त व्यापार करते हैं, उसे आयोज्यकरण कहा जाता है।

(२) केवली समुद्धात :-

आयोज्यकरण करने के बाद केवली भगवंत वेदन योग्य (नाम, गोत्र और वेदनीय) कर्म की स्थिति से यदि आयुष्य कर्म की स्थिति अल्प हो, (अर्थात् आयुष्य कर्म की स्थिति की तुलना में गोत्रादि तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो) तो आयुष्य की स्थिति और शेष तीन वेद्य कर्मों की स्थिति समान करने के लिये केवली समुद्धात करते हैं।⁷ यह क्रिया आठ समय की होती है।⁸ वेदनीय-नाम और गोत्र कर्मों की स्थितिघात द्वारा, रसघात द्वारा काफी स्थिति खपाकर शेष आयुष्य कर्म जितनी स्थिति समान करते हैं। (प्रक्रिया टिप्पणक में देखें) यहां उल्लेखनीय है कि, छह माह अधिक आयुवाले जो जीव केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे निश्चय से केवली समुद्धात करते हैं। जबकि छह माह से कम आयुवाले केवली भगवंत वह क्रिया करते भी हैं अथवा नहीं भी करते हैं।⁹ कर्मों की स्थिति असमान हो तो करते हैं और न हो तो नहीं करते हैं।

(३) योगनिरोध :-

केवली भगवंत केवली समुद्धात के बाद योगनिरोध करते हैं। यह दर्शाते हुए गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,

समुद्धातान्निवृत्तौऽसौ, मनोवाक्काययोगवान् ।

ध्यायेद्योगनिरोधार्थं, शुक्लध्यानं तृतीयकम् ॥१५॥

- केवली भगवंत केवली समुद्धात करने के बाद मन-वचन और काय योगवाले होते हैं और यह तीनों योग रोकने के लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याते हैं। तीसरे शुक्लध्यान का स्वरूप और उसके द्वारा तीन योगों को सूक्ष्म करने की जो क्रिया है, उसे पिछले प्रकरण में दर्शाया गया है।

यहां विशेष में यह जानना चाहिये कि, केवलीभगवंत बादर काययोग से बादर योगों का रोध करने के बाद सूक्ष्म से सूक्ष्म का रोध करते हैं। इसमें वीर्याणु के स्थितिघात, रसघात आदि स्पर्धको तथा अपूर्व स्पर्धको और किट्टी आदि करके योगनिरोध करते हैं। योगनिरोध करके सूक्ष्म काययोग में स्थित केवली भगवंत बाद में क्या करते हैं, यह दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह में कहा गया है कि,

“शैलेषीकरण के आरंभक, सूक्ष्मकाययोग में स्थित केवलीभगवंत चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में जाने की इच्छा करते हैं¹⁰ अर्थात् शैलेषीकरण¹¹ आरंभक केवली भगवंत योगातीत होने की इच्छा करते हैं तथा सयोगी गुणस्थानक के अंत में केवलीभगवंत क्या करते हैं यह दर्शाते हुए कहा गया है कि, सयोगी केवली गुणस्थानक के अन्त्यसमय में नामकर्म के उदय का नाश होने से अपने आत्मप्रदेश घन होने से अन्त्य शरीर के (चरम शरीर के) आकार की त्रिभाग शून्य अवगाहना करते हैं।¹² अर्थात् शुक्लध्यान के तीसरे स्तंभ में आरूढ़ हुए केवलीभगवंतों का उस ध्यान के प्रभाव से वदन-उदर-आदि का खोखला भाग आत्मप्रदेशों के माध्यम से भर जाता है। खोखला भाग भर जाने से अवगाहना की हानि होकर २/३ भाग में आत्मप्रदेश रहे हों, ऐसा हो जाता है।”

यहां उल्लेखनीय है कि, आठवें गुणस्थानक से बारहवें गुणस्थानक और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानक तक की साधना में योगी कर्मों का नाश करने की अनेक प्रकार की साधना करते हैं। इसकी सूक्ष्म बातें कर्मग्रंथों में दर्शाई गई हैं। यहां स्थल संकोच के कारण मात्र मुख्य बातों का ही समावेश किया गया है।

► सयोगी केवली गुणस्थानक में ध्यान कौन सा होता है ? :-

शुक्लध्यान का दूसरा स्तंभ समाप्त होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उस समय केवलीभगवंत तीनों योग में प्रवृत्त होते हैं और अंतर्मुहूर्त आयुष्य बाकी रहे

तब योगनिरोध करने पर तीसरा शुक्लध्यान होता है। तब बीच के देशोनपूर्वक्रोड़ वर्ष जितने काल तक केवली भगवंत को कौनसा ध्यान होता है ? यह प्रश्न सहज रूप से उठता है। इस सम्बंध में पू. पूर्वाचार्यों ने इस दीर्घकाल को ध्यान में नहीं माना है। बल्कि ध्यानान्तरिका में माना है। दो ध्यान के बीच ध्यान रहित काल को ध्यानान्तरिका कहा जाता है।

● विशेषतः ... सयोगी केवली गुणस्थानकवर्ती जीवात्मा उपान्त्य समय तक एक साता वेदनीय कर्म का बंधक होता है। ४२ प्रकृति के उदयवाला होता है और ८५ प्रकृति की सत्तावाला होता है। (इसका विवरण पूर्व में दिया गया है।) यहां शुक्लध्यान के तीसरे स्तंभ में आरूढ़ हुए केवली भगवंत समय-समय पर किट्टी रूपी सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हुए चरमसमय पर्यन्त आते हैं और यहां कर्मों की जो स्थिति हो उसे १४वें गुणस्थानक के काल जितनी करते हैं। वहां शुक्लध्यान का तीसरा स्तंभ; किट्टी-शाता का बंध; नाम और गोत्र की उदीरणा-योग-शुक्ललेश्या-स्थितिघात और रसघात, यह सात वाना एकसाथ नष्ट हो जाता हैं। जो केवलीभगवंत केवली समुद्घात नहीं करते हैं, उन्हें आयोजिकाकरण के बाद शुक्लध्यान का तीसरा स्तंभ होता है। उपरोक्त कथित सातवाना के नाश के बाद केवली भगवंत अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थानक को प्राप्त करते हैं।

→ टिप्पणकम् :- 1. छद्मस्थ जीवों का प्रथम दर्शन और इसके बाद ज्ञान का उपयोग अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में बदलता रहता है। जबकि केवली भगवंतों का प्रथम ज्ञान और इसके बाद दर्शन का उपयोग समय-समय पर बदलता रहता है। 2. विशेषात्तीर्थकृत्कर्म, येनास्त्यर्जितमूर्जितम्। तत्कर्मोदयतोऽत्रासौ, स्याज्जिनेन्द्रो जगत्पतिः ॥८५॥ (गुण.क्रमा.) 3. भाव पांच प्रकार के हैं। (१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायोपशमिक, (४) क्षायिक और (५) पारिणामिक। सयोगी केवली भगवंत में मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से क्षायिक भाव होता है। औपशमिक तथा क्षायोपशमिकभाव नहीं होते हैं। (यह

मोहनीय की अपेक्षा से है।) अन्यथा उनमें पांच में से शेष दो पारिणामिक (जीवत्व की अपेक्षा से) तथा (नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म और वेदनीयकर्म की अपेक्षा से) औदायिक भाव होता है। क्योंकि सयोगी गुणस्थानक में चार अघाती कर्मों का उदय होता है। **4. सम्यक्त्व तीन प्रकार का है।** (१) औपशमिक, (२) क्षयोपशमिक तथा (३) क्षायिक। इनमें से इस गुणस्थानक में मिथ्यात्व मो. का सर्वथा क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। **5. चारित्र पांच प्रकार के हैं।** (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसंपराय और (५) यथाख्यात चारित्र। इस गुणस्थानक में यथाख्यात चारित्र होता है। शास्त्र में जिस प्रकार का चारित्र (सामायिक) = पूर्ण आत्मरमणता रूप बताया गया है, ऐसा यथाख्यात चारित्र इस गुणस्थानक में होता है। यह यथाख्यात चारित्र दो प्रकार का होता है :- (१) उपशम यथाख्यातचारित्र और (२) क्षायिक यथाख्यातचारित्र। इसमें उपशांतमोह (ग्यारहवें) गुणस्थानक में प्रवर्तमान योगी को उपशांतमोह यथाख्यातचारित्र तथा क्षीणमोह और सयोगी (१२ व १३वें) गुणस्थानक में क्षायिक यथाख्यातचारित्र होता है। सयोगी गुणस्थानक में शुद्ध क्षायिक यथाख्यातचारित्र होता है। सामान्यतः क्षायिक यथाख्यातचारित्र तो १२ व १३वें गुणस्थानक में होता है। **6. केवलाभोगेनाऽचिन्त्यवीर्य-तयाऽऽयोज्य तथा-तथा तत्कालक्षणीयत्वेन भवोपग्राहिकर्मणस्तथावस्थानभावे (भावेन)करणं कृतिरायोज्यकरणं शैलेश्वयवस्थाफलमेतत्। (यो.द्व.समु.-१०/टीका) 7. चेदायुषः स्थितिर्न्यूना, सकाशाद् वेद्यकर्मणः। तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्धातुं करोत्यसौ।।८९।। (गुण.क्रमा.) 8. दण्डत्वं च कपाटत्वं, मन्थानत्वं च पूरणात्। कुरुते सर्वलोकस्य, चतुर्भिः समयैरसौ।।९०।। एवमात्मप्रदेशानां, प्रसारणविधानतः। कर्मलेशान् समीकृत्योत्क्रमात्तस्मान्निवर्तते।।९१।। श्री केवली भगवंत स्वाभाविक देहावस्थित आत्मप्रदेशों को वेदना आदि सात कारणों से सभी तरफ से अवस्थित स्वभाव से अन्य स्वभाव से परिणत करना (आत्मप्रदेशों की व्यवस्था बदलना) समुद्घात कहलाता है। (समुद्घात के वेदना-केवली आदि सात प्रकार हैं।) केवली समुद्घात में केवली भगवंत अपने आत्मप्रदेशों का दंड बनाते हैं अर्थात् उर्ध्वलोकान्त से अधोलोकान्त तक फैलाने से पहले एक समय में दंडाकार व्यवस्थित करते हैं। दूसरे समय में कपाट करते हैं अर्थात् दूसरे समय में पूर्व-पश्चिम दिशा में कपाट आकार में रखते हैं, तीसरे समय में मंथान रचते हैं अर्थात् तीसरे समय में कपाट आकार में विस्तरित आत्मप्रदेशों को दक्षिण से उत्तर तक फैलाकर मंथान आकार समान रचते हैं और चौथे समय में सर्वलोक को बंद करते हैं अर्थात् चौथे समय**

में मंथान का अंतर भरने से १४ राजप्रमाण लोक को संपूर्ण बंद करते हैं। इस प्रकार चार समय में संपूर्ण लोक में आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं। अब आत्मप्रदेशों को व्यापक बनाने की विधि से कर्म के अंशों को व्यवस्थित कर पुनः उलटे क्रम से समुद्घात से मुक्त करते हैं। पांचवें समय में मंथान के अंतर में विस्तरित आत्मप्रदेशों को संग्रह कर मंथानस्थ होते हैं। छठवें समय में मंथानस्थ आत्मप्रदेश कपाटस्थ होते हैं। सातवें समय में कपाटस्थ आत्मप्रदेश दंडस्थ होते हैं और आठवें समय में दंड संहर कर स्वभावस्थ (देहस्थ) होते हैं। केवली समुद्घात की ऐसी प्रक्रिया है। (गुणस्थानकक्रमारोह-१०-९१/टीका) **९.** यः षण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम्। करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा।।९४।। (गुण.क्रमा.) **१०.** शैलेशीकरणारम्भी, वपुर्योगे स सूक्ष्मके। तिष्ठन्नृद्ध्वास्पदं शीघ्रं, योगातीतं यियासति।।१०२।। (गुण.क्रमा.) **११.** केवलिनः ह्रस्वाक्षरपञ्चकोद्विगणमात्रायुषः शैलवन्निश्चलकायस्य चतुर्थध्यानपरिणतिरुपं शैलेशीकरणं भवति। पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण मात्र काल की आयुवाले, पर्वत की भांति निश्चल कायावाले केवली भगवंत की चौथे शुक्लध्यान की परिणति **शैलेशीकरण** कहलाती है। ततः सर्वयोगनिरोधादूर्ध्वं शैलेशीकाले समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायति (विशेषावश्यकभाष्य-३०६९/टीका) **१२.** अस्यान्तेऽङ्गोदयच्छेदात्, स्वप्रदेशघनत्वतः। करोत्यन्त्याङ्गसंस्थान-त्रिभागोनावगाहनम्।।१०३।।



प्रकरण - २० चौदहवां (अयोगी केवली) गुणस्थानक

चौदहवें गुणस्थानक का काल पांच ह्रस्वाक्षर के (अ-इ-उ-ऋ-लृ, इन पांच स्वर के) उच्चारण काल जितना है। इस गुणस्थानक में अयोगी केवलीभगवंत को समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति रूपी चौथा शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में आरूढ़ होने के बाद कोई प्रयत्न किये बिना उदय में आए कर्मों को भोगकर उनका क्षय करते हैं और जिनका उदय नहीं हुआ है उन्हें वेद्यमान प्रकृति में स्तिबुक संक्रम के माध्यम से संक्रमित करते हुए और वेद्यमान अनुभव करते हुए इस गुणस्थानक के उपान्त्य समय में (अंतिम से पूर्व के समय को उपान्त्य समय कहा जाता है।) सत्ता में स्थित ८५ प्रकृतियों में से ७२ या ७३ प्रकृतियों का क्षय करते हैं। इसके बाद इस गुणस्थानक के अंतिम समय में १३ प्रकृतियों का सत्ता से नाश करते हैं। (चौथे शुक्लध्यान का स्वरूप पूर्व के प्रकरण में और नष्ट होनेवाली प्रकृतियों का नाम परिशिष्ट-१ में दर्शाया गया है।)

जिस ध्यान में सूक्ष्मकाययोग रूप क्रिया सर्वथा नष्ट होती है, वह समुच्छिन्नक्रिया रूप चौथा शुक्लध्यान मोक्षरूप महल के द्वार समान है।

यहां किसी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि, इस गुणस्थानक में काया का सूक्ष्मयोग होने के बावजूद अयोगीपना कैसे संगत है ? इसका जवाब देते हुए गुणस्थानक क्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि, यहां काययोग अतिसूक्ष्म होने से, शीघ्र क्षय हो जाने की प्रकृतिवाला होने से और काया का कार्य करने के लिये असमर्थ होने से काया होने के बावजूद अयोगीपना है और अपने शुद्ध आत्मज्ञान रूपी अत्यंत आनंदयुक्त अयोगी भगवान को शरीर के उस प्रकार के आलंबन से ध्यान हो, इसमें कोई विरोध नहीं।

पूर्वोक्त १३ प्रकृतियों का क्षय करके उसी समय सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके सनातन परमेश्वर परमात्मा बनते हैं और उर्ध्वगति से चौदह राजलोक के पर्यन्त भाग में जाते हैं।

■ चार भावों की प्राप्ति :-

इस चौदहवें गुणस्थानक में निम्नलिखित चार भाव प्राप्त होते हैं - (१) अबंधकता, (२) सर्वसंवरभाव, (३) शैलेषी अवस्था और (४) शुक्लध्यान का चतुर्थ स्तंभ। इस गुण स्थानक में किसी कर्म का बंध नहीं होता है। इसलिये अबंधकता। आत्मप्रदेश शैल = पर्वत जैसे निश्चल हो जाते हैं इसलिये शैलेषी अवस्था। आत्म प्रदेशों में अंशमात्र भी चंचलता न होने से सर्वसंवरभाव और इसी को अबाधक दशा का यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। यहां शैलेषी अवस्था में 'योग संन्यास' नामक दूसरा सामर्थ्य योग प्राप्त होता है। जो साक्षात् मोक्ष से जोड़नेवाला है। (योगदृष्टिसमुच्चय-११ टीका)

■ कर्मरहित आत्मा की उर्ध्वगति :-

पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग-भावादबन्धविमोक्षतः ।

स्वभावपरिणामाच्च, सिद्धस्योर्ध्वगतिर्भवेत् ॥१२०॥

- पूर्वप्रयोग, असंगभाव, बंधविमोक्ष और स्वभाव परिणाम से सिद्ध परमात्म की उर्ध्वगति होती है।

(१) आत्मा के अचिन्त्य पराक्रम से (पूर्व में दर्शाए अनुसार) अंतिम दो समय में (७२+१३=) ८५ प्रकृतियों का क्षय करने के लिये जो योग व्यापार-प्रयत्न प्रयोजित है, उस प्रयत्न से (पूर्व प्रयोग से) सिद्ध परमात्मा की उर्ध्वगति होती है। (इस ग्रंथ के अभिप्राय से यह बताया गया है।) (२) असंग - कर्म के उपकार रूप संग के अभाव से उर्ध्वगति होती है। (३) बंधविमोक्ष-अति प्रगाढ़ कर्मबंध छूटने से उर्ध्वगति होती है। (४) जीवात्मा के इस प्रकार के स्वभाव से उर्ध्वगति होती है। इस चारों प्रकार की उर्ध्वगति को समझाने के लिये शास्त्र में क्रमशः कुंभकार के चक्रादि, मिट्टी के लेपवाली तुंबड़ी, अरंडी के फल और डेलों के उदाहरण दिये गये हैं :

■ सिद्धावस्था :-

सिद्ध परमात्मा लोकांत में सिद्धशिला पर सादि-अनंतकाल तक निवास

करते हैं और अपनी आत्मा में अवस्थान पाकर अनंत आनंद का भोग करते हैं तथा तीनों लोक में स्थित गुणपर्याययुक्त सभी तत्त्वों को (पदार्थों को) एक समय में जानते व देखते हैं। आठ कर्म के क्षय से उत्पन्न हुए अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचरित्र, अनंतवीर्य, अक्षयस्थिति, अव्याबाधता, अरूपता और अगुरुलघुता, इन आठ गुणों की प्राप्ति होती है।

► सिद्ध परमात्माओं का सुख :-

चक्रवर्ती, इन्द्र आदि को ऐश्वर्य तथा भोग से जो सुख मिलता है, उससे भी अनंतगुना क्लेशरहित (द्वन्द्वातीत) व अविचल (शाश्वत) सुख मोक्ष में सिद्ध परमात्माओं को प्राप्त होता है।^A आत्मा मोक्ष में आत्मा से आत्मा द्वारा अनंत सुख का भोग करती है। यह सुख सभी क्लेशों से रहित, शाश्वत और अनंत (अपरिमित) होता है। सभी शत्रुओं का अंत हो जाने से, सभी व्याधियों के नाश से, सभी इष्ट प्रयोजनों के योग से तथा सभी इच्छाओं की प्राप्ति से मोक्ष मिल जाता है, इसलिये मोक्ष का सुख अनंत है।^B श्री सिद्ध परमात्मा परम कृतकृत्य हैं। क्योंकि, जो आराध्य है, सिद्ध करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है और दुर्लभ है, वह ज्ञानानन्दमय परम मोक्ष पद उन्होंने प्राप्त किया है।^C

-: मोक्ष का स्वरूप :-

मोक्ष का स्वरूप दर्शाते हुए गुणस्थानकक्रमारोह ग्रंथ में कहा गया है कि,
 “नात्यन्ताभावरूपा न च जडिममयी-व्योमवद्व्यापिनी नो, न व्यावृत्तिं
 दधाना विषयसुखधना नेष्यते सर्वविद्भिः । सद्गुपात्मप्रसादाद् दृगवगमगुणौघेन
 संसारसारा, निःसीमात्यक्षसौख्योदय वसतिरनिष्पातिनी मुक्तिरुक्ता ॥१३५॥

A यत्सौख्यं चक्रिशक्रादि-पदवी-भोगसंभवम् । ततोऽनन्तगुणं तेषां, सिद्धावक्लेशमव्ययम् ॥ १३३ ॥ [गुण. क्रमो.] B जं सव्वसत्तु तह सव्ववाहि सव्वत्थ सव्वमिच्छाणं । खयविगमजोगपत्तीहिं होइ ततो अणंतमिणं ॥ ३ ॥ [सिद्धसुखविशिका] C यदाराध्यं च यत्साध्यं, यद् ध्येयं यच्च दुर्लभम् । चिन्दानन्दमयं तत्तैः, संप्राप्तं परमं पदम् ॥ १३४ ॥ [गुण. क्रमा.]

अब यहां श्री जिनेश्वर परमात्मा अपने केवलज्ञान से मोक्ष का स्वरूप कैसा बताते हैं और अन्य दर्शनकार मोक्ष को कैसा मानते हैं, यह क्रमशः देखेंगे।

➡ **मोक्ष अभाव स्वरूप नहीं, बल्कि विद्यमान तत्त्व है :**

बौद्ध दर्शनवाले मुक्ति को अभावरूप मानते हैं। उनकी मान्यता है कि, आत्मा का सर्वथा अभाव होना अर्थात् आत्मा का विनाश होना **मुक्ति है**। जैन दर्शन मोक्ष को विद्यमान तत्त्व मानता है। यदि मोक्ष में आत्मा का विनाश ही हो जाता हो तो उसके लिये कोई पुरुषार्थ ही न करे। **सभी जीवात्माओं की इच्छा स्वयं के अस्तित्व को निराबाध बनाकर पूर्णता और अनंतसुख को पाने की है।**

➡ **मोक्ष जड़ स्वरूप भी नहीं। बल्कि परिपूर्ण ज्ञानादि से युक्त है। विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है :** वैशेषिक और नैयायिक जड़मय ज्ञान के अभाववाली मुक्ति मानते हैं। वे आत्मा का सर्वथा अभाव नहीं मानते हैं। परन्तु आत्मा के ज्ञानादि गुणों का मोक्ष में सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसा मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। यदि मोक्ष में सुख-ज्ञानादि का अभाव हो तो आत्मा जड़ बन जाए। वहां सुख ही न हो तो ऐसे मोक्ष की प्राप्ति के लिये कौन प्रयत्न करेगा ? कोई नहीं करेगा। इसीलिये मोक्ष में ज्ञान-सुख की सत्ता माननेवाले दर्शनकारों ने उनका परिहास करते हुए एक स्थल पर कहा है कि, “वैशेषिकों की निर्विषयक (सुख रहित) मुक्ति से तो वृंदावन के जंगल में जन्म लेना अच्छा। क्योंकि, वहां कम से कम सूखे पत्ते और झरनों का शीतल जल तो मिलता है।”

➡ **मोक्ष आकाश की भांति सर्वव्यापी नहीं :**

परन्तु मोक्षावस्था में जीवात्मा सिद्धशिला पर अपनी आत्मा में अवस्थान करके सादि अनंतकाल पर्यन्त रहता है। वहां भी आत्मा (पूर्वभव में चरम शरीर के २/३ भाग में जो आत्म प्रदेश होते हैं, उतनी ही) अवगाहना रोककर रहते हैं। **कुछ दर्शनकार आकाश की भांति सर्वव्यापी मुक्ति मानते हैं।** त्रिदंडी दर्शनवाले परमात्मा में जीवात्मा के लीन हो जाने को मुक्ति मानते हैं। वे परमात्मा को विभु अर्थात् सर्व व्यापक मानते

हैं। इसलिये मुक्ति भी सर्व व्यापक हुई। जैनदर्शन मोक्ष को सर्वव्यापी नहीं मानता है।

➡ मोक्ष पुनरावृत्ति को धारण नहीं करता है :

अर्थात् एक बार मोक्ष में जाने के बाद पुनः संसार में नहीं आना होता है। क्योंकि, संसार में आने के लिये जन्म लेना पड़ता है और जन्म लेने के लिये कर्म होने चाहिये। कर्म नामक बीज के बिना जन्म नामक अंकुर फूटता ही नहीं। मुक्तात्मा में कर्म नहीं है। इसलिये जन्म नहीं है और इसलिये संसार में पुनः आना नहीं पड़ता है। कुछ दर्शनियों का मानना है कि, आत्मा मुक्ति में जाती है, पुनः संसारी बनती है। क्योंकि भक्त को तारने और अधर्मियों का नाश करने के लिये मुक्त परमात्मा को अवतार लेना पड़ता है। परन्तु यह बात सही नहीं है। क्योंकि, कर्म रहित का जन्म नहीं होता है और कर्म रहित का जन्म होता हो तो संसारी और मुक्तात्मा जीवात्मा में अंतर नहीं रहता है। इसके अलावा जन्म धारण करने से वह कर्मसहित सिद्ध होगा और इसलिये संसारी कहलाएगा। मुक्त नहीं कहलाएगा।

संक्षेप में, मुक्तात्मा का जन्म मानने में उसे कर्मयुक्त मानने की आपत्ति आती है। कर्म सहित का ही जन्म होता है, यह नियम है।

→ मोक्ष विषय सुखवाला नहीं है। बल्कि मोक्ष आत्मीय अतीन्द्रिय सुखानुभव का स्थान है। कुछ वाममार्गी समान दर्शनी विषय सुख (काम) को ही मुक्ति सुख मानते हैं। उनके मतानुसार विषय सुख से श्रेष्ठ दूसरा कोई सुख नहीं, इसलिये वे विषय सुख को ही मोक्ष सुख मानते हैं। परन्तु उनकी बात सही नहीं है। क्योंकि, मोक्ष में शरीर नहीं है, इन्द्रियां नहीं हैं। इसलिये इन्द्रियों द्वारा विषयों में प्रवृत्ति भी नहीं करनी होती है। वहां तो आत्मा, आत्मा द्वारा आत्मा में से ही अतीन्द्रिय निरूपम सुख की भोक्ता होती है।

→ कुछ लोग दुःखमात्र के क्षय को मुक्ति मानते हैं। परन्तु मोक्ष में सुख नहीं मानते हैं। सांख्य दर्शनवाले प्रकृतिवियोग को मोक्ष मानते हैं। जबकि कुछ

लोग स्वतंत्रता को ही मुक्ति मानते हैं। यह सभी मत सही नहीं हैं। उनके विषय में विशेषार्थ अन्य ग्रंथों से ज्ञात किया जा सकता है।

→ वास्तव में मोक्ष विद्यमान तत्त्व है... मार्गानुसारी जीवात्माओं के परम पुरुषार्थ का वह परम ध्येय है... ज्ञान स्वरूप आत्मा की निर्मलता से प्राप्त हुए ज्ञानादि गुण के समूह से युक्त है... अद्वितीय व अत्यंत अतीन्द्रिय सुखानुभव का स्थान है और पुनरागमन से रहित है।

→ मोक्ष में सिद्धों के सुख की राशि सर्वकाल से पिंडीभूत हो और वह अनंतवर्ग से भाजित हो तो (भी) पूर्ण आकाश में नहीं समाएगी। मोक्ष सुख निरतिशय है। क्योंकि, सिद्धात्मा सभी उत्सुकताओं से रहित होने से पराधीन (परतंत्र) नहीं बल्कि स्वतंत्र है। (विंशति विंशिका)

→ मोक्ष में निरूपम, अनंत, अक्षय, निरूपाधिक, निष्कलंक, द्वन्द्वातीत, अव्याबाध, स्वाधीन, असांयोगिक सुख है। संयोग मूलक एक भी क्लेश इस सुख में नहीं होता है।

→ संक्षेप में मुक्तात्माएं निस्तरंग, निरंतर और अनुपम सुख में अनंतकाल तक रमण करती हैं।



(१) गुणस्थानक और कर्मों के उदयादि

(यहां कर्मग्रंथ के अध्ययनकर्ताओं के लिये गुणस्थानक के आधार पर प्रत्येक गुणस्थानक में बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता में कितनी प्रकृतियां होती हैं, इसका विवरण दिया गया है। साथ ही कर्म की मूल प्रकृति-उत्तर प्रकृति के नाम भी दिये गये हैं।)

→ आठ कर्म की मूल प्रकृति के नाम :- (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य कर्म, (६) नामकर्म, (७) गोत्र कर्म और (८) अंतराय कर्म। आत्मा के अनंत ज्ञान गुण को जो आवरित करता है, वह होता है **ज्ञानावरणीय कर्म**, अनंत दर्शन गुण को आवरित करनेवाले को **दर्शनावरणीय कर्म** कहते हैं, सम्यग्दर्शन-चारित्र गुण को आवरित करनेवाला **मोहनीय कर्म** होता है, अनंत वीर्य गुण को आवरित करनेवाला **अंतराय कर्म** कहलाता है, अक्षय स्थिति को आवरित करनेवाला **आयुष्य कर्म** कहलाता है, अव्याबाधता को आवरित करनेवाले कर्म को **वेदनीय कर्म** कहते हैं, अरूपिपना को आवरित करनेवाला **नामकर्म** और अगुरुलघुता को आवरित करनेवाला **गोत्र कर्म** कहलाता है।

→ आठ कर्म की उत्तर प्रकृति १५८ है :- वह निम्नानुसार है।

→ ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृति ५ हैं :- (१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मनःपर्यवज्ञानावरणीय और (५) केवलज्ञानावरणीय।

→ दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृति ९ हैं :- (१) चक्षु दर्शनावरणीय, (२) अचक्षु दर्शनावरणीय, (३) अवधि दर्शनावरणीय, (४) केवल दर्शनावरणीय, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९) थीणद्धी।

→ वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृति २ हैं :- (१) शाता वेदनीय और (२) अशाता वेदनीय।

→ मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति २८ हैं :- मोहनीय कर्म के दो मूल भेद हैं। (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय। इनमें दर्शन मोहनीय कर्म के ३ भेद हैं। (१) मिथ्यात्व मोहनीय, (२) मिश्र मोहनीय, (३) सम्यक्त्व मोहनीय। चारित्र मोहनीय के २ मूल भेद हैं। (१) कषाय मोहनीय, (२) नोकषाय मोहनीय। इनमें कषाय मोहनीय के १६ भेद हैं - (१) अनन्तानुबंधी क्रोध, (२) अनन्तानुबंधी मान, (३) अनन्तानुबंधी माया, (४) अनन्तानुबंधी लोभ, (५) अप्रत्याख्यानीय क्रोध, (६) अप्रत्याख्यानीय मान, (७) अप्रत्याख्यानीय माया, (८) अप्रत्याख्यानीय लोभ, (९) प्रत्याख्यानीय क्रोध, (१०) प्रत्याख्यानीय मान, (११) प्रत्याख्यानीय माया, (१२) प्रत्याख्यानीय लोभ, (१३) संज्वलन क्रोध, (१४) संज्वलन मान, (१५) संज्वलन माया और (१६) संज्वलन लोभ। नोकषाय मोहनीय के ९ भेद हैं। (१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा, (७) पुरुष वेद, (८) स्त्री वेद, (९) नपुंसक वेद - इस प्रकार मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृति के दर्शन मोहनीय ३ + चारित्र मोहनीय २५ = कुल २८ भेद हैं।

→ आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृति ४ हैं :- (१) देवायुष्य, (२) मनुष्यायुष्य, (३) तिर्यचायुष्य और (४) नरकायुष्य।

→ नामकर्म की उत्तर प्रकृति १०३ हैं :- नामकर्म ४ मूल भागों में विभाजित है। (१) पिंड प्रकृति, (पिंड प्रकृति-१४ और उसकी उत्तर प्रकृति - ७५) (२) प्रत्येक प्रकृति - ८ (३) त्रस दशक - १० और (४) स्थावर दशक - १०। प्रत्येक प्रकृति के नाम निम्नानुसार हैं। (जो कषाय अनंत संसार के कारण मिथ्यात्व के उदय के साथ अवश्य प्रवर्तमान हो और सम्यग्दर्शन गुण का आवरक (आवरण करनेवाला) हो, उसे अनंतानुबंधी कषाय कहा जाता है। जो कषाय के उदय में स्वल्प प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण-त्याग के निश्चयपूर्वक

गंध नामकर्म के २ भेद :- (१) सुरभि गंध और (२) दुरभि गंध। (११) रस नामकर्म के ५ भेद :- (१) तिक्त रस, (२) कटुक रस, (३) कषाय रस, (४) आम्ल रस और (५) मधुर रस। (१२) स्पर्श नामकर्म के ८ भेद :- (१) गुरु स्पर्श, (२) लघु स्पर्श, (३) मृदु स्पर्श, (४) कर्कश स्पर्श, (५) शीत स्पर्श, (६) उष्ण स्पर्श (७) स्निग्ध स्पर्श और (८) रुक्ष स्पर्श। (१३) आनुपूर्वी नामकर्म के ४ भेद :- (१) नरकानुपूर्वी, (२) तिर्यचानुपूर्वी, (३) मनुष्यानुपूर्वी और (४) देवानुपूर्वी। (१४) विहायो गति नामकर्म के २ भेद :- (१) शुभ विहायो गति और (२) अशुभ विहायो गति। - (२) प्रत्येक प्रकृति - ८ हैं :- (१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) आतप, (४) उद्योत, (५) अगुरुलघु, (६) तीर्थकर नामकर्म, (७) निर्माण और (८) उपघात नामकर्म। - (३) त्रस दशक :- (१) त्रस, (२) बादर, (३) पर्याप्त, (४) प्रत्येक, (५) स्थिर, (६) शुभ, (७) सौभाग्य, (८) सुस्वर, (९) आदेय और (१०) यश नामकर्म। - (४) स्थावर दशक :- (१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) अपर्याप्त, (४) साधारण, (५) अस्थिर, (६) अशुभ, (७) दौर्भाग्य, (८) दुःस्वर, (९) अनादेय और (१०) अपयश।

→ गोत्र कर्म के २ भेद :- (१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र।

→ अंतराय कर्म के ५ भेद :- (१) दानांतराय, (२) लाभांतराय, (३) भोगांतराय, (४) उपभोगांतराय और (५) वीर्यांतराय।

बंधादि की व्याख्या :- अब बंध आदि की व्याख्या और किस गुण स्थानक में कितनी प्रकृतियों का बंध आदि होता है, यह क्रमशः देखेंगे।

→ बंध किसे कहा जाता है ? :- मिथ्यात्वादि हेतु से दूध और पानी अथवा अग्नि और लोहे की भांति नये कर्मों का आत्मा से सम्बंध जुड़ना बंध कहलाता है।

→ उदय किसे कहा जाता है ? :- अबाधाकाल बीतने के बाद उदय के समय प्राप्त होनेवाले कर्म के शुभ-अशुभ फल का अनुभव करना उदय कहलाता

है।

→ **उदीरणा** किसे कहा जाता है ? :- उदयावलिका के बाहर स्थित कर्म पुद्गलों को अध्यवसायों से उदयावलिका के अंदर उदय में लाकर भोगकर क्षीण करना **उदीरणा** कहलाता है।

→ **सत्ता** :- बंध और संक्रम से प्राप्त किया है अपना स्वरूप जिसने, ऐसे कर्मों की निर्जरा और संक्रम द्वारा किये हुए स्वरूप के नाश का अभाव, (विद्यमानता) उसको सत्ता कहलाती है।

: बंध :

कितनी प्रकृतियों का बंध होता है और किस गुणस्थानक में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है, यह आगे देखेंगे -

→ **बंध में १२० प्रकृतियां होती हैं।** बंध में ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ९, वेदनीय की - २, मोहनीय की - २६, आयुष्य की - ४, नाम की - ६७, गोत्र की - २, अंतराय की - ५, = १२० प्रकृतियां हैं। (बंध में समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, १५ बंधन, ५ संघातन और वर्णादि की १६ प्रकृतियों सहित ३८ प्रकृतियां नहीं होती हैं।)

→ **प्रथम गुणस्थानक में ११७ प्रकृतियों का बंध :-** ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ९, वेदनीय की - २, मोहनीय की - २६, आयुष्य की - ४, नाम की - ६४, गोत्र की - २, अंतराय की - ५ = ११७ प्रकृतियां।

विशेष :- मोहनीय में २६ प्रकृति का बंध हैं। दर्शन मोहनीय की १ मिथ्यात्व मोहनीय का बंध है और मिश्र तथा समकित मोहनीय तो बंध में हैं ही नहीं। चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृति का बंध हैं। १६ कषाय + ९ नोकषाय हैं। नामकर्म की :- पिंड प्रकृति की ३७, ४ गति, ५ जाति, ४ शरीर, २ अंगोपांग, ६ संघयण, ६ संस्थान, वर्णादि - ४, आनुपूर्वी - ४, विहायो गति - २ = ३७ प्रकृतियां प्रथम गुणस्थानक में नामकर्म की बंध में हैं और दो प्रकृतियों का

अबंध है। प्रत्येक प्रकृति :- तीर्थकर नामकर्म का अबंध है, शेष ७ का बंध है। त्रस दशक - १०, स्थावर दशक की - १० कुल नामकर्म की - ६४ प्रकृतियों का बंध प्रथम गुणस्थानक में है। कुल नामकर्म की - आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग सहित दो प्रकृतियां पिंड प्रकृति में से, १ प्रकृति प्रत्येक प्रकृति में से तीर्थकर नामकर्म का अबंध होता है।

→ दूसरे गुणस्थानक में (सास्वादन गुणस्थानक में) १०१ प्रकृति का बंध :- ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ९, वेदनीय की - २, मोहनीय की - २४, आयुष्य की - ३, नाम की - ५१, गोत्र की - २, अंतराय की - ५, कुल १०१ प्रकृतियां हुईं।

विशेष :- नाम की - ५१, पिंड की - २९ : गति - ३, जाति - १, शरीर - ४, अंगोपांग - २, संघयण - ५, संस्थान - ५, वर्णादि - ४, आनुपूर्वी - ३, विहायो गति - २, कुल = २९, प्रत्येक की - ६, त्रस की - १०, स्थावर की - ६।

अबंध - बंध विच्छेद :- १६ प्रकृति का, (१) मोहनीय - २, (१) नपुंसक वेद, (२) मिथ्यात्व, आयुष्य की १ नरकायुष्य, नाम की - १३, (१) नरक गति, पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त ४ जाति, छेवट्टु संघयण, हुंडक संस्थान, नरकानुपूर्वी, आतप नामकर्म, स्थावर की ४ = कुल मोहनीय की - २, आयुष्य की - १, नाम की - १३ = कुल १६ प्रकृतियों का बंध विच्छेद।

(४) तीसरे गुणस्थानक में ७४ प्रकृतियों का बंध :- ७४ प्रकृति : ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ६, वेदनीय की - २, मोहनीय की - १९, आयुष्य की - ०, नाम की - ३६, गोत्र की - १ और अंतराय की - ५, कुल - ७४।

अबंध :- देव और मनुष्यायुष्य का अबंध - २ प्रकृति का और बंध विच्छेद २५ प्रकृति का। २५ प्रकृति का बंध विच्छेद - दर्शनावरणीय की - ३, (१) निद्रानिद्रा, (२) प्रचला-प्रचला और (३) थीणद्धी। आयुष्य की - १ तिर्यचायुष्य,

नाम की - १५ प्रकृति का बंध विच्छेद। (१) तिर्यचगति, (२ से ५) मध्यम ४ संघयण, (६ से ९) मध्यम ४ संस्थान, (१०) तिर्यचानुपूर्वी, (११) अशुभ विहायो गति, (१२) उद्योत नाम, (१३ से १५) दौर्भाग्य, दुःस्वर, अनादेय। मोहनीय की - ५ अनंतानुबंधी - ४ तथा स्त्री वेद, नीच गोत्र।

मोहनीय की कौन-सी १९ प्रकृतियां बंध सकती हैं ? अप्रत्याख्यानीय - ४, प्रत्याख्यानीय - ४, संज्वलन - ४, हास्यादि - ६ और पुरुष वेद = १९।

नाम की कौन-सी ३६ प्रकृतियां बंध सकती हैं ? (१) मनुष्य गति, (२) देव गति, (३) पंचेन्द्रिय जाति, (४) औदारिक शरीर, (५) वैक्रिय शरीर, (६) तैजस शरीर, (७) कर्मण शरीर, (८) औदारिक अंगोपांग, (९) वैक्रिय अंगोपांग, (१०) वज्र ऋषभनाराच संघयण, (११) समचतुरस्र संस्थान, (१२) वर्ण, (१३) गंध, (१४) रस, (१५) स्पर्श, (१६) मनुष्यानुपूर्वी, (१७) देवानुपूर्वी, (१८) शुभ विहायो गति, इस प्रकार पिंड प्रकृति १८, प्रत्येक प्रकृति - ५, (१) पराघात, (२) उच्छ्वास, (३) अगुरुलघु, (४) निर्माण और (५) उपघात। त्रस दशक की - १०, स्थावर दशक की - ३ - (१) अस्थिर, (२) अशुभ और (३) अपयश।

→ चौथे गुणस्थानक में ७७ प्रकृतियों का बंध :- ७७ प्रकृतियां - ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ६, वेदनीय की - २, मोहनीय की - १९, आयुष्य की - २, नाम की - ३७, गोत्र की - १, अंतराय की - ५। इस प्रकार कुल ७७ प्रकृतियों का बंध होता है। तीसरे गुणस्थानक की ७४ प्रकृतियों का बंध यथावत् रहता है, इसके अलावा जो दो आयुष्य देवायुष्य तथा मनुष्यायुष्य का अबंध था उनका तथा प्रथम गुणस्थानक से जिस जिननाम का अबंध था उसका बंध चालू हो जाने से चौथे गुणस्थानक में ७७ प्रकृतियों का बंध होता है।

→ पांचवें गुणस्थानक में ६७ प्रकृतियों का बंध होता है :- ६७ प्रकृतियां - ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ६, वेदनीय की - २, मोहनीय की - १५, आयुष्य की - १, नाम की - ३२, गोत्र की - १, अंतराय की ५ सहित कुल

६७ प्रकृतियों का बंध होता है। **विशेष** - मोहनीय की १५ :- प्रत्याख्यानीय - ४, संज्वलन - ४, हास्यादि - ६, पुरुष वेद - १ = १५। नाम की - ३२, प्रकृतियां :- (१) देव गति, (२) पंचेन्द्रिय जाति, (३) वैक्रिय, (४) तैजस, (५) कार्मण, (६) वैक्रिय अंगोपांग, (७) समचतुरस्र संस्थान, (८ से ११) वर्णादि - ४, (१२) देवानुपूर्वी, (१३) शुभ विहायोगति, यह १३ पिंड प्रकृति। (१४) पराघात, (१५) उच्छ्वास, (१६) अगुरुलघु, (१७) निर्माण, (१८) उपघात और (१९) तीर्थकर नामकर्म यह प्रत्येक की - ६। त्रस दशक की १० = २९, स्थावर दशक की ३। (३०) अस्थिर, (३१) अशुभ और (३२) अपयश।

चौथे गुण स्थानक में कुल ७७ प्रकृतियों का बंध था। इनमें से (४) मोहनीय की (१) आयुष्य की और (५) नामकर्म की प्रकृति का इस गुणस्थानक में बंध विच्छेद हुआ। वह इस प्रकार है। (४) अप्रत्याख्यानीय कषाय, (५) मनुष्यायुष्य, (६) मनुष्य गति, (७) वज्र ऋषभनाराच संघयण, (८) औदारिक शरीर, (९) औदारिक अंगोपांग तथा (१०) मनुष्यानुपूर्वी, इन १० प्रकृतियों का बंध विच्छेद हुआ।

→ छठवें प्रमत्त गुणस्थानक में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है :- छठवें प्रमत्त गुण स्थानक में ६३ प्रकृतियों का बंध होता है। ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ६, वेदनीय की - २, मोहनीय की - ११, आयुष्य की - १, नाम की - ३२, गोत्र की - १, अंतराय की - ५ = ६३। **विशेष** : मोहनीय कर्म के अतिरिक्त सभी कर्मों की प्रकृति देशविरति की तरह समझनी चाहिये। मात्र मोहनीय कर्म में प्रत्याख्यानीय ४ कषाय घट जाने से १५ के बजाय ११ प्रकृति होती हैं।

→ सातवें गुण स्थानक में अट्ठावन या उनसठ प्रकृतियों का बंध :- ज्ञानावरणीय - ५, दर्शनावरणीय - ६, वेदनीय - १, मोहनीय - ९, आयुष्य - १, नाम - ३१, गोत्र - १, अंतराय - ५ = ५९। यदि छठवें गुणस्थानक में देवायुष्य

का बंध प्रारंभ करके छठवें गुणस्थानक में ही समाप्त कर लिया हो तो सातवें गुण स्थानक में ५८ प्रकृति का बंध होता है। क्योंकि आयुष्य कर्म की सभी प्रकृतियों का बंध विच्छेद हो जाता है।

इस गुणस्थानक में ६ अथवा ७ प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है। (१) शोक, (२) अरति, यह दो मोहनीय, नामकर्म की ३ (१) अस्थिर, (२) अशुभ और (३) अपयश तथा १ वेदनीय कर्म (१) अशातावेदनीय, सहित ६ प्रकृतियों और कदाचित् देवायु का बंध करे तथा यहां पूर्ण करे तो (१) देवायु सहित कुल ७ प्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है।

विशेषतः यहां नामकर्म की २ प्रकृतियां - आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग, इस प्रकार २ प्रकृतियों का प्रथम गुणस्थानक में अबंध था उन दो प्रकृतियों का इस गुणस्थानक में बंध हो सकता है, इसलिये छठवें गुणस्थानक में नाम की ३२ प्रकृतियां थी उनमें से ३ प्रकृतियों का बंध विच्छेद हुआ और २ प्रकृतियां बंध में आईं, इसलिये नाम की ३१ प्रकृतियों का इस गुण स्थानक में बंध हो सकता है।

→ आठवें गुण स्थानक में ५८, ५६ और २६ प्रकृतियों का बंध होता है:- विशेषतः यहां आठवें गुणस्थानक के ७ हिस्से पड़ते हैं। इनमें से प्रथम भाग में तो सातवें गुणस्थानक की भांति ५८ प्रकृतियों का बंध होता है। २ से ६ भाग तक निद्राद्विक अर्थात् निद्रा, प्रचला का (अंत) बंध विच्छेद होने से ५६ प्रकृतियों का बंध होता है और सातवें भाग में ३० प्रकृतियों का बंध विच्छेद होने से २६ प्रकृतियों का बंध होता है।

विशेषतः आठवें गुणस्थानक में प्रथम भाग में सातवें गुणस्थानक की भांति, २ से ६ भाग तक दर्शनावरणीय कर्म की २ प्रकृतियां जाएंगी, इसलिये दर्शनावरणीय की ४ प्रकृतियां और सातवें भाग में नामकर्म की ३० प्रकृतियां, एक यश नामकर्म को छोड़कर अन्य का बंध विच्छेद हो गया, इसलिये अब २६ प्रकृतियों

का बंध होता है। इनमें ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ४, वेदनीय की - १, मोहनीय की - १, आयु की - ०, नाम की १, गोत्र की - १, अंतराय की - ५ सहित कुल २६ प्रकृतियों का बंध होता है।

→ नौवें गुण स्थानक में २२, २१, २०, १९ व १८ प्रकृतियों का बंध होता है :- विशेषतः नौवें गुण स्थानक के ५ भाग पड़ते हैं। इनमें से आठवें गुण स्थानक के अंत में मोहनीय की ४ प्रकृतियां (१) हास्य, (२) रति, (३) जुगुप्सा और (४) भय, इनका बंध विच्छेद होने से नौवें गुण स्थानक के प्रथम भाग में २२ प्रकृतियों का बंध, पुरुष वेद का बंध विच्छेद होने से दूसरे भाग में २१ प्रकृतियों का बंध, संज्वलन क्रोध का अंत होने से तीसरे भाग में २० प्रकृतियों का बंध, संज्वलन मान का अंत होने से चतुर्थ भाग में १९ प्रकृतियों का बंध, संज्वलन माया का अंत होने से पांचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बंध होता है। इसलिये इस गुणस्थानक के पांचवें भाग में ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ४, वेदनीय की - १, मोहनीय की - १, आयुष्य की - ०, नाम की - १, गोत्र की - १ तथा अंतराय की - ५ सहित कुल = १८ प्रकृतियों का बंध होता है।

→ सूक्ष्म संपराय (१०वें) गुणस्थानक में १७ प्रकृतियों का बंध :- नौवें गुणस्थानक में १८ प्रकृतियों का बंध होता था। इनमें से संज्वलन लोभ का अंत होने से मोहनीय की सभी प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थानक में १७ प्रकृतियों का बंध रहता है। ज्ञान - ५, दर्शना - ४, वेदनीय - १, मोहनीय - ०, आयु - ०, नाम - १, गोत्र - १, अंतराय - ५ सहित कुल = १७।

→ ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानक में १ प्रकृति का बंध :- वेदनीय की - १, शाता वेदनीय को छोड़कर ज्ञान - ५, दर्शना - ४, नाम - १, गोत्र - १ और अंतराय - ५ सहित १६ प्रकृतियों का दसवें गुणस्थानक के अंत में विच्छेद हो जाने से ११, १२, १३वें गुणस्थानक में १ प्रकृति का ही बंध होता है।

→ चौदहवें गुण स्थानक में बंध का अंत हो जाता है। यहां पहुंचकर जीवात्मा अबंधक हो जाता है।

उदय :

उदय में ८ मूल कर्मों की १२२ उत्तर प्रकृतियां होती हैं। ज्ञानावरणीय की - ५, दर्शनावरणीय की - ९, वेदनीय की - २, मोहनीय में दर्शन मोहनीय की - ३, चारित्र मोहनीय की - १६ कषाय + ९ नोकषाय सहित चारित्र मोहनीय की २५, मोहनीय की कुल २८ प्रकृतियां, आयुष्य की - ४, नाम की - ६७, गोत्र की - २ और अंतराय की ५ सहित कुल १२२ प्रकृतियां उदय में होती हैं।

→ प्रथम गुणस्थानक में ११७ प्रकृतियों का उदय होता है :- समकित मो., मिश्र मो. सहित मोहनीय की २ तथा आहारकद्विक और जिन नाम के सहित नामकर्म की ३ कुल ५ प्रकृतियों का अनुदय होने से मिथ्यात्वगुण स्थानक में ११७ प्रकृतियों का उदय होता है। ज्ञानावरणीय - ५, दर्शनावरणीय - ९, वेदनीय - २, मोहनीय - २६, आयुष्य - ४, नामकर्म - ६४, गोत्र - २ और अंतराय - ५ सहित कुल ११७ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ दूसरे गुण स्थानक में १११ प्रकृतियों का उदय होता है :- सास्वादन गुण स्थानक में ५ प्रकृति = सूक्ष्मत्रिक, आतप सहित नामकर्म की कुल ४ तथा (५) मिथ्यात्व मोहनीय का उदय विच्छेद होता है और (१) नरकानुपूर्वी का अनुदय होने से १११ प्रकृतियों का उदय होता है। ज्ञान - ५, दर्शना. - ९, वेदनीय - २, मोहनीय - २५, आयु. - ४, नाम - ५९ (= पिंड की - ३६, प्रत्येक की - ६, (आतप-जिननाम के अतिरिक्त) त्रस की - १०, स्थावर की - ७, (सूक्ष्मत्रिक छोड़कर) गोत्र की - २, अंतराय की - ५ सहित कुल = १११ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ तीसरे गुणस्थानक में १०० प्रकृतियों का उदय होता है :- मिश्र गुण स्थानक में अनंतानुबंधी ४ मोहनीय की, १ स्थावर, पंचेन्द्रिय के अतिरिक्त ४ जातियों सहित नाम की ४, कुल ९ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होता है। ३ आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी के अतिरिक्त) का अनुदय होने से और मिश्र मोहनीय का उदय होने से १०० प्रकृतियों का उदय होता है। ज्ञान - ५, दर्शना. - ९, वेद. -

२, मो. - २२, आ. - ४, नाम - ५१ (पिंड की २९, प्रत्येक की ६, त्रस की - १०, स्थावर की ६, स्थावर चतुष्क छोड़कर) गोत्र की - २, अंतराय की - ५ सहित कुल १०० प्रकृतियों का उदय होता है।

→ चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक में १०४ प्रकृतियों का उदय होता है :- विशेषतः इस गुण स्थानक में १ मिश्र मो. का उदय विच्छेद और ४ आनुपूर्वी समकित मो. सहित ५ का उदय होने से १०४ प्रकृतियों का उदय होता है। इस गुणस्थानक में मो. की १ गई और १ का उदय हुआ और नाम की आनुपूर्वी ४ प्रकृतियों का उदय हुआ। ज्ञान - ५, दर्शना. - ९, वेद. - २, मो. - २२, आ. - ४, नाम - ५५ (पिंड की ३३, प्रत्येक की ६, त्रस की - १०, स्थावर की - ६), गोत्र - २, अंतराय - ५ सहित कुल १०४ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ देशविरति गुणस्थानक में ८७ प्रकृतियों का उदय होता है :- इस गुणस्थानक में अप्रत्याख्यानीय ४ कषाय का उदय विच्छेद, नरकायु, देवायु - २, आयुष्य का उदय विच्छेद, नामकर्म में ११ प्रकृति (पिंड की ८ तथा स्थावर की - ३) सहित कुल १७ प्रकृतियों का उदय विच्छेद हो जाने से ८७ प्रकृतियों का उदय होता है - वे इस प्रकार हैं - ज्ञान - ५, दर्शना. - ९, वेद. - २, मो. - १८, आ. - २, नाम - ४४ (पिंड की २५, प्रत्येक की - ६, त्रस की - १०, स्थावर की - ३) गोत्र की - २, अंतराय की - ५ सहित कुल ८७।

→ प्रमत्त गुणस्थानक में ८१ प्रकृतियों का उदय होता है :- उदय विच्छेद - मोहनीय की - ४ (प्रत्याख्यानीय ४ कषाय) आयु - १ (तिर्यचायुष) नाम की - २ (तिर्यच गति, उद्योत), गोत्र की - १ (नीच गोत्र), इस प्रकार ८ प्रकृति का उदय विच्छेद और (आहारकद्विक) नामकर्म की २ प्रकृतियों का उदय होने से ८१ प्रकृति होती हैं। ज्ञान. - ५, दर्शना. - ९, वेद. - २, मो. - १४, आ. - १, नाम - ४४ (पिंड की - २६, प्रत्येक की - ५, त्रस की - १०, स्थावर की - ३), गोत्र की - १, अंतराय की - ५ सहित कुल ८१।

→ सातवें गुणस्थानक में ७६ प्रकृतियों का उदय होता है :- दर्शनावरणीय

कर्म की - ३ (थीणद्धित्रिक = निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-थीणद्धि), नामकर्म की (आहारकद्विक) - २ प्रकृति सहित ५ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से ७६ प्रकृति उदय में होती हैं। ज्ञान. - ५, दर्शना. - ६, वेद. - २, मो. - १४, आयुष्य - १, नामकर्म की - ४२ (पिंड की - २४, प्रत्येक की - ५, त्रस की - १०, स्थावर की - ३), गोत्र की - १, अंतराय की - ५ सहित कुल ७६ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ आठवें गुणस्थानक में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है :- इस गुणस्थानक में मोहनीय की १ (समकित मो.) तथा ३ नामकर्म की (अर्धनाराच, किलिका और छेवट्टु) ३ संघयण सहित कुल ४ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से ७२ प्रकृतियों का उदय होता है। ज्ञान. - ५, दर्शना. - ६, वेद. - २, मो. - १३, आ. - १, नाम - ३९ (पिंड की - २१, प्रत्येक की - ५, त्रस की - १०, स्थावर की - ३), गोत्र की - १, अंतराय की - ५ सहित कुल ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ नौवें गुणस्थानक में ६६ प्रकृतियों का उदय होता है :- इस गुणस्थानक में मोहनीय की ६ प्रकृति (हास्यादिषट्क) का उदय विच्छेद होता है।
ज्ञान. - ५, दर्शना. - ६, वेद. - २, मो. - ७, आ. - १, नाम - ३९ (पूर्ववत्),
गो. - १, अंत. - ५ सहित कुल ६६ प्रकृतियों का उदय होता है।

→ **दसवें गुणस्थानक में ६० प्रकृतियों का उदय होता है :-** इस गुणस्थानक में भी उपरोक्त गुणस्थानक की भांति मोहनीय की ६ प्रकृति (३ वेद, संज्वलन क्रोध-मान-माया) का उदय विच्छेद होने से ६० प्रकृतियों का उदय होता है। जो इस प्रकार हैं - ज्ञान. - ५, दर्शना. - ६, वेद. - २, मो. - १, आ. - १, नाम - ३९, गो - १, अंत. - ५ सहित कुल ६० प्रकृतियों का उदय होता है।

→ ग्यारहवें गुणस्थानक में ५९ प्रकृतियों का उदय होता है :- इस गुणस्थानक में मोहनीय की १ प्रकृति का उदय विच्छेद होता है। शेष दसवें गुणस्थानक की तरह उदय में रहती हैं।

→ १२वें गुणस्थानक के द्विचरम के समय ५७ और चरम समय में ५५ प्रकृतियां उदय में होती हैं :- इस गुण स्थानक में (ऋषभनाराच और नाराच संघयण) नामकर्म की २ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से ५७ प्रकृतियों का उदय द्विचरम समय में होता है और निद्रा तथा प्रचला सहित दर्शनावरणीय की २ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से चरम समय में ५५ प्रकृतियों का उदय होता है। जो इस प्रकार है - ज्ञान. - ५, दर्शना. - ४, वेद. - २, मो. - ०, आ. - १, नाम - ३७, गो - १, अंत. - ५ सहित कुल ५५ प्रकृतियों का उदय चरम समय में होता है।

→ १३वें गुणस्थानक में ४२ प्रकृतियों का उदय होता है :- ज्ञान. - ५, दर्शना. - ४ और अंतराय की ५ सहित १४ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होता है और नामकर्म की १ प्रकृति का (तीर्थकर नाम का) उदय होने से ४२ प्रकृतियों का उदय होता है। जो इस प्रकार हैं - ज्ञान - ०, दर्शना. - ०, वेद. - २, मो. - ०, आ. - १, नाम - ३८, गो - १, अंत. - ० सहित कुल ४२ प्रकृतियां उदय में होती हैं।

→ १४वें गुणस्थानक में १२ प्रकृतियों का उदय होता है :- इस गुणस्थानक में नाम की - २९ प्रकृतियों का तथा शाता-अशाता उनमें से १ वेदनीय प्रकृति का उदय विच्छेद हो जाता है। नाम की २९ प्रकृति - औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, विहायोगतिद्विक, प्रत्येक त्रिक, ६ संस्थान, अगुरुलघु चतुष्क, वर्णादि चतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, पहला संघयण, दुःस्वर, सुस्वर सहित कुल २९, ज्ञान. - ०, दर्शना. - ०, वेद. - १, मो. - ०, आ. - १, नाम - ९, गोत्र - १, अंतराय की - ० अयोगी गुणस्थानक के चरम समय में सभी (१२) प्रकृतियों का उदय विच्छेद हो जाता है।

उदीरणा :

६ गुणस्थानक तक उदय की तरह ही उदीरणा होती है। ७वें गुणस्थानक में ७६ प्रकृतियों का उदय होता है। वहां वेदनीयद्विक और मनुष्यायु सहित ३

प्रकृतियों का उदीरणा विच्छेद अधिक होता है। इसलिये ७वें गुणस्थानक में ७३ प्रकृति की उदीरणा, ८वें गुणस्थानक में ७२ का उदय और ६९ की उदीरणा, ९वें गुण स्थानक में ६६ का उदय और ६३ की उदीरणा, १०वें गुण स्थानक में ६० का उदय और ५७ प्रकृति की उदीरणा, ११वें गुणस्थानक में ५९ प्रकृति उदय में और ५६ प्रकृति की उदीरणा होती है। १२वें गुणस्थानक में ५७ का उदय और ५४ की उदीरणा, १३वें गुण स्थानक में ४२ प्रकृति उदय में और ३९ प्रकृति की उदीरणा तथा १४वें गुण स्थानक में कोई उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता :

सत्ता में ८ मूल कर्मों की १४८ प्रकृतियां होती हैं। ज्ञान. - ५, दर्शना. - ९, वेद. - २, मो. - २८, आ. - ४, नाम - ९३ (पिंड की - ६५, गति - ४, जाति - ५, शरीर - ५, उपांग - ३, बंधन - ५, संघातन - ५, संघयण - ६, संस्थान - ६, वर्णादि - (५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श) २०, आनु. - ४, विहायो गति - २ सहित कुल = ६५, प्रत्येक की - ८, त्रस की - १०, स्थावर की - १०) गोत्र की - २, अंतराय की - ५, कुल १४८। **संभव सत्ता** - दूसरे-तीसरे गुणस्थानक को छोड़कर १ से ११ गुणस्थानक तक योग्यता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता संभव है। **सद्भाव सत्ता** - (१) अनंतानुबंधी की उपशमना करके उपशम श्रेणी प्रारम्भ करे तो ८ से ११ गुणस्थानक तक नरकायु और तिर्यचायु के अतिरिक्त १४६ प्रकृति की सत्ता होती है। (२) उपशम समकिति उपशम श्रेणी प्रारंभ करे तो अनं. ४ की विसंयोजना तथा नरकायु और तिर्यचायु सहित ६ प्रकृति के अतिरिक्त १४२ प्रकृति की ८ से ११ गुण स्थानक तक सत्ता होती है।

(३) **क्षायिक समकिति उपशम श्रेणी** प्रारम्भ करे तो ८ से ११ गुण स्थानक में दर्शन सप्तक (अनं.-४ और दर्शनत्रिक) का क्षय और नरकायु व तिर्यचायु के अतिरिक्त १३९ प्रकृति की सत्ता होती है।

(४) **दर्शन सप्तक का क्षय करने से पूर्व क्षपक पर आधारित ४ से ७**

गुण स्थानक तक नरकायु, तिर्यचायु और देवायु के अतिरिक्त १४५ की सत्ता होती है।

(५) क्षपक और दर्शन सप्तक का क्षय करने के बाद ४ से ९वें गुण स्थानक के प्रथम भाग तक दर्शन सप्तक तथा नरकायु, तिर्यचायु, देवायु के बिना १३८ की सत्ता होती है।

- नौवें गुणस्थानक में अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में १२२ प्रकृति की सत्ता होती है। इस गुण स्थानक में १३ नाम की और ३ दर्शनावरणीय की सहित १६ प्रकृति का सत्ता विच्छेद होता है। नाम की १३ (नरक गति, नरकानुपूर्वी, तिर्यच गति, तिर्यचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय-द्विन्द्रिय-त्रिन्द्रिय-चउरिन्द्रिय जाति इस प्रकार पिंड की ८, प्रत्येक की आतप और उद्योत सहित २ और स्थावर की - ३, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण = १३), थीणद्धीत्रिक (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, थीणद्धी)। इसलिये १६ का विच्छेद होने से १२२ प्रकृति की सत्ता होती है।

- अनिवृत्तिकरण के तृतीय भाग में अप्रत्याख्यानीय - ४ और प्रत्याख्यानीय - ४ कषाय का सत्ता विच्छेद होने से ११४ प्रकृति की सत्ता होती है। जो इस प्रकार है - ज्ञान. - ५, दर्शना. - ६, वेद. - २, मो. - १३, आ. - १, नाम - ८० (पिंड की - ५७, प्रत्येक की - ६, त्रस की - १०, स्थावर की - ७), गोत्र की - २, अंतराय की - ५ सहित = कुल ११४।

- अनिवृत्तिकरण के चौथे भाग में नपुंसक वेद का सत्ता विच्छेद होने से ११३ प्रकृति की सत्ता होती है। अनिवृत्तिकरण के पांचवें भाग में स्त्री वेद का सत्ता विच्छेद होने से ११२ प्रकृति की सत्ता होती है। अनिवृत्तिकरण के छठवें भाग में हास्यादिष्टक का सत्ता विच्छेद होने से १०६ प्रकृति की सत्ता होती है। अनिवृत्तिकरण के सातवें भाग में पुरुष वेद का सत्ता विच्छेद होने से १०५ प्रकृति की सत्ता होती है। अनिवृत्तिकरण के आठवें भाग में संज्वलन क्रोध का सत्ता विच्छेद होने से १०४ प्रकृति की सत्ता होती है। अनिवृत्तिकरण के नौवें

भाग में संज्वलन मान का सत्ता विच्छेद होने से १०३ प्रकृति की सत्ता होती है। १०वें गुण स्थानक में संज्वलन माया का सत्ता विच्छेद होने से १०२ प्रकृति की सत्ता हांती है। १२वें गुण स्थानक के द्विचरम समय में संज्वलन लाभ का (सत्ता विच्छेद) अंत हो जाने से १०१ प्रकृति की सत्ता होती है।

- १२वें गुण स्थानक के चरम समय में दो निद्रा (निद्रा, प्रचला) का सत्ता विच्छेद होने से ९९ प्रकृति की सत्ता होती है।

- १३वें गुणस्थानक में ८५ प्रकृति की सत्ता :- ५ ज्ञानावरणीय, ४ दर्शनावरणीय और ५ अंतराय सहित १४ प्रकृति सत्ता विच्छेद होने से ८५ प्रकृति रहती हैं। जो इस प्रकार हैं - ज्ञान. - ०, दर्शना. - ०, वेद. - २, मो. - ०, आ. - १, नाम - ८० (पिंड की - ५७, प्रत्येक की - ६, त्रस की - १०, स्थावर की - ७), गोत्र की - २, अंतराय की - ०।

- १४वें गुणस्थानक के द्विचरम समय में ७२ प्रकृतियों का विच्छेद होता है। देवद्विक, विहायोगतिद्विक, गन्धद्विक, ८ स्पर्श, वर्ण - ५, रस - ५, शरीर - ५, बंधन - ५, संघातन - ५, निर्माण, ६ संघयण, ६ संस्थान, अस्थिर षट्क, अगुरुलघु चतुष्क, अपर्याप्त, प्रत्येक त्रिक, उपांग त्रिक, सुस्वर, ७० प्रकृति नाम की, १ वेदनीय (शाता या अशाता) और १ नीच गोत्र सहित ७२ प्रकृतियों का सत्ता विच्छेद होता है।

- १४वें गुणस्थानक के चरम समय में तेरह प्रकृति होती हैं। मनुष्य त्रिक, त्रस, बादर, पर्याप्त, यश, आदेय, सौभाग्य, जिननाम, उच्च गोत्र, पंचेन्द्रिय जाति, शाता-अशाता में से जो एक बाकी थी, वह। इन १३ प्रकृतियों का अयोगी गुणस्थानक के चरमसमय में सत्ता विच्छेद होता है।

परिशिष्ट - २

(२) बीजादि क्रम से विकासक्रम

चरमावर्तकाल में बीजादि के क्रम से शुद्धधर्म की प्राप्ति होती है और शुद्धधर्म से संसार का नाश होने से जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है। इसी बात को दर्शाते हुए बीजादि विंशिका में कहा गया है कि,

बीजाइकमेण पुणो जायइ एसुत्थ भव्वसत्ताणं ।

नियमा ण अन्नहा वि हु इट्ठफलो कप्परुक्ख व्व ॥१॥

- चरमावर्तकाल में भव्य जीवात्माओं को कल्पवृक्ष जैसे इष्ट फलवाला शुद्ध धर्म नियमा प्राप्त होता है, परन्तु बीजादि के क्रम को छोड़कर नहीं अर्थात् चरमावर्त काल में भव्यात्माओं को बीजादि के क्रम से शुद्धधर्म की प्राप्ति होती है। यह क्रम इस प्रकार है -

→ बीजादि क्रम :-

(१) सर्वप्रथम चरमावर्त में जीवात्मा को धर्म करनेवाले जीवात्माओं को देखकर उनके प्रति सन्मान-बहुमान जागृत होता है और उसके मुख से सन्मान भावपूर्वक शुद्ध प्रशंसा के उद्गार निकलते हैं। शुद्ध प्रशंसापूर्वक इस प्रकार का धर्म करने की इच्छा होती है, वह धर्म का बीज समझना चाहिये। संक्षेप में इस प्रकार के धर्म की इच्छा जागृत होना धर्म का बीज है। यह **विकास का प्रथम पायदान है**। (२) इसके बाद धर्म करने की इच्छा बार-बार जागृत होना धर्म का अंकुर है। यह **विकास का द्वितीय पायदान है**। (३) इसके बाद (धर्म की इच्छा को सफल बनाने के लिये) अनेक प्रकार के धर्म के उपायों की अन्वेषणा (शोध) करना धर्म का काष्ठ (तना) है। यह **तृतीय पायदान है**। (४) इसके बाद धर्मप्राप्ति के उपायों में अनेक प्रकार की प्रवृत्ति (अर्थात् धर्म के उपाय

जानने के लिये गुरु भगवंत का संयोग करता है और उनके उपदेश श्रवण से धर्म के उपाय जानने का प्रयत्न करता है, यह सब धर्म प्राप्ति के उपाय सम्बंधी प्रवृत्ति करता है, जो पत्तियों समान है। **यह चौथा पायदान है।** (५) इसके बाद गुरुसंयोगादि रूप धर्म प्राप्ति के उपायों की प्राप्ति पुष्प है। **यह पांचवां पायदान है।** (६) सद्गुरु की प्राप्ति के बाद सुदेशनादि द्वारा जिस भावधर्म की प्राप्ति हो, उसे फल जानना चाहिये। **यह छठवां पायदान है -** इस प्रकार चरमावर्त में स्थित जीवात्मा क्रमशः शुद्धधर्म की प्राप्ति करता है।

विंशति विंशिका में कहा गया है कि, शुद्धधर्म के रागरूप बीज की प्राप्ति भी जीवात्मा की सुंदर अवस्था है, क्योंकि, यह शुद्धधर्म का राग ही क्रमशः बढ़कर मोक्ष में विश्रान्त होता है और चरमावर्त काल में धर्म के बीजादि की प्राप्ति होने से चरमावर्त काल **धर्म का यौवनकाल** है तथा इससे पूर्व अचरमावर्त काल में बीजादि की प्राप्ति नहीं होने से वह **भव बाल्यकाल** कहलाता है। यद्यपि संसार में भव का बाल्यकाल पूरा होने में काल की प्रधानता है। काल परिपाक हो तो जीवात्मा चरमावर्त में आता है और भव बाल्यकाल समाप्त होता है। धर्म का यौवन काल प्रारम्भ हो और धर्म के यौवन काल में जैसे रोग के उदयवाले जीवात्मा के लिये व्याधि कम हो तो ही चिकित्सा को योग्य काल कहा जाता है और उस काल में चिकित्सा की जाए तो रोग नष्ट हो जाता है, वैसे ही धर्मयौवनकाल में अनेक प्रकार के धर्मयोगों का सेवन करे तो भवव्याधि नष्ट होती है।

भव बाल्यकाल में (अचरमावर्त में) जिस प्रकार बालक को मिट्टी के घर आदि में खेलने की क्रिया श्रेष्ठ लगती है, वैसे ही अचरमावर्ती जीवात्मा को भव भ्रमण की शक्ति के योग से पाप क्रियाएं श्रेष्ठ लगती हैं। जैसे युवा को भोग के राग से मिट्टी में खेलने की क्रिया तुच्छ लगती है, वैसे ही धर्मयौवन काल में (चरमावर्त में) धार्मिक युवा जीवात्मा को भी धर्मराग से पाप क्रियाएं तुच्छ लगती हैं। **इस चरमावर्त में जीवात्मा को पूर्व में दर्शाए अनुसार बीजादि के क्रम से शुद्धधर्म की प्राप्ति होती है।**

● गुण स्थानकों का काल :-

● प्रथम गुणसम्पन्न गुणस्थानक का काल सादि सांत होता है। ● दूसरे गुणस्थानक का काल जघन्य से १ समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका है। ● मिश्र गुणस्थानक का काल जघन्य से और उत्कृष्ट से एक अंतर्मुहूर्त है। ● चौथे गुणस्थानक का काल जघन्य से एक अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से मनुष्य भव अधिक (साधिक) ३३ सागरोपम है। ● पांचवें गुणस्थानक का काल जघन्य से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन (८ वर्ष कम) पूर्वक्रोड वर्ष है। ● छठवें गुणस्थानक का काल जघन्य और उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त व मतांतर से देशोनपूर्वक्रोड वर्ष है। ● सातवें गुणस्थानक का काल जघन्य और उत्कृष्ट से एक अंतर्मुहूर्त है। ● आठ से ग्यारहवें गुणस्थानक का काल जघन्य से १ समय और उत्कृष्ट से १ अंतर्मुहूर्त है। ● १२वें गुणस्थानक का काल जघन्य और उत्कृष्ट से एक अंतर्मुहूर्त का है। ● १३वें गुणस्थानक का काल जघन्य से एक अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वक्रोड वर्ष है। ● १४वें गुणस्थानक का काल पांच ह्रस्वाक्षर जितना होता है।

● गुण स्थानक का विशेषार्थ :-

(१) प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ, इन तीन गुण स्थानकों में से कोई भी एक गुण स्थानक प्राप्त करके जीवात्मा अन्य भव में जा सकता है। (२) १-२-४-५-६-७-८-९-१०-११ और १४ इन ग्यारह गुण स्थानकों में जीवात्मा मृत्यु प्राप्त कर सकता है। (३) ३-१२-१३ इन तीन गुण स्थानक में जीवात्मा मृत्यु प्राप्त नहीं करता है। (४) १-४-५-६-७-१३ इन गुण स्थानकों में जीवात्मा सदा रहता है। (५) २-३-८-९-१०-११-१२-१४ इन गुण स्थानकों में कभी कोई जीवात्मा नहीं भी हो सकता है और किसी समय हो तो १ जीवात्मा अथवा अनेक जीवात्मा भी हो सकते हैं। (६) उपशम श्रेणी चढ़नेवाला जीवात्मा ८ से ११ गुण स्थानक में उपशम श्रेणी प्राप्त करके ११ से क्रमशः नीचे उतरते हुए ११ से ८ गुण स्थानक में मृत्यु प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट - ३

शुद्धअनुष्ठान के तीन प्रकार

योगबिन्दु ग्रंथ में विषय, स्वरूप और अनुबन्ध के आश्रय से तीन प्रकार के शुद्ध अनुष्ठान बताये गये हैं -

“त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं सच्छास्त्रपरतन्त्रता। सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च, तथात्रैव प्रचक्षते ॥२१०॥ विषयात्मानुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् । अनुष्ठानं प्रधानत्वं, ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥२११॥ आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं, क्रियते पतनद्यापि । तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥२१२॥ द्वितीयं तु यमाद्येव, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् । न यथाशास्त्रमेवेह, सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥२१३॥ तृतीयमप्यदः किन्तु, तत्त्वसंवेदनानुगम् । प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र, दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥२१४॥”
(योगबिन्दुः)

- शास्त्र संज्ञावाले (अर्थात् शास्त्राधीन) सम्यग्दृष्टि जीवात्मा में तीन प्रकार से शुद्ध अनुष्ठान होता है और वह अनुष्ठान का सेवन सम्यक् प्रत्ययवृत्ति से करता है अर्थात् आत्मशुद्धि (प्रत्यय), गुरु शुद्धि (प्रत्यय) और लिंगशुद्धि (प्रत्यय), इस तरह तीन प्रकार से करता है। स्वयं को सदानुष्ठान की अभिलाषा होना आत्मशुद्धि है। गुरु द्वारा सदानुष्ठान करने की अनुमति होना गुरुशुद्धि है और सदानुष्ठान सेवन के शुभ संकेत प्राप्त हुए हों वह लिंगशुद्धि है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि आत्मा अनुष्ठान करे तब स्वकृतिसाध्यत्वादि तीन वस्तुओं का निर्णय भी आत्मप्रत्यय, गुरुप्रत्यय और लिंगप्रत्यय से करता है। (१. अधिकृत अनुष्ठान मेरी कृति (प्रयत्न) से साध्य है या नहीं ? २. वह अनुष्ठान स्वकृति से साध्य होने के बावजूद मेरे इष्ट का साधन है या नहीं ? और ३. अनुष्ठान स्वकृति से साध्य और इष्ट का साधन भी है, परन्तु वह बलवान अनिष्ट का

अनुबंधी है या अननुबंधी है ? अर्थात् भविष्य में बलवान अनिष्ट की परम्परा चलाएगा या इष्ट की परम्परा चलाएगा ?) इन तीन प्रत्यय शुद्धि से सम्यग्दृष्टि जीवात्मा को तीन प्रकार से (विषय, स्वरूप और अनुबंध से) शुद्ध अनुष्ठान प्राप्त होता है।

शुद्ध अनुष्ठान के तीन प्रकार हैं। (१) विषय शुद्ध अनुष्ठान, (२) स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान और अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान। अब क्रमशः तीनों अनुष्ठान के स्वरूप, ये अनुष्ठान किसे प्राप्त होते हैं ? और अनुष्ठान के फल के विषय में बात करेंगे।

(१) विषय शुद्ध अनुष्ठान :- जन्म-जरा-मृत्यु आदि से व्याप्त संसार के स्वरूप को जानकर उससे उद्विग्न हुए कुछ जीवात्मा संसार से छूटकर मोक्ष में जाने के लिये भृगुपात (पर्वत से नीचे कूदना), काशी में जाकर करवत रखवाना आदि जो सावद्य अनुष्ठान करते हैं, वह विषय शुद्ध अनुष्ठान कहलाता है और अनुष्ठान का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, परन्तु अनुष्ठान (आचरण) मोक्ष के अनुकूल नहीं। इसलिये यह अनुष्ठान मात्र विषय शुद्ध अनुष्ठान है। अनुष्ठान का विषय मोक्ष है, इसलिये इस विषय की अपेक्षा से शुद्ध है। बाकी स्वरूप से अशुद्ध है।

(२) स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान :- संसार के दुःखरूप स्वरूप को जानकर उससे छूटने और मोक्ष प्राप्त करने के लिये लोक दृष्टि से यम-नियम-आदि का आचरण करे वह स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान कहलाता है। यह अनुष्ठान मोक्ष के उद्देश्य से किया जाता है और स्वरूप से निरवद्य प्रवृत्ति है, इसलिये यह अनुष्ठान विषय और स्वरूप से शुद्ध है।

(३) अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान :- जो जीवात्मा संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर संसार से विरक्त होता है और जल्द से जल्द मोक्ष में पहुंचने की अभिलाषा रखता है। जिनेश्वर परमात्मा के वचनानुसार जीवात्मादि तत्त्वों के सम्यग्ज्ञान से युक्त है तथा जिनके कषाय शांत हो चुके हैं, ऐसे जीवात्मा जिस वीतराग प्ररूपित अनुष्ठान का सेवन करते हैं, उसे अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान कहा

जाता है। संक्षेप में तीव्र वैराग्य, मोक्षाभिलाषा, मार्गानुसारी बुद्धि, जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान और कषाय हानिपूर्वक जिस निरवद्य अनुष्ठान का सेवन किया जाता है, वह अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान कहलाता है।

→ अपुनर्बंधक जीवात्मा में विषय शुद्ध और स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में विषय, स्वरूप और अनुबंध से शुद्ध अनुष्ठान होता है।

→ तीनों अनुष्ठानों का फल :- विषय शुद्ध अनुष्ठान का फल दर्शाते हुए योगबिन्दु ग्रंथ में कहा गया है कि, विषय शुद्ध अनुष्ठान आत्मघातादि के कारण अज्ञान की बहुलतावाला होने से उसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति में बाधक दोषों-कर्मों का नाश नहीं होता है।^A वैसे तो अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति में बाधक दोषों-कर्मों का नाश करने के लिये करना होता है। इस अनुष्ठानकर्ता का उद्देश्य तो यही है, परन्तु अज्ञान की बहुलता के कारण अत्यंत सावद्य उपाय को अंगीकार करता है। इसलिये उसके मोक्ष प्राप्ति में बाधक दोषों का नाश नहीं होता है। इस अनुष्ठान के फल के विषय में अन्य आचार्य भगवंतों का अभिप्राय है कि, विषय शुद्ध अनुष्ठान से उचित (मोक्ष प्राप्ति में बाधक दोषों के विगम के अनुकूल जात्यादि गुणयुक्त उचित) जन्म प्राप्त होता है। उसका उद्देश्य बताते हुए कहा गया है कि, विषय शुद्ध अनुष्ठान में मुक्ति की जो इच्छा होती है, वह मोक्ष की इच्छा भी प्रशंसनीय है कि जो मोह का नाश करती है। यहां स्मरण रखना चाहिये कि, विषय शुद्ध अनुष्ठान में प्रवर्तमान मोक्षेच्छा ही प्रशंसनीय है। परन्तु उसमें की जानेवाली सावद्यक्रिया प्रशंसनीय नहीं है। अपुनर्बंधक अवस्था में स्थित अत्यंत मुग्ध जीवात्माओं में यह अनुष्ठान होता है।

A आद्यात्र दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः। तद्योग्यजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥२१५॥
(योगबिन्दुः)

स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान का फल दर्शाते हुए कहा गया है कि, यह दूसरा अनुष्ठान विवेकहीन होने से (गुरु-लाघव की चिन्ता-विचारणा से रहित होने के कारण) जिन दोषों की हानि होती है, वह सानुबंध नहीं होती है।^A पुनः दोष वापसी कर सकते हैं, ऐसी दोषों की हानि होती है। इस अनुष्ठान के फल के सम्बंध में उदाहरण देते हुए अपुनर्बन्धक बत्तीसी में कहा गया है कि, जैसे लुटेरों से नगर की रक्षा करने के लिये किला बनाया जाता है, परन्तु वह नगर खराब राजा से अधिष्ठित हो तो उस नगर के लोग सुरक्षित नहीं रह सकते हैं। क्योंकि, राजा स्वयं ही उपद्रवी होता है। इसलिये नगर के आसपास बनाया गया किला अनुपयोगी हो जाता है। उसी प्रकार मोक्ष के उद्देश्य से लोक दृष्टि के अनुसार यम-नियम का पालन किया जाता है, तब हिंसादि आरंभों से उन जीवात्माओं की रक्षा होती है, परन्तु अंतर्वृत्ति में मिथ्यात्व खत्म नहीं होने से बुद्धि में विपर्यास प्रवर्तमान होने से अज्ञान दोष से होनेवाले उपघात का निवारण नहीं होता है अर्थात् अज्ञान दोष के कारण अनुष्ठान से जैसा लाभ (आत्महित) होना चाहिये, वैसा नहीं होता है।

तीसरे अनुबंधशुद्ध अनुष्ठान से दोषों की सानुबंध हानि होती है।^B इसलिये उसके द्वारा योगमार्ग में अच्छा विकास होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा शास्त्र वचन का अनुसरण करके, आत्म-गुरु-लिंग प्रत्यय की शुद्धिपूर्वक तथा स्वकृति साध्यत्वादि के ज्ञानपूर्वक और गुरु-लाघव की चिन्तापूर्वक मोक्ष के उद्देश्य से पूर्णतः निरवद्य अनुष्ठान करती है, जिससे उसके दोषों की सानुबंध हानि होती है।

→ **शास्त्र परतंत्रता अनिवार्य :-** योगबिन्दु ग्रंथ में विशेष रूप से कहा गया है कि, अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान को प्राप्त करने के लिये शास्त्र की परतंत्रता विकसित करना अत्यावश्यक है।

A द्वितीयाद्दोषविगमो, न त्वेकान्तानुबन्धनात्। गुरुलाघवचिन्तादि न यत्तत्र नियोगतः ॥२१७॥

B तृतीयाद्दोषविगमः, सानुबन्धो नियोगतः। गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः ॥२१९॥
(योगबिन्दुः)

परिशिष्ट-४
(योगमार्ग के अधिकारी)

योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में चार प्रकार के योगी दर्शाए गये हैं।^A (१) गोत्रयोगी, (२) कुलयोगी, (३) प्रवृत्तचक्रयोगी तथा (४) निष्पन्नयोगी।

(१) गोत्रयोगी : जो योगी के कुल में (जैनकुल में) जन्मे हैं, परन्तु उस कुल के आचारों से उनका कोई लेना-देना नहीं है और उसके आचारों का पालन नहीं करते हैं, वे गोत्रयोगी होते हैं। वे योगमार्ग के अधिकारी नहीं होते हैं।

(२) कुलयोगी : जो योगी के कुल में जन्म लेकर उस कुल के आचारों के प्रति प्रीति रखते हैं और उनका जीवन में अनुसरण करते हैं, वे कुलयोगी कहलाते हैं।

कुलयोगी के छह विशेष लक्षण हैं^B -

(१) वे सभी जगहों पर अद्वेषी होते हैं। क्योंकि, उनका किसी भी स्थल-विषय का आग्रह नहीं होता है, क्योंकि वे कुशलानुबन्धी हैं।

(२) वे गुरु-देव-साधर्मिकों के प्रिय होते हैं। क्योंकि, उनमें धर्म परिणत होता है।

(३) वे दयालु होते हैं। क्योंकि, उनकी आत्मा में क्लिष्ट पापकर्म का अभाव होता है।

(४) वे विनीत होते हैं। क्योंकि, वे कुशलानुबन्धी भव्यात्मा होते हैं।

(५) वे बोधवाले होते हैं। क्योंकि, उनकी ग्रंथि का भेदन हो चुका होता है और

(६) यतेन्द्रिय (इन्द्रियविजेता) होते हैं। क्योंकि, उन्हें (देश अथवा सर्व) चारित्र्य की प्राप्ति हो चुकी होती है। वे योगमार्ग के अधिकारी हैं।

A कुलप्रवृत्तचक्रा ये ते एवास्याधिकारिणः । योगिनो न तु सर्वेऽपि तथाऽसिद्ध्यादिभावतः ॥ २०९ ॥ B सर्वत्राऽद्वेषिणश्चेते गुरुदेवद्विजप्रियाः । दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥ २११ ॥ (यो.दृ.समु.)

(३) **प्रवृत्तचक्रयोगी** : जिन्होंने (इच्छायम-प्रवृत्तियम-स्थैर्ययम-सिद्धियम) इन चार में से दो यम (इच्छायम-प्रवृत्तियम) प्राप्त किये हैं और शेष दो यम के इच्छुक हैं। शुश्रूषादि आठ गुणों से युक्त हैं, वे **प्रवृत्तचक्रयोगी** कहलाते हैं और वे योगमार्ग के अधिकारी हैं।

(४) **निष्पन्नयोगी** : जिन्होंने योगमार्ग की पूर्णता प्राप्त की है, वे **निष्पन्नयोगी** कहलाते हैं। वे स्वयं पूर्ण हैं। योगसाधना करना उनके लिये शेष नहीं रहता है। इसलिये अधिकारी की चर्चा में उनका नाम नहीं आता है।

→ **कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी की भांति आद्य योगावंचकयोग वाले साधक भी योगमार्ग के अधिकारी हैं।**

મુનિશ્રી દ્વારા સંપાદિત-લેખિત-સંકલિત પુસ્તકો

ક્રમ	પુસ્તકનું નામ / પ્રકાશનવર્ષ
૨૪.	ભાવના ભાવનાશિની (૨૦૭૦)
૨૫.	સંઘપટ્ટક (વિ.સં. ૨૦૭૦)
૨૬.	શુદ્ધધર્મ - ૧ (શુદ્ધધર્મ કેમ પામશો ?) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૨૭.	શુદ્ધધર્મ - ૨ (બંધ-અનુબંધ) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૨૮.	શુદ્ધધર્મ - ૩ (લેશ્યાશુદ્ધિ) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૨૯.	સમ્યક્ત્વ શલ્યોદ્ધાર (ગુર્જરાનુવાદ સમેત) (પૂ.આત્મારામજીમ. કૃત) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૩૦.	ધર્મદ્રવ્યની શાસ્ત્રીયવ્યવસ્થા અને અશાસ્ત્રીય વ્યવસ્થાની સામે લાલબત્તી (બૃહદ્સંસ્કરણ) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૩૧.	ધર્મદ્રવ્યની શાસ્ત્રીયવ્યવસ્થા અને અશાસ્ત્રીય વ્યવસ્થાની સામે લાલબત્તી (બૃહદ્સંસ્કરણ) (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૩૨.	પ્રભુવીરકી અંતિમ દેશના: કલિકાલમાં કેમ પાર ઉતરશો? (વિ.સં. ૨૦૭૧)
૩૩.	અધ્યાત્મ કેસે પામશો ? (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૩૪.	સમ્યગ્દર્શન - ૧ : સમ્યગ્દર્શન કેમ પામશો ? (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૩૫.	સમ્યગ્દર્શન - ૨ : સમ્યગ્શ્રદ્ધાને આત્મસાત્ કરો (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૩૬.	સમ્યગ્દર્શન - ૩ : સમ્યગ્દર્શન અંગે વિશેષ બાતો (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૩૭.	સમ્યગ્દર્શન - ૪ : સમ્યગ્દર્શનને સ્થિર કેમ બનાવશો ? (વિ. સં. ૨૦૭૨)
૩૮.	સમ્યગ્દર્શન - ૫ : સમક્તિના સડસઠ બોલ (કથા સહિત) (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૩૯.	જૈનમતવૃક્ષ (ગુર્જરાનુવાદ સમેત) અને પૂ. આત્મારામજી મહારાજાનું પદ્યસાહિત્ય (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૦.	જીવનકર્તવ્યને ઓળખીયે (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૧.	યોગસિદ્ધિના સોપાન (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૨.	ભાવના દ્વારા ભવમુક્તિ (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૩.	અધ્યાત્મ-ધ્યાનયોગ (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૪.	જૈનધર્મનું સ્વરૂપ (ગુર્જરાનુવાદ સમેત) (પૂ. આત્મારામજીમ. કૃત) (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૫.	શ્રી સમ્યગ્જ્ઞાન પ્રચારક સમિતિ: સાહિત્ય સૂચિ-પુસ્તક પરિચય (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૬.	ધર્મને મલિન બનાવનાર દોષોને ઓલખો (વિ.સં. ૨૦૭૨)
૪૭.	જૈનધર્મવિષયક પ્રશ્નોત્તર અને પ્રશ્નોત્તર સંગ્રહ (ગુર્જરાનુવાદ સમેત)
૪૮.	ઈસાઈ મત - સમીક્ષા (ગુર્જરાનુવાદસમેત)
૪૯.	જૈનતત્ત્વાદર્શ, ભાગ - ૧-૨-૩ (ગુર્જરાનુવાદસમેત)
૫૨-૫૩	આત્મા કા વિકાસક્રમ, ભાગ - ૧-૨ (હિન્દી)
૫૪	યોગધર્મનો અધિકારી

नोंध

This image shows a single sheet of white paper with horizontal ruling lines. The lines are evenly spaced and run across the width of the page. There are no margins, text, or other markings on the paper.

